चिन्तन के विविध
आय

लेखक

परम श्रद्धेय, राजस्थान केशरी, अध्यात्म योगी उपाध्याय
श्रीपुष्कर मुनिजी महाराज के सुशिष्य

प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थाल

शास्त्री सर्कल—उदयपुर (राज०)

○ पुस्तक

चिन्तन के विविध आयाम

○ लेखक

देवेन्द्रमुनि शास्त्री

○ विषय

जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति व साहित्य

○ प्रकाशन वर्ष

३१, अक्टूबर १९८२

आश्विन पूर्णिमा, वि० सं० २०३९

○ पृष्ठ संख्या २१६

○ प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज०)

○ मूल्य

पन्द्रह रुपया मात्र

○ मुद्रक

श्रीचन्द सुराना के लिए

'प्रिंटर्स', आगरा

उपाध्याय देवो व

तप और त्याग के
जो जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं;
ज्ञान और दर्शन के
जो पावन संगम हैं
अध्यात्म और चिन्तन के
जो गम्भीर ज्ञाता हैं,

उन्हीं परम श्रद्धेय, राजस्थानकेशरी, अध्यात्मयोगी उपाध्याय **श्री पुष्कर मुनिजी महाराज** के कर-कमलों में,
सादर, सविनय ।

—देवेन्द्रमुनि

प्रकाशकीय प्रकाश

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय साहित्य के क्षेत्र में नित्य नूतन साहित्य प्रदान करता रहा है। साहित्य की हर विधा में उसने शानदार प्रकाशन किये हैं। चाहे शोधग्रन्थ रहे हों, चाहे दार्शनिक विषय रहा हो, चाहे आचार-शास्त्र रहा हो, चाहे चिन्तन-परक साहित्य हो, चाहे प्रवचन साहित्य हो, चाहे कथा साहित्य हो। सभी में उसने अपनी अनूठी कीर्ति अर्जित की है। राजस्थान में ही नहीं, अपितु अखिल भारतीय जैन साहित्य संस्थानों में उसका एक प्रमुख स्थान है। उसके लोकप्रिय प्रकाशन राजस्थानी, गुजराती, मराठी और अंग्रेजी में अनुदित भी हुए हैं। जैन कथाएँ सिरीजमाला में से अनेक भागों का अनुवाद 'श्री पुष्कर प्रसादी कथामाला' के रूप में दो सौ पुस्तकें अभी तक गुजराती में प्रकाशित हो चुकी है और अंग्रेजी में भी कथाओं की पचास पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। 'भगवान् महावीर-एक अनुशीलन' जैसा विराट्काय ग्रन्थ भी गुजराती में प्रकाशित हो चुका है तथा 'जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण' ग्रन्थ भी 'A Source Book In Jain Philosophy' के रूप में शीघ्र प्रकाशित हो रहा है। हमारे कुछ मौलिक प्रकाशनों को उदयपुर और दिल्ली विश्वविद्यालय ने M. A. के सहायक-ग्रन्थों के रूप में मान्यताएँ प्रदान की हैं।

साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़ने का सम्पूर्ण श्रेय परम श्रद्धेय, उपाध्याय, राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी, सद्गुरुवर्य श्री पुष्करमुनि जी म० श्री को है, जिनकी असीम कृपा से ही हम इस क्षेत्र में अपने मुस्तैदी कदम आगे बढ़ा सके हैं। अभी कुछ दिन पूर्व **'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप'** जैसे विशालकाय ग्रन्थ को हमने समर्पित किया। सुप्रसिद्ध दार्शनिक मूर्धन्य मनीषी पं० दलसुख भाई मालवणिया ने इसे 'जैन आचार का विश्व-कोष' कहा है और अन्य विद्वानों ने उसकी मुक्त कण्ठ से सराहना की। 'चिन्तन के विविध आयाम' देवेन्द्रमुनि जी की अभिनव कृति है।

प्रस्तुत कृति में देवेन्द्रमुनि जी ने विभिन्न विषयों पर जो निबन्ध या प्रस्तावनाएँ लिखी हैं उनका संकलन आकलन इसमें किया गया है। 'मोक्ष और मोक्ष-मार्ग' यह निबन्ध पूना विश्वविद्यालय में विद्वत् संगोष्ठी में मुनि श्री ने पढ़ा था। 'ईश्वर : एक चिन्तन' उसी विधा में लिखा हुआ उत्कृष्ट निबन्ध है। 'योग और—

लेश्या' जैसे गम्भीर विषयों पर भी चिन्तन किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विषयों के ग्रन्थो पर महनीय प्रस्तावनाएँ लिखी। उसका संकलन भी इसमें है। अतः 'चिन्तन के विविध आयाम' ग्रन्थ का नाम सार्थक लगता है। ये सारे निबन्ध एक स्थान पर या एक समय में नहीं लिखे गये हैं। इसलिए भाषा में भी विषय के अनुरूप विविधता होना स्वाभाविक है।

शीघ्र एवं सुन्दर मुद्रण में स्नेह सौजन्य मूर्ति श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' जी का हार्दिक सहयोग मिला है। अतः हम उनका हृदय से आभार मानते हैं। ग्रन्थालय के शानदार प्रकाशनों से आकर्षित होकर दानी महानुभाव अपना उदारतापूर्ण सहयोग प्रदान करते रहे हैं, उनके सहकार को भी हम विस्मृत नहीं हो सकते !

परमादरणीया स्वर्गीया प्रतिभामूर्ति विदुषी महासती श्री प्रभावती जी म० को भी इस अवसर पर भुला नहीं सकते, जिन्होंने जीवन भर संघ की अपूर्व सेवा की। तथा अपनी सन्तान देवेन्द्रमुनिजी 'शास्त्री' एवं महासती श्री पुष्पवती जी सन्त व सती रत्न को जिन-शासन की सेवा में समर्पित कर सद्‌गुरु व सद्‌गुरुणी जी के गौरव में चार चाँद लगाये हैं। उनकी स्मृति में सत् साहित्य सदा प्रकाश-स्तम्भ के रूप में जन-जन को आलोक प्रदान करता रहेगा।

मन्त्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
(उदयपुर)

□□

पनी बात : अपनी कलम से

सन् १९७५ का वर्षावास पूना में था। वहाँ प्रसिद्ध विद्वान् डा० एस० एस० बारलिंगे जी काफी सम्पर्क में आये। एक बार उन्होंने मुझसे स्नेहपूर्वक कहा—'मैं जैन दर्शन पर पूना विश्वविद्यालय में संगोष्ठी का आयोजन कर रहा हूँ। उसमें पं० दलसुख मालवणिया, पं० कैलाशचन्द्र जी, पं० दरबारीलाल कोठिया, डा० संगमलाल पाण्डे, डा० टी० जी० कलघटगी आदि भारत के विविध अंचलों से विज्ञगण भाग लेने आयेंगे। आपको भी संगोष्ठी में भाग लेना है। तथा शोध-पत्र भी पढ़ना है।'

मैंने बार्लिंगे जी से पूछा 'मुझे किस विषय पर शोध-पत्र पढ़ना होगा? उत्तर में उन्होंने बताया—आप चाहें तो 'मोक्ष और मोक्ष मार्ग' पर, चाहें तो 'ईश्वर' पर और चाहें तो 'लेश्या' पर शोध-पत्र पढ़ें। मैंने तीनों ही विषयों पर शोध-पत्र तैयार किये। संगोष्ठी का कार्यक्रम बड़ा ही सफल रहा। मैंने समयाभाव से 'मोक्ष और मोक्ष मार्ग' पर शोध-पत्र पढ़ा। जिसे सभी मूर्धन्यमनीषियों ने रुचिपूर्वक सुना और पसन्द किया। ये तीनों विषय ऐसे थे, जिस पर विराट्काय ग्रन्थ तैयार हो सकते थे, पर संगोष्ठी में समय की मर्यादा को लक्ष्य में रखकर मैंने बहुत ही संक्षेप में प्रत्येक विषय पर चिन्तन किया।

समय-समय पर प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों पर प्रस्तावना के रूप में कुछ विचार दिये और कुछ स्वतन्त्र निबन्ध भी लिखे। जिन विचारों का मूल्य शाश्वत रहा है, उनका संकलन प्रस्तुत ग्रन्थ में कर दिया गया है। इसमें कितने ही लेख अप्रकाशित हैं, तो कितने ही लेख पूर्व प्रकाशित भी हुए हैं। यह संकलन एक समय में और एक साथ बैठकर लिखा नहीं गया है, इसलिए विविधता होना स्वाभाविक है। विविधता में एक प्रकार का आनन्द भी है; षड्रस का स्वाद है।

जैन दर्शन, धर्म, साहित्य, और संस्कृति का विषय बहुत ही व्यापक और गहन है, इसे समझने के लिए गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है, और साथ ही एकाग्र चिन्तन व निर्व्याघात समय भी। आज के पाठक के पास यह सब कहाँ हैं? उसके साथ भी परिस्थितियों की विवशता है, संक्षेप में, सार रूप में कुछ जानकर तृप्ति अनुभव कर लेना ही उसे पसन्द है। पाठकों की इसी रुचि को, स्थिति को; ध्यान

में रखकर यह विविध रस-मय संकलन तैयार किया है। जो संक्षेप में विविध जानकारी दे सकेगा।

साहित्यिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में भी मैंने जो कुछ भी विकास किया है, वह परमश्रद्धेय, राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी, उपाध्याय, श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्करमुनि जी म० की असीम कृपा का ही सुफल है। उस असीम कृपा को ससीम शब्दों में व्यक्त किया भी नहीं जा सकता। उनकी कृपा सदा बनी रहें, यही हार्दिक मंगलकामना !

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के स्नेह को भी भूल नहीं सकता, जिन्होंने 'ईश्वर : एक चिन्तन' निबन्ध का अवलोकन कर अपने अनमोल सुझाव से मुझे सूचित किया। श्री रमेशमुनि, श्री राजेन्द्रमुनि, श्री दिनेशमुनि, श्री नरेशमुनि आदि की सेवा-भावना लेखन में सतत सहयोगी रही हैं तथा परमादरणीया ज्येष्ठ भगिनी साध्वी रत्न महासती श्री पुष्पवती जी म० का मार्गदर्शन भी मेरे लिए परम उपयोगी रहा है। मैं पूजनीया स्वर्गीया मातेश्वरी, प्रतिभामूर्ति श्री प्रभावती जी म० को भी विस्मृत नहीं हो सकता, जिनकी हित-शिक्षाओं के कारण मैं विकास कर सका हूँ। तथा मेरे हाथ में कुछ दर्द होने के कारण बोलकर निबन्ध आदि लिखवाता रहा हूँ। उस दृष्टि से स्नेह सौजन्यमूर्ति एस० श्री कण्ठमूर्ति जी एवं स्नेह सौजन्यमूर्ति एस० जयसिंह जी जैन 'रत्नेश' (गुलाबपुरा) का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता ! मुद्रणकला की दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वाधिक सुन्दर बनाने में स्नेह की साक्षात् मूर्ति श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' को भी विस्मृत नहीं हो सकता जिनके कारण ग्रन्थ शीघ्र पाठकों के पाणि-पद्मों में पहुँचा है। ज्ञात और अज्ञात रूप से जिनका भी सहयोग मिला, उनका हृदय से आभारी हूँ।

जैन स्थानक सिंहपोल
जोधपुर
अक्टूबर, १९८२

—देवेन्द्र मुनि

□□

नुक्रम

प्रथम खण्ड

धर्म-दर्शन चिन्तन

द्वितीय खण्ड

संस्कृति-साहित्य चिन्तन

सर्व पृष्ठ संख्या २१६

धर्म एवं समाज के लिए सेवा-समर्पित

राष्ट्रीय-हित निष्ठ

एक जिन्दादिल समाजसेवी

सेठ श्री संचालालजी बाफना

संसार में अपने एवं अपने परिवार की भलाई के लिए तो हर कोई प्रयत्नशील रहता है, मगर स्वयं कष्ट उठाकर, श्रम और प्रयत्न करके समाज तथा देश की भलाई करे ऐसे कोई विरले ही होते हैं। ऐसे विरले मानव-रत्नों में ही श्रीमान संचालालजी बाफना की गणना की जा सकती है।

आप बचपन से ही उद्योगी, प्रतिभाशाली तथा समाज एवं धर्म की उन्नति के लिए रुचि रखने वाले हैं। आपका जन्म ई. सन् १९१९, ९ जुलाई, धुलिया जिलान्तर्गत 'फागना' में हुआ। संयोग देखिए कि आपकी जन्मतिथि में तीन बार नौ का अंक आया है। पाठक जानते ही हैं, नौ का 'अंक' सदा वृद्धि और उन्नति का प्रतीक होता है। आप वृद्धि, उन्नति और विकास की असीम संभावनाएँ लेकर आये। एस. एस. सी. तक अध्ययन करके आप व्यवसाय में लग गये। अपनी सूझबूझ, व्यवहार कुशलता, दूरदर्शिता और साहस एवं प्रतिभा के बल पर पैतृक कृषिफार्म से प्रारम्भ किया हुआ उद्योग, प्रगति के चरम शिखर तक ले जाने में आप सफल हुए। सन् १९३८ में आपने कपास एवं मूंगफली का व्यवसाय 'छगनलाल साहेबराव' के नाम से प्रारम्भ किया, बम्बई की मिलों को सप्लाई होती थी। व्यापारिक क्षेत्र में पाँच वर्ष में ही आप चमक गये। सन् १९४२ में ईस्ट इण्डिया कोटन ऐसोशियन के इस्ट जोन के प्रतिनिधि चुन लिए गये। व्यापार के साथ-साथ आप १०० एकड़ खेती भी देखते थे।

सन् १९६३ से आप मोटर एवं आटोमोबाइल्स व्यवसाय में आये। औरंगाबाद में आप हिन्दुस्तान मोटर्स लि० के डीलर नियुक्त हुए। अम्बेसडरकार, ट्रक, ट्रेक्टर तथा महेन्द्रा एन्ड महेन्द्रा लि० की ऐजेन्सी भी आपको मिली, इसी के साथ गुजरात ट्रेक्टर कार्पोरेशन, हिन्दुस्तान ट्रेक्टर आदि प्रख्यात एवं प्रमुख कम्पनियों के वितरक

वने। आपकी व्यापारिक कुशलता से ग्राहक एवं कम्पनी दोनों ही आपसे प्रसन्न तथा सन्तुष्ट रहे। उद्योग व्यवसाय में आपकी रुचि होने से आपने औरंगावाद में ही बी. एम. पावर केबल प्रा० लि०, मराठवाडा स्पून पाइप प्रा० लि० आदि अनेक प्रकार के उद्योग प्रारम्भ किये। किसी के चेयरमैन, किसी के पार्टनर तथा किसी के डायरेक्टर के रूप में आप सेवाएँ देते रहे। मै० संदीप मेटल वर्क्स, संदीप एजेन्सीज, कैलाश मोटर्स, तालेजा रोलिंग मिल्स, आदि अनेक उद्योगों से आप सम्बन्धित रहे और भाग्य वल से विपुल लक्ष्मी कमाई।

समाज सेवाएँ

आपका जीवन एक वृक्ष की तरह रहा जो जितना लेता है उससे कहीं वहुत अधिक देता है। आपने परिश्रम एवं प्रतिभा से धन कमाया, पर उसे तिजौरी में बन्द करके नहीं रखा, न सिर्फ स्वयं के उपभोग में ही खर्च किया, वल्कि धन को समाज एवं देश के लिए मुक्त हृदय से वितरित भी किया। जो भी संस्था, विद्यालय, ट्रस्ट या व्यक्ति आपके द्वार पर पहुँचा वह कभी खाली हाथ नहीं लौटा, यद्यपि आप दान में भी पूरा विवेक रखते हैं, पूरी चौकसी करके देते हैं, ताकि धन का अपव्यय व दुरुपयोग न हो, पर उदारतापूर्वक देते हैं। अव तक कई लाखों रुपयों की राशि आप समाज सेवार्थ दे चुके हैं।

आप सरकार द्वारा अनेक संस्थाओं के डायरेक्टर, मेम्बर आदि नियुक्त हुए हैं। आनरेरी मजिस्टेट भी हैं। लगभग १२ सरकारी संस्थानों से आप सम्बन्धित हैं तथा ३४ समाज सेवी संस्थाओं से आपका गहरा सम्बन्ध है। जिनमें मुख्यतः आनन्द फाउण्डेशन, पूना (अध्यक्ष) अ. भा. श्वे० स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस, देहली (उपाध्यक्ष), भारत जैन महामंडल, बम्बई (मंत्री) तथा एस. सी बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट, तथा एस. सी. वाफना चेरिटेबल फाउन्डेंशन (संस्थापक एवं अध्यक्ष) विशेष उल्लेखनीय है।

आप स्वभावतः बड़े हँसमुख, साथ ही अनुशासनप्रिय, व्यवस्था कुशल एवं मनुष्य के पारखी है। स्थानकवासी जैन समाज आपकी सेवाओं से बहुत ही उपकृत है तथा समाज आपको अपना गौरव समझती है। आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी म. के परम श्रद्धालु होते हुए भी आप को समस्त श्रमण संघ का प्रेम व विश्वास प्राप्त है। श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. एवं साहित्य वाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनिजी म. के प्रति आपके हृदय में अपार श्रद्धा है। आपने 'जैन आचार' प्रसाद के प्रकाशन में अच्छा सहयोग किया था।

प्रस्तुत पुस्तक **चिन्तन के विविध आयाम** के प्रकाशन में आपने उदारतापूर्वक एक विशिष्ट धन राशि दान दी है अतः संस्था आपके प्रति कृतज्ञ है, साथ ही भविष्य में इसी प्रकार आपका सहयोग मिलता रहे, यह दृढ़ विश्वास भी है।

—चुन्नीलाल धर्मावत (अध्यक्ष)

(श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय)
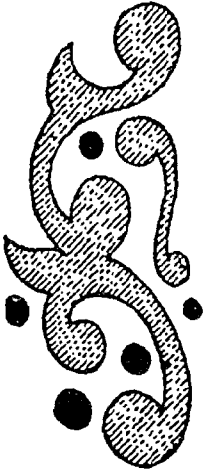
चिन्तन के
विवि
आया

:

धर्म - दर्शन - चिन्तन -

१

भारतीय चिन्तन में मोक्ष और मोक्ष-मार्ग

दर्शनशास्त्र के जगत में तीन दर्शन मुख्य माने गये हैं—यूनानी दर्शन, पश्चिमी दर्शन और भारतीय दर्शन। यूनानी दर्शन का महान चिन्तक अरिस्टोटल (अरस्तू) माना जाता है। उसका अभिमत है कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से हुआ है।[1] इसी बात को प्लेटो ने भी स्वीकार किया है। पश्चिम के प्रमुख दार्शनिक डेकार्ट, काण्ट, हेगल प्रभृति ने दर्शनशास्त्र का उद्भावक तत्व संशय माना है।[2] भारतीय दर्शन का जन्म जिज्ञासा से हुआ है[3] और जिज्ञासा का मूल दुःख में रहा हुआ है। जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर समाधि प्राप्त करने के लिए जिज्ञासाएँ जागृत हुईं। अन्य दर्शनों की भाँति भारतीय दर्शन का ध्येय ज्ञान प्राप्त करना मात्र नहीं है, अपितु उसका लक्ष्य दुःखों को दूर कर परम व चरम सुख को प्राप्त करना है। भारतीय दर्शन का मूल्य इसलिए कि वह केवल तत्त्व के गम्भीर रहस्यों का ज्ञान ही नहीं बढ़ाता अपितु परम शुभ मोक्ष को प्राप्त करने में भी सहायक है। भारतीय दर्शन केवल विचार प्रणाली नहीं किन्तु जीवन प्रणाली भी है। वह जीवन और जगत के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करता है।

मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। श्री अरविन्द मोक्ष को भारतीय विचारधारा का एक महान शब्द मानते हैं। भारतीय दर्शन की यदि कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक करती है तो वह मोक्ष का चिन्तन है। पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष को प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्म साधन है तो मोक्ष साध्य है। मोक्ष को केन्द्र-बिन्दु मानकर ही भारतीय दर्शन[4] फलते और फूलते रहे हैं।

---

1 फिलासफी बिगिन्स इन वण्डर।

2 दर्शन का प्रयोजन, पृ० २६—डॉ० भगवानदास।

3 (क) अथातो धर्मजिज्ञासा —वैशेषिकदर्शन ६।
(ख) दुःख त्रयाभिधाताज् जिज्ञासा—सांख्यकारिका १, ईश्वरकृष्ण।
(ग) अथातो धर्मजिज्ञासा—मीमांसा सूत्र १, जैमिनी।
(घ) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १।१।

4 देखिये, भगवती आदि जैन आगम।

मैं यहाँ पर मोक्ष और मोक्ष-मार्ग पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

भारतीय आत्मवादी परम्परा को वैदिक, जैन, बौद्ध और आजीविक इन चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। वर्तमान में आजीविक दर्शन का कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, अतः आजीविक द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन न कर शेष तीन की मोक्ष सम्बन्धी विचारधारा पर चिन्तन करेंगे।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, ये छह दर्शन वैदिक परम्परा में आते हैं। पूर्वमीमांसा मूलरूप से कर्ममीमांसा है, भले ही वह वर्तमान में उपनिषद् या मोक्ष पर चिन्तन करती हो, पर प्रारम्भ में उसका चिन्तन मोक्ष सम्बन्धी नहीं था।[1] किन्तु अवशेष पाँच दर्शनों ने मोक्ष पर चिन्तन किया है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इन वैदिक दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैसा विचार-भेद है, वैसा मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में भी चिन्तन-भेद है। यहाँ तक कि एक-दूसरे दर्शन की कल्पना पृथक्-पृथक् ही नहीं अपितु एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत भी है। जिन दर्शनों ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि को अपना मूल आधार माना है उनकी कल्पना में भी एकरूपता नहीं है। कोई परम्परा जीवात्मा और परमात्मा में भेद मानती है, कोई सर्वथा अभेद मानती है और कोई भेदाभेद मानती है। कोई परम्परा आत्मा को व्यापक मानती है[2] तो कोई अणु मानती है।[3] कोई परम्परा आत्मा को अनेक मानती है तो कोई एक मानती है, पर यह एक सत्य-तथ्य है कि वैदिक परम्परा के सभी दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में आत्मा को कूटस्थनित्य माना है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद और न्यायदर्शन के प्रणेता अक्षपाद ये दोनों आत्मा के सम्बन्ध में एकमत हैं। दोनों ने आत्मा को कूटस्थनित्य माना है। इनकी दृष्टि में आत्मा एक नहीं अनेक हैं, जितने शरीर हैं उतनी आत्माएँ हैं। यदि एक ही आत्मा होती तो हम विराट विश्व में जो विभिन्नता देखते हैं वह नहीं हो सकती थी।

न्याय और वैशेषिक दर्शन ने आत्मा को चेतन कहा है। उनके अभिमतानुसार चेतना आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं अपितु आगन्तुक (आकस्मिक) गुण है। जब

---

1 अध्यात्म विचारणा, पृ० ७४।

2 (क) मुण्डकोपनिषद १।१।६ (ख) वैशेषिक सूत्र ७।१।२२ (ग) न्यायमंजरी (विजयनगरम्) पृ० ४६८ (घ) प्रकरण पंजिका, पृ० १५८।

3 (क) बृहदारण्यक उपनिषद ५।६।१ (ख) छान्दोग्य उपनिषद ५।१८।१ (ग) मैत्री उपनिषद ६।३८।

तक शरीर, इन्द्रिय और सत्त्वात्मक मन आदि का सम्बन्ध रहता है तब तक उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान आत्मा में होता है। ऐसे ज्ञान को धारण करने की शक्ति चेतन में है, पर वे ऐसा कोई स्वाभाविक गुण चेतन में नहीं मानते हैं जो शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का सम्बन्ध न होने पर भी ज्ञान गुण रूप में या विषय ग्रहण रूप में आत्मा में रहता हो। न्याय-वैशेषिकदर्शन की प्रस्तुत कल्पना अन्य वैदिक दर्शनों के साथ मेल नहीं खाती है। सांख्यदर्शन, योगदर्शन एवं आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, प्रभृति जितनी भी वेद और उपनिषद् दर्शन की धाराएँ हैं वे इस बात को स्वीकार नहीं करतीं।[1] न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से मोक्ष की अवस्था में आत्मा सभी प्रकार के अनुभवों को त्यागकर केवल सत्ता में रहता है। वह उस समय न शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकता है और न शुद्ध चैतन्य का ही। आनन्द और चेतना ये दोनों ही आत्मा के आकस्मिक गुण हैं और मोक्ष अवस्था में आत्मा सभी आकस्मिक गुणों का परित्याग कर देती है, अतः निर्गुण होने से आनन्द और चैतन्य भी मोक्ष अवस्था में उसके साथ नहीं रहते।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ने मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा—यह दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[2] दुःखों का ऐसा नाश है कि भविष्य में पुनः उनके होने की सम्भावना नष्ट हो जाती है।

न्यायसूत्र पर भाष्य[3] करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि जब तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तब उसके परिणामस्वरूप सभी दोष भी दूर हो जाते हैं। दोष नष्ट होने से कर्म करने की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। कर्म-प्रवृत्ति समाप्त हो जाने से जन्म-मरण के चक्र रुक जाते हैं और दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।[4] न्यायवार्तिककार ने उसे सभी दुःखों का आत्यन्तिक अभाव कहा है।[5] मोक्ष में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, संकल्प, पुण्य, पाप तथा पूर्व अनुभवों के संस्कार इन नौ गुणों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है।[6] उनकी दृष्टि से मोक्ष इसलिए परम पुरुषार्थ है कि उसमें किसी भी प्रकार का दुःख और दुःख के कारण का अस्तित्व नहीं है। वे मोक्ष की साधना इसलिए नहीं करते कि उसके प्राप्त होने पर कोई चैतन्य के सुख जैसा सहज और शाश्वत गुणों का अनुभव होगा।

---

1 अध्यात्म विचारणा पृष्ठ ७५।

2 (क) आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः—(मोक्षः)।
(ख) (मोक्षः) चरम दुःखध्वंसः—तर्कदीपिका।

3 न्याय सूत्र १।१।२ पर भाष्य।

4 तद्भावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः। —वैशेषिक सूत्र ५।२।१८

5 (मोक्षः) आत्यन्तिको दुःखाभावः। —न्याय वार्तिक

6 (क) न्यायमंजरी, पृष्ठ ५०८।

स्याद्वाद मंजरी में मल्लिषेण ने लिखा है—न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष की अपेक्षा तो सांसारिक जीवन अधिक श्रेयस्कर है, चूंकि सांसारिक जीवन में तो कभी-कभी सुख मिलता भी है, पर न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष में तो सुख का पूर्ण अभाव है।[1]

कर्मयोगी श्रीकृष्ण का एक भक्त तो न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष की अपेक्षा वृन्दावन में सियार बनकर रहना अधिक पसन्द करता है।[2] श्री हर्ष भी उपहास करते हुए उनके मोक्ष को पाषाण के समान अचेतन और आनन्दरहित बताते हैं।[3]

न्याय-वैशेषिक व्यावहारिक अनुभव के आधार पर समाधान करते हैं कि सच्चा साधक पुरुषार्थी, मात्र अनिष्ट के परिहार के लिए ही प्रयत्न करता है। ऐसा अनिष्ट परिहार करना ही उसका सुख है। मोक्ष स्थिति में भावात्मक चैतन्य या आनन्द मानने के लिए कोई आधार नहीं है। उनके मन्तव्यानुसार मोक्ष नित्य या अनित्य, ज्ञान, सुख रहित केवल द्रव्य रूप से आत्मतत्त्व की अवस्थिति है।

सांख्य और योगदर्शन

सांख्य और योग ये दोनों पृथक्-पृथक् दर्शन हैं, पर दोनों में अनेक बातों में समानता होने से यह कहा जा सकता है कि एक ही दार्शनिक सिद्धान्त के ये दो पहलू हैं। एक सैद्धान्तिक, तो दूसरा व्यावहारिक है। सांख्य तत्त्व मीमांसा की समस्याओं पर चिन्तन करता है तो योग कैवल्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनों पर बल देता है।

सांख्य पुरुष और प्रकृति के द्वैत का प्रतिपादन करता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों एक-दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न हैं। प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति जब पुरुष के सान्निध्य में आती है तो उस साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होते हैं जिसे गुण-क्षोभ कहा जाता है। संसार के सभी जड़ पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं पर प्रकृति स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती। ठीक इसके विपरीत पुरुष न किसी पदार्थ को उत्पन्न करता है और न स्वयं वह किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न है। पुरुष अपरिणामी, अखण्ड, चेतना या चैतन्य मात्र है। बन्ध और मोक्ष ये दोनों वस्तुतः प्रकृति की अवस्था हैं।[4] इन अवस्थाओं का पुरुष में आरोप या उपचार किया जाता है। जैसे अनन्ताकाश में उड़ान भरते हुए पक्षी का प्रतिबिम्ब निर्मल जल में गिरता है, जल में जो दिखायी देता है, वह केवल प्रतिबिम्ब है, वैसे ही प्रकृति के बंध और मोक्ष पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं।

---

1 स्याद्वाद मंजरी, पृष्ठ ६३।

2 'वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितं' – स्याद्वाद मंजरी में उद्धृत पृष्ठ ६३।

3 भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : एक तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० अशोक कुमार लाड।

सांख्य और योग पुरुष को एक नहीं अनेक मानता है, यह जो अनेकता है वह संख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं है। एकात्मवाद के विरुद्ध उसने यह आपत्ति उठायी है कि यदि पुरुष एक ही है तो एक पुरुष के मरण के साथ सभी का मरण होना चाहिए। इसी प्रकार एक के बन्ध और मोक्ष के साथ सभी का बन्ध और मोक्ष होना चाहिए। इसलिए पुरुष एक नहीं, अनेक है। न्याय–वैशेषिकों के समान वे चेतना को आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं मानते। चेतना पुरुष का सार है। पुरुष चरम ज्ञाता है। स्वरूप की दृष्टि से पुरुष, वैष्णव-वेदान्तियों की आत्मा, जैनियों के जीव और लाई-बनित्स के चिद् अणु के सदृश है।

सांख्य दृष्टि से बन्धन का कारण अविद्या या अज्ञान है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। पुरुष अपने स्वरूप को विस्मृत होकर स्वयं को प्रकृति या उसकी विकृति समझने लगता है, यही सबसे बड़ा अज्ञान है। जब पुरुष और प्रकृति के बीच विवेक जागृत होता है—"मैं पुरुष हूँ, प्रकृति नहीं," तब उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

कपिल मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं करते। वे तथागत बुद्ध के समान सांसारिक दुःखों की उत्पत्ति और उसके निवारण का उपाय बतलाते हैं किन्तु कपिल के पश्चात् उनके शिष्यों ने मोक्ष में स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। बन्धन का मूल कारण यह है—पुरुष स्वयं के स्वरूप को विस्मृत हो गया। प्रकृति या उसके विकारों के साथ उसने तादात्म्य स्थापित कर लिया है, यही बन्धन है। जब सम्यग्ज्ञान से उसका वह दोषपूर्ण तादात्म्य का भ्रम नष्ट हो जाता है तब पुरुष प्रकृति के पंजे से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, यही मोक्ष है। सांख्यदर्शन में मोक्ष की स्थिति को कैवल्य भी कहा है।

सांख्य दृष्टि से पुरुष नित्य मुक्त है। विवेक ज्ञान के उदय होने से पहले भी वह मुक्त था, विवेक ज्ञान का उदय होने पर उसे यह अनुभव होता है कि वह तो कभी भी बन्धन में नहीं पड़ा था, वह तो हमेशा मुक्त ही था, पर उसे प्रस्तुत तथ्य का परिज्ञान न होने से वह अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं को प्रकृति या उसका विहार समझ रहा था। कैवल्य और कुछ भी नहीं उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है।

सांख्य-योगसम्मत मुक्ति-स्वरूप में एवं न्याय-वैशेषिकसम्मत मुक्ति-स्वरूप में यह अन्तर है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति दशा में आत्मा अपना द्रव्यरूप होने पर भी वह चेतनामय नहीं है। मुक्ति दशा में चैतन्य के स्फुरणा या अभिव्यक्ति जैसे व्यवहार को अवकाश नहीं है। मुक्ति में बुद्धि, सुख आदि का आत्यन्तिक उच्छेद होकर आत्मा केवल कूटस्थ नित्य द्रव्यरूप से अस्तित्व धारण करता है। सांख्य-योग की दृष्टि से आत्मा सर्वथा निर्गुण है, स्वतः प्रकाशमान चेतना रूप है और सहज भाव से अस्तित्व धारण करने वाला है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति दशा में चैतन्य और ज्ञान का

स्याद्वाद मंजरी में मल्लिषेण ने लिखा है—न्याय-वैशेपिकों के मोक्ष की अपेक्षा तो सांसारिक जीवन अधिक श्रेयस्कर है, चूंकि सांसारिक जीवन में तो कभी-कभी सुख मिलता भी है, पर न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष में तो सुख का पूर्ण अभाव है।[1]

कर्मयोगी श्रीकृष्ण का एक भक्त तो न्याय-वैशेपिकों के मोक्ष की अपेक्षा वृन्दावन में सियार बनकर रहना अधिक पसन्द करता है।[2] श्री हर्ष भी उपहास करते हुए उनके मोक्ष को पाषाण के समान अचेतन और आनन्दरहित बताते हैं।[3]

न्याय-वैशेपिक व्यावहारिक अनुभव के आधार पर समाधान करते हैं कि सच्चा साधक पुरुषार्थी, मात्र अनिष्ट के परिहार के लिए ही प्रयत्न करता है। ऐसा अनिष्ट परिहार करना ही उसका सुख है। मोक्ष स्थिति में भावात्मक चैतन्य या आनन्द मानने के लिए कोई आधार नहीं है। उनके मन्तव्यानुसार मोक्ष नित्य या अनित्य, ज्ञान, सुख रहित केवल द्रव्य रूप से आत्मतत्त्व की अवस्थिति है।

सांख्य और योगदर्शन

सांख्य और योग ये दोनों पृथक्-पृथक् दर्शन हैं, पर दोनों में अनेक बातों में समानता होने से यह कहा जा सकता है कि एक ही दार्शनिक सिद्धान्त के ये दो पहलू हैं। एक सैद्धान्तिक, तो दूसरा व्यावहारिक है। सांख्य तत्त्व मीमांसा की समस्याओं पर चिन्तन करता है तो योग कैवल्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनों पर बल देता है।

सांख्य पुरुष और प्रकृति के द्वैत का प्रतिपादन करता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों एक-दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न हैं। प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति जब पुरुष के सान्निध्य में आती है तो उस साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होते हैं जिसे गुण-क्षोभ कहा जाता है। संसार के सभी जड़ पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं पर प्रकृति स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती। ठीक इसके विपरीत पुरुष न किसी पदार्थ को उत्पन्न करता है और न स्वयं वह किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न है। पुरुष अपरिणामी, अखण्ड, चेतना या चैतन्य मात्र है। बन्ध और मोक्ष ये दोनों वस्तुतः प्रकृति की अवस्था हैं।[4] इन अवस्थाओं का पुरुष में आरोप या उपचार किया जाता है। जैसे अनन्ताकाश में उड़ान भरते हुए पक्षी का प्रतिबिम्ब निर्मल जल में गिरता है, जल में जो दिखायी देता है, वह केवल प्रतिबिम्ब है, वैसे ही प्रकृति के बंध और मोक्ष पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं।

---

1 स्याद्वाद मंजरी, पृष्ठ ६३।

2 'वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितं' - स्याद्वाद मंजरी में उद्धृत पृष्ठ ६३।

3 भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : एक तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० अशोक कुमार लाड।

4 सांख्यकारिका ६२।

सांख्य और योग पुरुष को एक नहीं अनेक मानता है, यह जो अनेकता है वह संख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं है। एकात्मवाद के विरुद्ध उसने यह आपत्ति उठायी है कि यदि पुरुष एक ही है तो एक पुरुष के मरण के साथ सभी का मरण होना चाहिए। इसी प्रकार एक के बन्ध और मोक्ष के साथ सभी का बन्ध और मोक्ष होना चाहिए। इसलिए पुरुष एक नहीं, अनेक है। न्याय–वैशेषिकों के समान वे चेतना को आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं मानते। चेतना पुरुष का सार है। पुरुष चरम ज्ञाता है। स्वरूप की दृष्टि से पुरुष, वैष्णव-वेदान्तियों की आत्मा, जैनियों के जीव और लाईबनित्स के चिद् अणु के सदृश है।

सांख्य दृष्टि से बन्धन का कारण अविद्या या अज्ञान है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। पुरुष अपने स्वरूप को विस्मृत होकर स्वयं को प्रकृति या उसकी विकृति समझने लगता है, यही सबसे बड़ा अज्ञान है। जब पुरुष और प्रकृति के बीच विवेक जाग्रत होता है—"मैं पुरुष हूँ, प्रकृति नहीं," तब उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

कपिल मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं करते। वे तथागत बुद्ध के समान सांसारिक दुःखों की उत्पत्ति और उसके निवारण का उपाय बतलाते हैं किन्तु कपिल के पश्चात् उनके शिष्यों ने मोक्ष में स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। बन्धन का मूल कारण यह है—पुरुष स्वयं के स्वरूप को विस्मृत हो गया। प्रकृति या उसके विकारों के साथ उसने तादात्म्य स्थापित कर लिया है, यही बन्धन है। जब सम्यग्ज्ञान से उसका वह दोषपूर्ण तादात्म्य का भ्रम नष्ट हो जाता है तब पुरुष प्रकृति के पंजे से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, यही मोक्ष है। सांख्यदर्शन में मोक्ष की स्थिति को कैवल्य भी कहा है।

सांख्य दृष्टि से पुरुष नित्य मुक्त है। विवेक ज्ञान के उदय होने से पहले भी वह मुक्त था, विवेक ज्ञान का उदय होने पर उसे यह अनुभव होता है कि वह तो कभी भी बन्धन में नहीं पड़ा था, वह तो हमेशा मुक्त ही था, पर उसे प्रस्तुत तथ्य का परिज्ञान न होने से वह अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं को प्रकृति या उसका विहार समझ रहा था। कैवल्य और कुछ भी नहीं उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है।

सांख्य-योगसम्मत मुक्ति-स्वरूप में एवं न्याय-वैशेषिकसम्मत मुक्ति-स्वरूप में यह अन्तर है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति दशा में आत्मा अपना द्रव्यरूप होने पर भी वह चेतनामय नहीं है। मुक्ति दशा में चैतन्य के स्फुरणा या अभिव्यक्ति जैसे व्यवहार को अवकाश नहीं है। मुक्ति में बुद्धि, सुख आदि का आत्यन्तिक उच्छेद होकर आत्मा केवल कूटस्थ नित्य द्रव्यरूप से अस्तित्व धारण करता है। सांख्य-योग की दृष्टि से आत्मा सर्वथा निर्गुण है, स्वतः प्रकाशमान चेतना रूप है और सहज भाव से अस्तित्व धारण करने वाला है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति दशा में चैतन्य और ज्ञान का

अभाव है तो सांख्य-योग की दृष्टि में उसका सद्भाव है। यह दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है किन्तु जब हम दोनों पक्षों की पारिभाषिक प्रक्रिया की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो तात्त्विक दृष्टि से दोनों पक्षों की मान्यता में विशेष कोई महत्त्व का अन्तर नहीं है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने शरीर, इन्द्रिय आदि सम्बन्धों की दृष्टि से बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि गुणों का मोक्ष में आत्यन्तिक उच्छेद माना है और संसार दशा में वे उन गुणों का अस्तित्व आत्मा में स्वीकारते हैं। सांख्य और योग दर्शन सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, इच्छा-द्वेष आदि भाव पुरुष में न मानकर अन्तःकरण के परिणाम रूप मानते हैं और उसकी छाया पुरुष में गिरती है, वही आरोपित संसार है। एतदर्थ वे मुक्ति की अवस्था में जब सात्त्विक बुद्धि का उसके भावों के साथ प्रकृति का आत्यन्तिक विलय होता है तब पुरुष के व्यवहार में सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष प्रभृति भावों की ओर कर्तृत्व की छाया का भी आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। सांख्य-योग आत्म-द्रव्य के गुणों का उपादान कारणत्व स्वीकार कर उस पर चिन्तन करता है। वह द्रव्य और गुण के भेद को वास्तविक मानता है। जबकि न्याय-वैशेषिक पुरुषों में ऐसा कुछ भी न मानकर प्रकृति के प्रपंच द्वारा ही ये सभी विचार-व्यवहार होते हैं—ऐसे भेद को वह आरोपित गिनता है।

चौवीस तत्त्ववादी प्राचीन सांख्य परम्परा की बन्ध मोक्ष प्रक्रिया पच्चीस तत्त्ववादी सांख्य परम्परा से पृथक है। वह मोक्ष अवस्था में बुद्धि सत्त्व और उसमें समुत्पन्न होने वाले सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान-अज्ञान प्रभृति भावों का मूल कारण प्रधान में आत्यन्तिक विलय मानकर मुक्ति स्वरूप का वर्णन करता है किन्तु वह यों नहीं कहता कि मुक्त आत्मा यानि चेतना, चूँकि प्रस्तुत वाद में प्रकृति से भिन्न है, अतः ऐसी चेतना को अवकाश नहीं है। चौवीस तत्त्ववादी सांख्य और न्याय-वैशेषिक की विचार-धारा में बहुत अधिक समानता है। प्रथम पक्ष की दृष्टि से मोक्ष अवस्था में प्रकृति के कार्य प्रपंच का अत्यन्त विलय होता है और द्वितीय पक्ष मुक्ति-दशा में आत्मा के गुण प्रपंच का अत्यन्त अभाव स्वीकार करता है। प्रथम ने जिसे कार्यप्रपंच कहा है उसे ही दूसरे ने गुणप्रपंच कहा। दोनों के आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में यत्किंचित् अन्तर है, वह केवल परिणामीनित्यत्व और कूटस्थनित्यत्व के एकान्तिक परिभाषा भेद के कारण से है।

ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेप प्रभृति गुणों का उत्पाद और विनाश वस्तुतः आत्मा में होता है। यह मानने पर भी न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा को कुछ अवस्थान्तर के अतिरिक्त अर्थ में कूटस्थनित्य वर्णित करता है। यह कुछ विचित्र-सा लगता है पर उसका रहस्य उसके भेदवाद में सन्निहित है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ने गुण-गुणी में अत्यन्त भेद माना है। जब गुण उत्पन्न होते हैं या नष्ट होते हैं तब उसके उत्पाद और विनाश का स्पर्श उसके आधारभूत गुणी द्रव्य को नहीं होता। जो यह अवस्थाभेद है वह गुणी का नहीं, अपितु गुणों का है। इसी प्रकार वे आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध या मुक्त वास्तविक रूप में स्वीकार करते हैं।

इसके अतिरिक्त अवस्था-भेद की आपत्ति युक्ति-प्रयुक्ति से पृथक कर कूटस्थनित्यत्व की मान्यता से चिपके रहते हैं। सांख्य-योग दर्शन न्याय-वैशेपिक के समान गुण-गुणी का भेद नहीं मानता है। न्याय-वैशेपिक के समान गुणों का उत्पाद-विनाश मानकर पुरुष के कूटस्थनित्यत्व का रक्षण नहीं किया जा सकता, अतः उसने निर्गुण पुरुष मानने की पृथक राह अपनायी।[1]

उन्होंने कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष आदि अवस्थाएँ पुरुष में उपचरित मानी हैं और कूटस्थनित्यत्व पूर्ण रूप से घटित किया है।

केवलाद्वैती शंकर या अणुजीववादी रामानुज तथा वल्लभ ये सभी मुक्ति दशा में चैतन्य और आनन्द का पूर्ण प्रकाश या आविर्भाव अपनी-अपनी दृष्टि से स्वीकार कर कूटस्थनित्यता घटित करते हैं। एक दृष्टि से देखें तो औपनिपद् दर्शन की कल्पना न्याय-वैशेषिक दर्शन के साथ उतनी मेल नहीं खाती जितनी सांख्य-योग के साथ मेल खाती है। सभी औपनिपद् दर्शन मुक्ति अवस्था में सांख्य-योग के समान शुद्ध चेतना रूप में ब्रह्म तत्त्व या जीव तत्त्व का अवस्थान स्वीकार करते हैं।[2]

बौद्धदर्शन

अन्य दर्शनों में जिसे मोक्ष कहा है उसे बौद्ध दर्शन ने निर्वाण की संज्ञा प्रदान की है। बुद्ध के अभिमतानुसार जीवन का चरम लक्ष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, अथवा निर्वाण है। क्योंकि समस्त दृश्य सत्ता अनित्य है, क्षणभंगुर है, एवं अनात्म है, एक मात्र निर्वाण ही साध्य है।[3] निर्वाण बौद्ध दर्शन का महत्त्वपूर्ण शब्द है। प्रो० मूर्ति ने बौद्ध दर्शन के इतिहास को निर्वाण का इतिहास कहा है।[4] प्रो० यदुनाथ सिन्हा निर्वाण को बौद्ध शीलाचार का मूलाधार मानते हैं।[5]

अभिधम्म महाविभापा शास्त्र में निर्वाण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ बतायी हैं। जैसे 'वाण' का अर्थ 'पुनर्जन्म का रास्ता' और 'निर्' का अर्थ छोड़ना है, अतः 'निर्वाण' का अर्थ हुआ स्थायी रूप से पुनर्जन्म के सभी रास्तों को छोड़ देना।

'वाण' का दूसरा अर्थ दुर्गन्ध और निर् का अर्थ 'नहीं' है, अतः निर्वाण एक ऐसी स्थिति है जो दुःख देने वाले कर्मों की दुर्गन्ध से पूर्णतया मुक्त है।

वाण का तीसरा अर्थ घना जंगल है और निर् का अर्थ स्थायी रूप से छुटकारा पाना।

---

1 गीता १३।३१-३२।

2 अध्यात्म विचारणा के आधार से पृ० ८४।

3 भारतीय दर्शन—डॉ० बलदेव उपाध्याय।

4 हिस्ट्री ऑफ फिलासफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, वा० पृ० २१२।

5 हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ० ३२८।

'वाण' का चतुर्थ अर्थ बुनना है और निर् का अर्थ नहीं है अतः निर्वाण ऐसी स्थिति है जो सभी प्रकार के दुःख देने वाले कर्मों रूपी धागों से जो जन्म-मरण का धागा बुनते हैं उनसे पूर्ण मुक्ति है।[1]

पाली टेक्स्ट सोसाइटी द्वारा प्रकाशित पाली-अंग्रेजी शब्द कोष में 'निव्वान' शब्द का अर्थ बुझ जाना किया है। अमर कोष में भी यही अर्थ प्राप्त होता है।

रीज डेविड्स थामस, आनन्दकुमारस्वामी, पी० लक्ष्मी नरसु, दाहलमेन, डॉ० राधाकृष्णन्, प्रो० जे० एन० सिन्हा, डॉ० सी० डी० शर्मा प्रभृति अनेक विज्ञों का यह पूर्ण निश्चित मत है कि निर्वाण व्यक्तित्व का उच्छेद नहीं है अपितु यह नैतिक पूर्णत्व की ऐसी स्थिति है जो आनन्द से परिपूर्ण है।

डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं—निर्वाण न तो शून्य रूप है और न ही ऐसा जीवन है जिसका विचार मन में आ सके, किन्तु यह अनन्त यथार्थ सत्ता के साथ ऐक्यभाव स्थापित कर लेने का नाम है, जिसे बुद्ध प्रत्यक्षरूप से स्वीकार नहीं करते हैं।[2]

बुद्ध की दृष्टि से 'निव्वान' उच्छेद या पूर्ण क्षय है परन्तु यह पूर्ण क्षय आत्मा का नहीं है। यह क्षय लालसा, तृष्णा, जिजीविषा एवं उनकी तीनों जड़ें राग, जीवन धारण करने की इच्छा और अज्ञान का है।[3]

प्रो० मेक्समलूर लिखते हैं कि यदि हम धम्मपद के प्रत्येक श्लोक को देखें जहाँ पर निर्वाण का शब्द आता है तो हम पायेंगे कि एक भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ पर उसका अर्थ उच्छेद होता है। सभी स्थान नहीं तो बहुत अधिक स्थान ऐसे हैं जहाँ पर हम निर्वाण शब्द का उच्छेद अर्थ ग्रहण करते हैं तो वे पूर्णतः अस्पष्ट हो जाते हैं।[4]

राजा मिलिन्द की जिज्ञासा पर नागसेन ने विविध उपमाएँ देकर निर्वाण की समृद्धि का प्रतिपादन किया है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध का निर्वाण न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष के समान केवल एक निषेधात्मक स्थिति नहीं है।

तथागत बुद्ध ने अनेक अवसरों पर निर्वाण को अव्याकृत कहा है। विचार और वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रसेनजित् के प्रश्नों का उत्तर

---

1 सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृ० ३१।

2 भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ४११-१४।

3 (क) धम्मपद १५४।
 (ख) देखें – संयुक्त निकाय के ओघतरण सुत्त, निमोक्ख सुत्त, संयोजन सुत्त तथा बन्धन सुत्त।

4 एन. के. भगत : पटना युनिवर्सिटी रीडरशिप लेक्चर्स, १९२४-२५, पृ० १६५।

देती हुई खेमा भिक्षुणी ने[1] कहा—"जैसे गंगा नदी के किनारे पड़े हुए रेत के कणों को गिनना कथमपि सम्भव नहीं है, या सागर के पानी को नापना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार निर्वाण की अगाधता को नापा नहीं जा सकता।"

बुद्ध के पश्चात् उनके अनुयायी दो भागों में बँट गये, जिन्हें हीनयान और महायान कहा जाता है। अन्य सिद्धान्तों के साथ उनके शिष्यों में इस सम्बन्ध में मतभेद हुआ कि हमारा लक्ष्य हमारा ही निर्वाण है या सभी जीवों का निर्वाण है? बुद्ध के कुछ शिष्यों ने कहा—हमारा लक्ष्य केवल हमारा ही निर्वाण है। दूसरे शिष्यों ने उनका प्रतिवाद करते हुए कहा—हमारा लक्ष्य जीवन मात्र का निर्वाण है। प्रथम को द्वितीय ने स्वार्थी कहा और उनका तिरस्कार करने के लिए उनको हीनयान कहा, और अपने आपको महायानी कहा। स्वयं हीनयानी इस बात को स्वीकार नहीं करते, वे अपने आपको थेरवादी (स्थविरवादी) कहते हैं।

संक्षेप में सार यह है कि बुद्ध ने स्वयं निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रस्तुत नहीं किया, जिसके फलस्वरूप कतिपय विद्वानों ने निर्वाण को शून्यता के रूप में वर्णन किया है तो कतिपय विद्वानों ने निर्वाण को प्रत्यक्ष आनन्ददायक बताया है।[2]

जैन दर्शन

वैदिक दर्शन और बौद्ध दर्शन में जिस प्रकार मोक्ष और निर्वाण के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं; वैसे जैन दर्शन में किसी भी सम्प्रदाय में मतभेद नहीं है। मेरी दृष्टि से इसका मूल कारण यह है कि वेदों के मोक्ष में सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गयी और वैदिक आचार्यों ने उसे आधार बनाकर और अपनी कमनीय कल्पना की तूलिका से उसके स्वरूप का चित्रण किया है।

बौद्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने अपने आपको सर्वज्ञ नहीं कहा है। उन्होंने अपने शिष्यों को यह आदेश दिया कि तुम मेरे कथन को भी परीक्षण-प्रस्तर पर कसकर देखो कि वस्तुतः वह सत्य-तथ्ययुक्त है या नहीं, किन्तु भगवान महावीर ने अपने आपको सर्वज्ञ बताया और सर्वज्ञ के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की। जिसके कारण जैनधर्म में श्रद्धा की प्रमुखता रही। सर्वज्ञ के वचन के विपरीत तर्क करना बिल्कुल ही अनुचित माना गया, जिससे तत्त्वों के सम्बन्ध में या मोक्ष के सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद नहीं हो सका।

जैनदर्शन परिणामीनित्यता के सिद्धान्त को मान्य करता है किन्तु प्रस्तुत सिद्धान्त सांख्य-योग के समान केवल जड़ अर्थात् अचेतन तक ही सीमित नहीं है।

---

1 संयुक्त निकाय खेमाथेरी सुत्त।

2 भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ४१६-१७, (डॉ० राधाकृष्णन)।

उसका यह वज्र आघोष है कि चाहे जड़ हो या चेतन सभी परिणामी नित्य है। यहाँ तक कि यह परिणामी नित्यता द्रव्य के अतिरिक्त उसके साथ होने वाली शक्तियों (गुण-पर्यायों) को भी व्याप्त करती है।

जैन-दर्शन आत्म-द्रव्य को न्याय-वैशेषिक के समान व्यापक नहीं मानता और रामानुज के समान आत्मा को अणु भी नहीं मानता, किन्तु वह आत्म-द्रव्य को मध्यम परिणामी मानता है। उसमें संकोच और विस्तार दोनों गुण रहे हुए हैं, जो जीव एक विराट्काय हाथी के शरीर में रहता है वही जीव एक नन्हीं-सी चींटी में भी रहता है। द्रव्य रूप से जीव शाश्वत है किन्तु परिणाम की दृष्टि से उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। परिणामी सिद्धान्त को मानने के कारण जैन-दर्शन ने स्पष्ट रूप से यह माना है कि जिस शरीर से जीव मुक्त होता है, उस शरीर का जितना आकार होता है उससे तृतीय भाग न्यून विस्तार सभी मुक्त जीव का होता है।[1]

स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा में जो संकोच और विस्तार होता है वह कर्मजन्य शरीर के कारण से है। मुक्तात्माओं में शरीराभाव होने से उनमें संकोच और विस्तार नहीं हो सकता। मुक्तात्माओं में जो आकृति की कल्पना की गयी है वह अन्तिम शरीर के आधार से की गयी है। मुक्त जीव में रूपादि का अभाव है तथापि आकाश प्रदेशों में जो आत्म प्रदेश ठहरे हुए हैं उस अपेक्षा से आकार कहा है।

जैन-दर्शन की प्रस्तुत मान्यता सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की मान्यता से पृथक है। यह जैन-दर्शन की अपनी मौलिक देन है। इसका मूल कारण यह है कि कितने ही दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं तो कितने ही दर्शन आत्मा को अणु मानते हैं। इस कारण मोक्ष में आत्मा का परिणाम क्या है उसे वे स्पष्ट नहीं कर सके हैं, किन्तु जैन-दर्शन की मध्यम परिणाम की मान्यता होने से मुक्ति दशा में आत्मा के परिणाम के सम्बन्ध में एक निश्चित मान्यता है।

जैन-दर्शन के अनुसार मुक्त आत्म-द्रव्य में सहभू-चेतना, आनन्द आदि शक्तियाँ अनावृत होकर पूर्ण विशुद्ध रूप से ज्ञान, सुख आदि रूप में प्रतिपल प्रतिक्षण परिणमन करती रहती है, वह मात्र कूटस्थनित्य नहीं अपितु शक्ति रूप से नित्य होने पर प्रति समय होने वाले नित्य नूतन सदृश परिणाम प्रवाह के कारण परिणामी है। यह जैन-दर्शन का मोक्षकालीन आत्मस्वरूप अन्य दर्शनों से अलग-थलग है। उसमें अन्य दर्शनों के साथ समानता भी है। द्रव्य रूप से स्थिर रहने के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक दर्शनों के साथ इसका मेल बैठता है और सांख्य-योग एवं अद्वैत दर्शनों के साथ सहभू-गुण की अभिव्यक्ति या प्रकाश सम्बन्ध में समानता है। यद्यपि योगाचार या विज्ञानवादी बौद्ध शाखा के ग्रन्थों से यह बहुत स्पष्ट रूप से फलित नहीं होता, तथापि यह ज्ञात होता है कि वह मूल में क्षणिकवादी होने से मुक्तिकाल में आलय विज्ञान को विशुद्ध मानकर

---

1 उत्तराध्ययन, ३६।६५।

उसका निरन्तर क्षण प्रवाह माने तभी बौद्ध दर्शन की मोक्षकालीन मान्यता संगत बैठ सकती है। यदि वे इस प्रकार मानते हैं तो जैनदर्शन की मान्यता के अत्यधिक सन्निकट है।

मुक्त ब्रह्मभूत या निर्वाण-प्राप्त आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन के पश्चात् यह प्रश्न है कि विदेह मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् आत्मा कौन-से स्थान पर रहता है क्योंकि चेतन या अचेतन जो द्रव्य रूप है उसका स्थान अवश्य होना चाहिए।

दार्शनिकों ने प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर मान्यता भेद होने से विविध दृष्टियों से दिया है।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य और योग जिस प्रकार आत्मा को व्यापक मानते हैं उसी प्रकार अनेक आत्मा मानते हैं, वे आत्म-विभुत्ववादी भी हैं और आत्म बहुत्व-वादी भी हैं। उनकी दृष्टि से मुक्त अवस्था का क्षेत्र सांसारिक क्षेत्र से पृथक नही है। मुक्त और संसारी आत्मा में अन्तर केवल इतना ही है कि जो सूक्ष्म शरीर अनादि अनन्तकाल से आत्मा के साथ लगा था, जिसके परिणामस्वरूप नित्य-नूतन स्थूल शरीर धारण करना पड़ता था, उसका सदा के लिए सम्बन्ध नष्ट हो जाने से स्थूल शरीर धारण करने की परम्परा भी नष्ट हो जाती है। जीवात्मा या पुरुष परस्पर सर्वथा भिन्न होकर मुक्ति दशा में भी अपने-अपने भिन्न स्वरूप में सर्वव्यापी है।

केवलाद्वैतवादी ब्रह्मवादी भी ब्रह्म या आत्मा को व्यापक मानते हैं किन्तु न्याय-वैशेषिक, सांख्य और योग के समान जीवात्मा का वास्तविक बहुत्व नहीं मानते। उनका मन्तव्य है कि मुक्त होने का अर्थ है सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरण का सर्वथा नष्ट होना, उसके नष्ट होते ही उपाधि के कारण जीव की ब्रह्मस्वरूप से जो पृथकता प्रतिभासित होती थी, वह नहीं होती। तत्त्व रूप से जीव ब्रह्म स्वरूप ही था, उपाधि नष्ट होते ही वह केवल ब्रह्म स्वरूप का ही अनुभव करता है। मुक्त और संसारी आत्मा में अन्तर यही है कि एक में उपाधि है, दूसरे में नहीं है। उपाधि के अभाव में परस्पर भेद नहीं है, वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है।

अणुजीवात्मवादी वैष्णव परम्पराओं की कल्पनाएँ पृथक-पृथक हैं। रामानुज विशिष्टाद्वैती हैं। वे वस्तुतः जीव-बहुत्व को मानते हैं किन्तु जीव का परब्रह्म वासुदेव से सर्वथा भेद नहीं है। जब जीवात्मा मुक्त होता है तब वासुदेव के धाम वैकुण्ठ या ब्रह्मलोक में जाता है, वह वासुदेव के सान्निध्य में उसके अंश रूप से उसके सदृश होकर रहता है।

मध्व जो अणुजीववादी है वे जीव को परब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं। किन्तु मुक्त जीव की स्थिति विष्णु के सन्निधान में अर्थात् लोक विशेष में कल्पित करते हैं।

शुद्धाद्वैती वल्लभ भी अणुजीववादी हैं किन्तु साथ ही वे परब्रह्म परिणाम-वादी हैं। उनका मन्तव्य है कि कुछ भक्त जीव ऐसे हैं जो मुक्त होने पर अक्षर

उसका यह वज्र आघोष है कि चाहे जड़ हो या चेतन सभी परिणामी नित्य है। यहाँ तक कि यह परिणामी नित्यता द्रव्य के अतिरिक्त उसके साथ होने वाली शक्तियों (गुण-पर्यायों) को भी व्याप्त करती है।

जैन-दर्शन आत्म-द्रव्य को न्याय-वैशेषिक के समान व्यापक नहीं मानता और रामानुज के समान आत्मा को अणु भी नहीं मानता, किन्तु वह आत्म-द्रव्य को मध्यम परिणामी मानता है। उसमें संकोच और विस्तार दोनों गुण रहे हुए हैं, जो जीव एक विराट्काय हाथी के शरीर में रहता है वही जीव एक नन्हीं-सी चींटी में भी रहता है। द्रव्य रूप से जीव शाश्वत है किन्तु परिणाम की दृष्टि से उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। परिणामी सिद्धान्त को मानने के कारण जैन-दर्शन ने स्पष्ट रूप से यह माना है कि जिस शरीर से जीव मुक्त होता है, उस शरीर का जितना आकार होता है उससे तृतीय भाग न्यून विस्तार सभी मुक्त जीव का होता है।[1]

स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा में जो संकोच और विस्तार होता है वह कर्मजन्य शरीर के कारण से है। मुक्तात्माओं में शरीराभाव होने से उनमें संकोच और विस्तार नहीं हो सकता। मुक्तात्माओं में जो आकृति की कल्पना की गयी है वह अन्तिम शरीर के आधार से की गयी है। मुक्त जीव में रूपादि का अभाव है तथापि आकाश प्रदेशों में जो आत्म प्रदेश ठहरे हुए हैं उस अपेक्षा से आकार कहा है।

जैन-दर्शन की प्रस्तुत मान्यता सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की मान्यता से पृथक है। यह जैन-दर्शन की अपनी मौलिक देन है। इसका मूल कारण यह है कि कितने ही दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं तो कितने ही दर्शन आत्मा को अणु मानते हैं। इस कारण मोक्ष में आत्मा का परिणाम क्या है उसे वे स्पष्ट नहीं कर सके हैं, किन्तु जैन-दर्शन की मध्यम परिणाम की मान्यता होने से मुक्ति दशा में आत्मा के परिणाम के सम्बन्ध में एक निश्चित मान्यता है।

जैन-दर्शन के अनुसार मुक्त आत्म-द्रव्य में सहभू-चेतना, आनन्द आदि शक्तियाँ अनावृत होकर पूर्ण विशुद्ध रूप से ज्ञान, सुख आदि रूप में प्रतिपल प्रतिक्षण परिणमन करती रहती है, वह मात्र कूटस्थनित्य नहीं अपितु शक्ति रूप से नित्य होने पर प्रति समय होने वाले नित्य नूतन सदृश परिणाम प्रवाह के कारण परिणामी है। यह जैन-दर्शन का मोक्षकालीन आत्मस्वरूप अन्य दर्शनों से अलग-थलग है। उसमें अन्य दर्शनों के साथ समानता भी है। द्रव्य रूप से स्थिर रहने के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक दर्शनों के साथ इसका मेल बैठता है और सांख्य-योग एवं अद्वैत दर्शनों के साथ सहभू-गुण की अभिव्यक्ति या प्रकाश सम्बन्ध में समानता है। यद्यपि योगाचार या विज्ञानवादी बौद्ध शाखा के ग्रन्थों से यह बहुत स्पष्ट रूप से फलित नहीं होता, तथापि यह ज्ञात होता है कि वह मूल में क्षणिकवादी होने से मुक्तिकाल में आलय विज्ञान को विशुद्ध मानकर

---

1 उत्तराध्ययन, ३६।६५।

उसका निरन्तर क्षण प्रवाह माने तभी बौद्ध दर्शन की मोक्षकालीन मान्यता संगत बैठ सकती है। यदि वे इस प्रकार मानते हैं तो जैनदर्शन की मान्यता के अत्यधिक सन्निकट है।

मुक्त ब्रह्मभूत या निर्वाण-प्राप्त आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन के पश्चात् यह प्रश्न है कि विदेह मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् आत्मा कौन-से स्थान पर रहता है क्योंकि चेतन या अचेतन जो द्रव्य रूप है उसका स्थान अवश्य होना चाहिए।

दार्शनिकों ने प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर मान्यता भेद होने से विविध दृष्टियों से दिया है।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य और योग जिस प्रकार आत्मा को व्यापक मानते हैं उसी प्रकार अनेक आत्मा मानते हैं, वे आत्म-विभुत्ववादी भी हैं और आत्म बहुत्व-वादी भी हैं। उनकी दृष्टि से मुक्त अवस्था का क्षेत्र सांसारिक क्षेत्र से पृथक नहीं है। मुक्त और संसारी आत्मा में अन्तर केवल इतना ही है कि जो सूक्ष्म शरीर अनादि अनन्तकाल से आत्मा के साथ लगा था, जिसके परिणामस्वरूप नित्य-नूतन स्थूल शरीर धारण करना पड़ता था, उसका सदा के लिए सम्बन्ध नष्ट हो जाने से स्थूल शरीर धारण करने की परम्परा भी नष्ट हो जाती है। जीवात्मा या पुरुष परस्पर सर्वथा भिन्न होकर मुक्ति दशा में भी अपने-अपने भिन्न स्वरूप में सर्वव्यापी है।

केवलाद्वैतवादी ब्रह्मवादी भी ब्रह्म या आत्मा को व्यापक मानते हैं किन्तु न्याय-वैशेषिक, सांख्य और योग के समान जीवात्मा का वास्तविक बहुत्व नहीं मानते। उनका मन्तव्य है कि मुक्त होने का अर्थ है सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरण का सर्वथा नष्ट होना, उसके नष्ट होते ही उपाधि के कारण जीव की ब्रह्मस्वरूप से जो पृथकता प्रतिभासित होती थी, वह नहीं होती। तत्त्व रूप से जीव ब्रह्म स्वरूप ही था, उपाधि नष्ट होते ही वह केवल ब्रह्म स्वरूप का ही अनुभव करता है। मुक्त और संसारी आत्मा में अन्तर यही है कि एक में उपाधि है, दूसरे में नहीं है। उपाधि के अभाव में परस्पर भेद नहीं है, वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है।

अणुजीवात्मवादी वैष्णव परम्पराओं की कल्पनाएँ पृथक-पृथक हैं। रामानुज विशिष्टाद्वैती हैं। वे वस्तुतः जीव-बहुत्व को मानते हैं किन्तु जीव का परब्रह्म वासुदेव से सर्वथा भेद नहीं है। जब जीवात्मा मुक्त होता है तब वासुदेव के धाम वैकुण्ठ या ब्रह्मलोक में जाता है, वह वासुदेव के सान्निध्य में उसके अंश रूप से उसके सदृश होकर रहता है।

मध्व जो अणुजीववादी है वे जीव को परब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं। किन्तु मुक्त जीव की स्थिति विष्णु के सन्निधान में अर्थात् लोक विशेष में कल्पित करते हैं।

शुद्धाद्वैती वल्लभ भी अणुजीववादी हैं किन्तु साथ ही वे परब्रह्म परिणाम-वादी हैं। उनका मन्तव्य है कि कुछ भक्त जीव ऐसे हैं जो मुक्त होने पर अक्षर

ब्रह्म में एक रूप हो जाते हैं और दूसरे पुष्टि भक्ति जीव ऐसे हैं जो परब्रह्म स्वरूप होने पर भी भक्ति के लिए पुनः अवतीर्ण होते हैं और मुक्तवत् संसार में विचरण करते हैं।

बौद्ध दृष्टि से

बौद्ध दर्शन की दृष्टि से जीव या पुद्गल कोई भी शाश्वत द्रव्य नहीं है, अतः पुनर्जन्म के समय वे जीव का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना नहीं मानते हैं। उनका अभिमत यह है कि एक स्थान पर एक चित्त का निरोध होता है और दूसरे स्थान पर नये चित्त की उत्पत्ति होती है।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से प्रश्न किया कि पूर्वादि दिशाओं में ऐसा कौन-सा स्थान विशेष है जिसके सन्निकट निर्वाण स्थान की अवस्थिति है ?

आचार्य ने कहा—निर्वाण स्थान कहीं किसी दिशा विशेष में अवस्थित नहीं है, जहाँ पर जाकर वह मुक्तात्मा निवास करती हो।

प्रतिप्रश्न किया गया—जैसे समुद्र में रत्न, फूल में गन्ध, खेत में धान्य आदि का स्थान नियत है वैसे ही निर्वाण का स्थान भी नियत होना चाहिए। यदि निर्वाण का स्थान नहीं है तो फिर यह क्यों नहीं कहते कि निर्वाण भी नहीं है।

नागसेन ने कहा—राजन् ! निर्वाण का नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कहीं पर बाहर नहीं है। उसका साक्षात्कार अपने विशुद्ध मन से करना पड़ता है। जैसे दो लकड़ियों के संघर्ष से अग्नि पैदा होती है। यदि कोई यह कहे कि पहले अग्नि कहाँ थी तो यह नहीं कहा जा सकता वैसे ही विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार होता है, किन्तु उसका स्थान बताना सम्भव नहीं।

राजा ने पुनः प्रश्न किया—हम यह मानलें कि निर्वाण का नियत स्थान नहीं है, तथापि ऐसा कोई निश्चित स्थान होना चाहिए जहाँ पर अवस्थित रहकर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके।

आचार्य ने उत्तर देते हुए कहा—राजन् ! पुद्गल शील में प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश में रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है।[1]

जैन दर्शन

जैन दर्शन की दृष्टि से आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्वगमन है।[2] जब वह कर्मों से पूर्ण मुक्त होता है तब वह ऊर्ध्वगमन करता है और ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर

---

1 मिलिन्द प्रश्न ४।८।९२-९४।

2 (क) उत्तराध्ययन १९।८२।
(ख) प्रशमरति प्रकरण २९४ का भाष्य।
(ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक

अवस्थित होता है क्योंकि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है अतः वह आगे जा नहीं सकते। वह लोकाग्रवर्ती स्थान सिद्धाशिला के नाम से विश्रुत है। जैन साहित्य में सिद्धशिला का विस्तार से निरूपण है, वैसा निरूपण अन्य भारतीय साहित्य में नहीं है।

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि जैन दृष्टि से मानव लोक ४५ लाख योजन का माना गया है तो सिद्ध क्षेत्र भी ४५ लाख योजन का है। मानव चाहे जिस स्थान पर रहकर साधना के द्वारा कर्म नष्ट कर मुक्त हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष आत्मा का पूर्ण विकास है और पूर्ण रूप से दुःख-मुक्ति है।

मोक्ष-मार्ग

अब हमें मोक्ष-मार्ग पर चिन्तन करना है। जिस प्रकार चिकित्सा पद्धति में रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य — इन चार बातों का ज्ञान परमावाश्यक है।[1] वैसे ही आध्यात्मिक साधना पद्धति में (१) संसार, (२) संसार-हेतु, (३) मोक्ष, (४) मोक्ष का उपाय, इन चार का ज्ञान परमावश्यक है।[2]

वैदिक परम्परा का वाङ्मय अत्यधिक विशाल है। उसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, प्रभृति अनेक दार्शनिक मान्यताएँ हैं। किन्तु उपनिषद् एवं गीता ऐसे ग्रन्थरत्न हैं जिन्हें सम्पूर्ण वैदिक परम्पराएँ मान्य करती हैं। उन्हीं ग्रन्थों के चिन्तन-सूत्र के आधार पर आचार्य पतंजलि ने साधना पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उसमें हेय[3], हेयहेतु[4], हान[5], और हानोपाय[6], इन बातों पर विवेचन किया है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी इन चार बातों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है।[7]

तथागत बुद्ध ने इन चार सत्यों को आर्य सत्य कहा है: (१) दुःख (हेय) (२) दुःख समुदय (हेयहेतु) (३) दुःख निरोध (हान) (4) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् (हानोपाय)।[8]

---

1 चरकसंहिता स्थान अ० श्लो० १२८-३०।

2 योगदर्शन भाष्य २१-१५।

3 योग दर्शन साधना पाद १६।

4 वही० १७।

5 वही० २५।

6 वही० २८।

7 न्याय भाष्य १।१।१।

8 मज्झिमनिकाय—भयभेख सुत्त ४

जैन दर्शन ने इन चार सत्यों को (१) वन्ध (२) आस्रव (३) मोक्ष (४) संवर के रूप में प्रस्तुत किया है।

वन्ध—शुद्ध चैतन्य के अज्ञान से राग-द्वेष प्रभृति दोषों का परिणाम है, इसे हम हेय अथवा दुःख भी कह सकते हैं।

आस्रव का अर्थ है जिन दोषों में शुद्ध चैतन्य बंधता है या लिप्त होता है, इसे हम हेयहेतु या दुःख समुदय भी कहते हैं।

मोक्ष का अर्थ है—सम्पूर्ण कर्म का वियोग। इसे हम हान या दुःखनिरोध कह सकते हैं।

संवर—कर्म आने के द्वार का रोकना यह मोक्ष मार्ग है। इसे हम हानोपाय या निरोध मार्ग भी कह सकते हैं।

सामान्य रूप से चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं ने चार सत्यों का माना है। संक्षेप में चार सत्य भी दो में ही समाविष्ट किये जा सकते हैं :

(१) वंध, जो दुःख या संसार का कारण है, और (२) उस बंध को नष्ट करने का उपाय।

प्रत्येक आध्यात्मिक साधना में संसार का मुख्य कारण अविद्या माना है। अविद्या से ही अन्य राग-द्वेष, कषाय-क्लेश आदि समुत्पन्न होते हैं। आचार्य पतंजलि ने अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों का निर्देश कर अविद्या में सभी दोषों का समावेश किया है। उन्होंने अविद्या को सभी क्लेशों की प्रसव भूमि कहा है।[1] इन्हीं पाँच क्लेशों को ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में पाँच विपर्यय के रूप में चित्रित किया है।[2] महर्षि कणाद ने अविद्या को मूल दोष के रूप में बताकर उसके कार्य के रूप में अन्य दोषों का सूचन किया है।[3] अक्षपाद अविद्या के स्थान पर "मोह" शब्द का प्रयोग करते हैं। मोह को उन्होंने सभी दोषों में मुख्य माना है। यदि मोह नहीं है तो अन्य दोषों की उत्पत्ति नहीं होती।[4]

कठोपनिषद्[5], श्रीमद्भगवद्गीता[6] और ब्रह्मसूत्र में भी अविद्या को मुख्य दोष माना है।

---

1 योग दर्शन २।३-४।

2 सांख्यकारिका ४७-४८।

3 देखिये—प्रशस्तपाद भाष्य, संसारापवर्ग।

4 (क) न्याय सूत्र ४।१।३, न्याय सूत्र ४।१।६।
(ख) न्याय सूत्र का भाष्य भी देखें।

5 कठोपनिषद् १।२।५।

6 श्रीमद्भगवद्गीता ५।१५।

मज्झिमनिकाय आदि ग्रन्थों में तथागत बुद्ध ने संसार का मूल कारण अविद्या को बताया है। अविद्या होने से ही तृष्णादि दोष समुत्पन्न होते हैं।[1]

जैन-दर्शन ने संसार का मूल कारण दर्शनमोह और चारित्रमोह को माना है। अन्य दार्शनिकों ने जिसे अविद्या, विपर्यय, मोह या अज्ञान कहा है उसे ही जैन दर्शन ने दर्शनमोह या मिथ्यादर्शन के नाम से अभिहित किया है। अन्य दर्शनों ने जिसे अस्मिता, राग, द्वेष या तृष्णा कहा है—उसे जैन दर्शन ने चारित्रमोह या कषाय कहा है। इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन परम्परा संसार का मूल अविद्या या मोह का समावेश उसमें करती हैं।

संसार का मूल अविद्या है तो उससे मुक्त होने का उपाय विद्या है। एतदर्थ कणाद ने विद्या का निरूपण किया है। पतंजलि ने उस विद्या को विवेकख्याति कहा है। अक्षपाद ने विद्या और विवेक ख्याति के स्थान पर तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान पद का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य में उसके लिए मुख्य रूप से 'विपस्सना' या 'प्रज्ञा'[2] शब्द व्यवहृत हुए हैं। जैन दर्शन में भी सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनों की परम्पराएँ विद्या, तत्त्वज्ञान, सम्यग्ज्ञान, आदि से अविद्या या मोह का नाश मानती हैं और उससे जन्म परम्परा का अन्त होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से अविद्या का अर्थ है अपने निज स्वरूप के ज्ञान का अभाव। आत्मा, चेतन या स्वरूप का अज्ञान की मूल अविद्या है। यही संसार का मूल कारण है।

वैदिक परम्परा ने साधना के विविध रूपों का वर्णन किया है किन्तु संक्षेप में गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों अंगों रर प्रकाश डाला है।

तथागत बुद्ध ने (१) सम्यग्दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति, और (८) सम्यक् समाधि को आर्य अष्टांगिक मार्ग कहा है[3] और मार्गों में उसे श्रेष्ठ बताया है।[4] बुद्धघोष ने संक्षेप में उसे शील, समाधि और प्रज्ञा कहा है।[5]

जैन दर्शन ने[6] साधना के मार्ग पर गहराई से अनुचिन्तन करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष-मार्ग कहा है। कहीं पर उसमें तप का भी

---

1 मज्झिमनिकाय महा तन्हा संखय सुत्त ३
2 विशुद्धि मग्ग १।७।
3 मज्झिमनिकाय सम्मादिट्ठि सुत्तन्त ९।
4 मग्गानं अटंठ्गिको सेट्ठो।
5 विशुद्धि मार्ग।
6 तत्त्वार्थ सूत्र १।१।

समावेश किया गया है[1] किन्तु जैन मुनियों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र में करके साधना के त्रिविध मार्ग को ही प्रमुखता प्रदान की है। यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि त्रिविध मार्ग का ही विधान क्यों किया गया? समाधान है–मानवीय चेतना के तीन पहलू हैं—ज्ञान, भाव और संकल्प। चेतना के इन तीनों पक्षों के विकास के लिए त्रिविध साधना है। भावात्मक पक्ष को सही दिशा प्रदान करने हेतु सम्यग्दर्शन है। ज्ञानात्मक पक्ष को सही दिशा संदर्शन के लिए सम्यग्ज्ञान का विधान है और संकल्पात्मक पक्ष को सही बोध प्रदान हेतु सम्यक्चारित्र का प्ररूपण किया गया है।

जैन दर्शन की तरह ही बौद्ध दर्शन में भी त्रिविध साधना मार्ग का विधान किया है। उन्होंने शील, समाधि और प्रज्ञा[2] यह त्रिविध साधना मार्ग माना है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो सम्यग्दर्शन की तुलना समाधि से कर सकते हैं क्योंकि समाधि और सम्यग्दर्शन दोनों में संकल्प-विकल्प नहीं होते। सम्यग्ज्ञान की तुलना प्रज्ञा से की जा सकती है और सम्यक्चारित्र की तुलना शील से।

श्रीमद् भगवद्गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति का निरूपण है। भक्ति में श्रद्धा की प्रमुखता होती है इसलिए वह सम्यग्दर्शन का प्रतीक है। भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग को हम क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र कह सकते हैं।

वैदिक परम्परा के चिन्तकों ने परम सत्ता के तीन पक्ष माने हैं— सत्य, शिव, सुन्दर। इन तीनों पक्षों के लिए त्रिविध साधना मार्ग का विधान है। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, शिव की उपलब्धि के लिए सेवा या कर्म और सुन्दर की उपलब्धि के लिए भाव व श्रद्धा। गीता में[3] प्रकारान्तर से प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इन साधना मार्गों का भी उल्लेख है। इनमें प्रणिपात श्रद्धा, परिप्रश्न ज्ञान और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में त्रिविध साधना का उट्टंकन है। श्रवण में श्रद्धा, मनन में ज्ञान और निदिध्यासन में कर्म की प्रधानता है।

पाश्चात्य चिन्तकों ने भी तीन नैतिक आदेश बताये हैं[4]–नो दाइसेल्फ, एक्सेप्ट दाइसेल्फ और बी दाईसेल्फ [अपने को जानो, अपने को स्वीकार करो, अपने में बने रहो] ये तीन नैतिक आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ही समकक्ष कहे जा सकते हैं। आत्म-ज्ञान में ज्ञान, आत्म-स्वीकृति में श्रद्धा और आत्म-निर्माण में चारित्र की स्वीकृति है।

---

1 उत्तराध्ययन २८।२।

2 सुत्तनिपात २८।८।

3 गीता ४।४, ४।३६।

4 साइकोलजी एण्ड मारल्स, पृष्ठ १८०।

भारतीय चिन्तन में कितने ही चिन्तकों ने साधना के इन त्रिविध माध्यमों में से किसी एक मार्ग को प्रमुखता दी है और उससे मुक्ति स्वीकार की है—जैसे आचार्य शंकर ने ज्ञान को अत्यधिक महत्व दिया है, रामानुज आदि ने भक्ति-मार्ग को प्रमुखता दी है। पर जैन दार्शनिकों ने किसी एकान्तवाद को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण में निर्मलता नहीं आती और बिना सम्यक्आचरण के मुक्ति नहीं है।

इसकी तुलना सुकरात, प्लेटो आदि ग्रीक दार्शनिकों द्वारा उल्लिखित जीवन के तीन लक्ष्य—ट्रुथ (सत्य), ब्यूटी (सौन्दर्य) और गुडनेस (अच्छाई) के साथ की जा सकती है।

इस प्रकार समन्वय की दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञान, भक्ति और कर्म; शील, समाधि और प्रज्ञा; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह मोक्ष-मार्ग है। शब्दों में अन्तर होने पर भी भाव सभी का एक जैसा है। शब्द-जाल में न उलझकर सत्य तथ्य की ओर ध्यान दिया जाये तो भारतीय दर्शनों में मोक्ष और मोक्ष-मार्ग की कितनी समानता है, यह सहज ही परिज्ञात हो सकेगा।

२

ईश्वर : एक चिन्तन

[प्रथम विभाग]

प्रास्ताविक

एक प्रश्न जीवन के उषाकाल से ही मानव मस्तिष्क में घूम रहा है—ईश्वर है या नहीं ? यदि है तो उसका क्या रूप है ? विश्व के जितने भी चिन्तक और धर्म-गुरु हुए, उनके मस्तिष्क को यह प्रश्न झकझोरता रहा । जिस प्रकार यह प्रश्न सनातन काल से चला आ रहा है उसी प्रकार उसका उत्तर भी सनातन काल से दिया जाता रहा है । प्रत्येक चिन्तक ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार समाधान करने का प्रयास किया है ।

हम यहाँ पर सर्वप्रथम भारतीय चिन्तकों की दृष्टि से ईश्वर का क्या स्वरूप रहा है ? और जन-मानस में ईश्वर की क्या धारणा रही है ? इस पर चिन्तन करने के पश्चात् विश्व के विविध अंचलों में फैले हुए प्राचीन तथा अर्वाचीन धर्म, दर्शन और विज्ञान के आलोक में ईश्वर का क्या रूप रहा, कालक्रम की दृष्टि से उसमें किस प्रकार परिवर्तन होते रहे ? उस पर विहंगावलोकन करेंगे, जिससे कि ईश्वर के सम्बन्ध में एक स्पष्ट रूपरेखा परिज्ञात हो सके । आलोचना व प्रत्यालोचना कर जन-मानस को विक्षुब्ध करने का हमारा उद्देश्य नहीं है । हमारा उद्देश्य है कि मानव उदात्त दृष्टिकोण से अनेकान्त के आलोक में सत्य तथ्य को समझें; किसी भी रूढ़िगत चिन्तन में न उलझ कर खुले दिमाग से जिज्ञासु-बुद्धि से उस विचार करें । भगवान् महावीर ने साधकों को यही प्रेरणा दी कि—"मैं कह रहा हूँ, इसीलिए तुम उसको स्वीकार न करो, किन्तु बुद्धि के जगमगाते आलोक में सत्य को समझ कर उसे ग्रहण करो ।"

"पन्ना समिक्खिए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं ।"

वेदों में ईश्वर

आधुनिक मनीषियों का मन्तव्य है कि उपलब्ध विश्व-साहित्य में ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रन्थ है । प्रस्तुत ग्रन्थ में ईश्वर के सम्बन्ध में चिन्तन प्रारम्भ हुआ । प्रारम्भिक युग में प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा को निहार कर मानव प्रमुदित तथा उसके उग्र रूप को देखकर भयभीत हुआ । वह सोचने लगा—इस प्रकृति के पीछे कोई न कोई विशिष्ट दैवी-शक्ति है, जिसके कारण ही प्रतिपल-प्रतिक्षण नित्य नये दृश्य दिखायी

दे रहे हैं। सूर्य की चिलचिलाती धूप, उमड़-घुमड़ कर घनघोर गर्जना करने वाली मेघ-घटाएँ, चंचल चपला की चमक, इन्द्रधनुष का सुहावना दृश्य, संध्या और उषा की सुहावनी सुषमा, चन्द्रमा की चारु चन्द्रिका, ग्रह-नक्षत्रों की जगमगाहट, समुद्र का गम्भीर गर्जन-तर्जन, सरिता का सरस संगीत, पक्षियों का कलरव, गगनचुम्बी पर्वत-मालाएँ, जाज्वल्यमान अग्नि, भीष्म ग्रीष्म की ऊष्मा, सनसनाती सर्दी, प्रलयंकारी आँधी, शीतल मन्द सुगन्धित पवन, सुन्दर वृक्षावली, रंग-बिरंगे विकसित पुष्प तथा अद्‌भुत पशु-पक्षियों को देखकर मानव विस्मय से विमुग्ध बन गया और उनमें दैवी-शक्ति का आरोप कर उसने उनकी स्तुतियाँ करना प्रारम्भ किया। ऋग्वेद में द्यौः, मरुत, इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, पर्जन्य प्रभृति में ईश्वर की कल्पना कर उनकी स्तुतियाँ की गयी हैं। उसके पश्चात् अदिति, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि अमूर्त्त कल्पनाओं का दैवीकरण किया गया। वैदिक कालीन देव रहस्यमय, दिव्यता और भव्यता के पुनीत प्रतीक रहे हैं। उनके अन्तर्मानस में दया की निर्मल भावना है, वे संसार का कल्याण करने के इच्छुक हैं। वे मानवों के उद्धार के लिए अवतार भी ग्रहण करते हैं। उनमें क्रूरता का पूर्ण अभाव है।

वैदिक परम्परा के ऋषि जब किसी भी देव की स्तुति करते हैं, तब उस देव को सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ मानकर उसकी स्तुति करते हैं। इन्द्र की स्तुति करते समय इन्द्र को इतनी अधिक प्रधानता दी गयी है कि पाठक को यह अनुभव होने लगता है कि इन्द्र ही सब कुछ है। पर वही ऋषि जब अग्नि की स्तुति करता है तो अग्नि की गौरव-गरिमा में ही उसके स्वर मुखरित होते हैं। जब वह वरुण या अन्य किसी स्तुति करता है तो उसी में लीन हो जाता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह केवल इन्द्र को ही आधार मानता है, अग्नि को नहीं। वेद में बहुदेववाद के साथ-साथ एकेश्वरवाद के बीज भी सन्निहित हैं, ऐसा वेद-साहित्य के मर्मज्ञों का मानना है।

ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी देववाद की वे स्वर-लहरियाँ झनझनाती रही हैं।

वेदों के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थ आते हैं। उन ग्रन्थों में देवी-देवताओं की संख्या में अभिवृद्धि हुई। उन्होंने ग्राम देवता, नगर देवता, वंश देवता आदि को भी देव-कोटि में रखा है। जातिभेद के अनुसार देवताओं के भी विभिन्न स्तर प्राप्त होते हैं।

उपनिषद् युग में ईश्वर

उपनिषद् युग भारतीय चिन्तन के इतिहास में एक नये युग का प्रतीक है। वैदिक विचारधारा श्रमण विचारधारा से प्रभावित हुई तब उपनिषद् युग में वैदिक विचारधारा में तीव्रता के साथ गम्भीरता, आध्यात्मिकता और तपश्चर्या आदि का समावेश हुआ। उपनिषद् वेदों के ही अन्तिम भाग माने जाते हैं। वेदों में प्राकृतिक तत्वों की प्रधानता के आलोक में चिन्तन होता रहा, जबकि उपनिषदों में आत्म-तत्व के सम्बन्ध में गम्भीर अनुचिन्तन प्रारम्भ हुआ। मानव बहिर्मुख से अन्तर्मुख

हुआ। उपनिषद् काल में दार्शनिक चिन्तन मुख्य रूप से हुआ। परमतत्व के स्वरूप और उसकी उपलब्धि के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से चिन्तन किया गया। हम यह कह सकते हैं कि सुदीर्घ काल तक ऋषि-मुनियों ने जो चिन्तन किया, उस चिन्तन को उपनिषदों में मूर्त्त रूप दिया गया है। उपनिषद् युग में ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड ये दोनों पृथक्-पृथक् हुए। इसके पूर्व ज्ञानकाण्ड यदि था तो वह नगण्य-सा था।

उपनिषद् युग में वेदकालीन बहुदेवता सम्बन्धी जो विचार गहराई से पनप रहे थे उनके स्थान पर एक सर्वशक्तिमान, अनन्त, नित्य, अनिर्वचनीय, स्वयंभू के रूप में ईश्वर की कल्पना की गयी। वह स्वयंभू विश्व का स्रष्टा, रक्षक और संहारकर्त्ता माना गया। उस स्वयंभू का वर्णन करते हुए उपनिषद्कारों ने लिखा—वह ज्योतिर्मय है, विश्व का जीवन है, अद्वितीय है। वही एक अर्चनीय है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य से पूछा गया—"देव कितने हैं?" उन्होंने उत्तर में 'एक देव'[1] बताया।

पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की गयी–अग्नि, वायु आदित्य, अन्न, रुद्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश इनमें से सर्वश्रेष्ठ कौन है?

उत्तर में उन्होंने कहा—"ये सभी मुख्य रूप से सबसे ऊँचे, अमर, निराकार ब्रह्म के ही विविध रूप हैं। मानव चाहे तो इन रूपों का भी ध्यान कर सकता है और चाहे तो इनका परित्याग भी कर सकता है।"[2]

ब्रह्म का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—ब्रह्म के बिना न आग जल सकती है और न वायु एक तृण को भी उड़ा सकती है। ब्रह्म के भय से ही आग जलती है, सूर्य चमकता है, वायु प्रवाहित होती है, मेघ बरसता है और सभी अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।[3] इस प्रकार एकेश्वरवाद की संस्थापना हुई।

उपनिषद् युग के अन्तिम चरण में रुद्र और विष्णु, जो वेदकाल में गौण देवता माने गये थे, उनका भी प्राबल्य बढ़ा। ये देव पुराण युग में शिव और विष्णु के रूप में परम तत्व के स्थान पर प्रतिष्ठापित हुए। पर ब्रह्म तत्त्व एक होने पर भी विभिन्न नामों से वह जाना पहचाना गया।

---

1 वृहदारण्यकोपनिषद्, ३ : ६-१।

2 (क) मैत्रायणी उपनिषद्, ४ : ५-६।
(ख) मुण्डकोपनिषद् १-१-१।
(ग) तैत्तिरीय—१ : ५।
(घ) वृहदारण्यक—१ : ४-६, १ : ४-७ तथा १ : ४-१०।

3 तैत्तिरीयोपनिषद्।

पौराणिक युग में ईश्वर

पौराणिक युग में उस परब्रह्मतत्व की विविध नामों से उपासना प्रारम्भ हुई। इस प्रकार वैदिक काल से पुराणकाल तक ईश्वर सम्बन्धी जो चिन्तन हुआ और जो उसका स्वरूप निश्चित हुआ, उपर्युक्त पंक्तियों में संक्षेप में उसकी झाँकी प्रस्तुत की गयी है।

वैदिक साहित्य के आधार पर ईश्वर सम्बन्धी दिग्दर्शन के पश्चात् अब विभिन्न दर्शनशास्त्रों को भी टटोल लेना आवश्यक है। अतएव अब यह देखना है कि दर्शनशास्त्रों में ईश्वर के विषय में क्या अवधारणाएँ और मान्यताएँ हैं?

न्याय और वैशेषिक दृष्टि से ईश्वर

भारतीय दर्शनों में न्याय और वैशेषिक दर्शन चेतन और अचेतन के सम्बन्ध में बहुत्ववादी दृष्टिकोण रखते हैं। वैशेषिक दर्शन के आद्य प्रणेता कणाद ने ईश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से विचार चर्चा नहीं की है। किन्तु प्रशस्तपाद ने, जिन्होंने वैशेषिक दर्शन पर भाष्य लिखा है, महेश्वर को सृष्टि के कर्त्ता और संहर्त्ता के रूप में विस्तार से चित्रित किया है।[1] उन्होंने अपने भाष्य में यह भी बताया है कि महेश्वर शुभाशुभ कर्म के अनुसार सर्जन भी करता है और संहार भी करता है।

न्यायदर्शन के निर्माता 'गौतम' हैं। उनका अपर नाम 'अक्षपाद' भी है। उन्होंने 'न्यायसूत्र' में ईश्वर की चर्चा बहुत ही संक्षेप में की है।[2] पर 'न्याय सूत्र' के भाष्यकार 'वात्स्यायन' ने ईश्वर की चर्चा बहुत ही विस्तार के साथ की है। भाष्य के समर्थ व्याख्याकार उद्द्योतकर और टीकाकार वाचस्पति मिश्र हैं, उन्होंने प्रबल प्रमाण और तर्क देकर ईश्वर के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और कृतित्व की संस्थापना की।

वात्स्यायन, उद्द्योतकर और वाचस्पति मिश्र ने केवल ईश्वर की सृष्टि के निर्माणकर्ता और नियन्ता के रूप में ही संस्थापना नहीं की, अपितु उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ईश्वर जगत् को बनाने वाला है, किन्तु वह कर्म जीव सापेक्ष है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि कितने ही दार्शनिक चिन्तक ईश्वर को कर्त्ता मानते थे और उसकी संस्थापना करने के लिए वे प्रबल तर्क प्रदान करते थे। कोई अनुमान के आधार पर सिद्ध करते थे तो कितने ही दार्शनिक आगम के आधार को प्रमुखता देते थे। यदि उससे भी अपने मन्तव्य की पुष्टि नहीं

---

1 प्रशस्तपादभाष्यगत सृष्टि संहारप्रक्रिया।

2 ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।
न पुरुष कर्म्माभावे फलानिष्पत्तेः तत्कारितत्वादहेतुः।
—न्यायसूत्र–४, १, १६–२१.

होती देखते तो अन्य साधक प्रमाणों को भी उपस्थित करते थे। नकुलीश, पाशुपत और शैवों में इस विषय में एकमत नहीं था। सारांश यह है कि न्यायदर्शन मुख्य रूप से ईश्वर के कर्तृत्व-स्थापना के सम्बन्ध में अनुमान पर आधृत है। इस सत्य-तथ्य को उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र ने भी स्वीकार किया है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन ने ईश्वर की एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में संस्थापना की और साथ ही उसे कर्ता और नियन्ता के रूप में भी चित्रित किया है। इस सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण भी किया गया। न्याय और वैशेषिक दर्शन के चिन्तकों में 'उदयन' प्रबल प्रतिभा के धनी, विज्ञ थे। उन्होंने ईश्वर की संस्थापना के लिए ही "न्याय कुसुमांजलि" ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने अपनी दृष्टि से अनीश्वरवादियों के तर्क का खण्डन किया है और महेश्वर को कर्ता और नियन्ता के रूप में प्रस्तुत किया है।

सांख्य और योग की दृष्टि से ईश्वर

भारतीय दर्शनों की परम्परा में सांख्य और योग दर्शन का भी अपना गौरव-पूर्ण स्थान है। सांख्य और योग दर्शन के आद्य प्रवर्तक महर्षि कपिल और पतंजलि माने जाते हैं। सांख्य और योग दर्शन में चौबीस या पच्चीस तत्व ही नहीं माने गये हैं, अपितु छब्बीस तत्व भी माने हैं। जैसे सांख्य और योग में स्वतन्त्र पुरुष-बहुत्व का स्थान है। स्वतन्त्र रूप से पुरुष विशेष ईश्वर का भी स्थान है। मूर्धन्य मनीषियों का अभिमत है कि पातंजल सूत्र से पूर्व भी योग मार्ग के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ थे। वे हिरण्यगर्भ[1] या स्वयंभू[2] से नाम से योग मार्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उस योग मार्ग में ईश्वर का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्थान था। किन्तु पूर्ण निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि पुरुष विशेष रूप ईश्वर को केवल साक्षी, उपास्य या जप रूप में ही वे मानते थे या न्याय, वैशेषिक दर्शन के समान ईश्वर को स्रष्टा, नियन्ता और संहर्ता के रूप में मानते थे। वर्तमान में पतंजलि का जो योग-सूत्र उपलब्ध है. उसके आधार से यह साधिकार कहा जा सकता है कि पहले योग परम्परा में ईश्वर का स्थान साक्षी या उपास्य के रूप में रहा है।[3] किन्तु इसके पश्चात् योग-सूत्र के भाष्यकार ने ईश्वर को पतितों के उद्धारक के रूप में चित्रित किया है। भाष्यकार का मंतव्य है कि ईश्वर भूतों पर अनुग्रह करता है और विश्व के समस्त प्राणियों को ज्ञान की निर्मल गंगा बहाकर और धर्म से जीवन को रंग कर

---

1 Origin and Development of Samkhya System of Thought, p. 49.

2 Buddhist Logic, Vol. I, pp. 17-20.

जन-जन का उद्धार करता है। वह यह दृढ़ संकल्प करता है कि मैं प्राणियों का उद्धार करूँगा। प्रस्तुत संकल्प का मूल आधार है सत्त्व गुण की प्रकृष्टता।[1]

व्यास ने भाष्य में यह स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया है कि वह पुरुष विशेष ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता और संहर्ता भी है। तथापि यह स्पष्ट है कि भाष्यकार ने ईश्वर को प्राणियों का उद्धारकर्ता माना है। उसके पश्चात् भाष्य के आधार से व्याख्या करने वाले वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु ने क्रमशः तत्ववैशारदी और योगवार्तिक में ये विचार स्पष्ट रूप से उट्टंकित किये हैं कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता है। उनकी संस्थापना का मूल आधार आगम-प्रमाण है।

मध्व वेदान्त दर्शन में द्वैत परम्परा के मूल प्रतिष्ठापक हैं, तथापि उनका दार्शनिक चिन्तन न्याय-वैशेषिक तत्वज्ञान से प्रभावित है। उन्होंने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता के आधार पर भाष्य लिखकर अपने मौलिक विचारों की संस्थापना की। न्याय-वैशेषिक तत्त्व ज्ञान के प्रभाव के कारण मध्व की परम्परा अन्य वेदान्तियों से पृथक् प्रतीत होती है। उन्होंने न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार अचेतन परमाणु और चेतन जीव के वास्तविक बहुत्व के अतिरिक्त सर्वथा स्वतन्त्र ईश्वर की व्यक्ति के रूप में संस्थापना की। उसमें ब्रह्म या विष्णु जैसे पद के द्वारा ईश्वर का निर्देश किया गया है। तथापि स्वरूप की दृष्टि से हम चिन्तन करें तो मध्व की परम्परा में ईश्वर के स्वरूप का जो चित्रण हुआ है, वह चित्रण न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग सदृश ही है। वह ईश्वर सृष्टि का कर्ता और संहर्ता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वर को प्राणि कर्म सापेक्ष्य कर्त्ता मानता है। वैसे मध्व भी मानता है, पर अन्तर यही है कि मध्व दर्शन ब्रह्मसूत्र के आधार से ईश्वर को ब्रह्म कहकर उसका विवेचन करता है, जबकि न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वर की संस्थापना करने के लिए ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् आदि का आधार नहीं लेते। उपनिषद् का आधार होने के कारण ही उनका ईश्वर कर्तृत्ववाद आगम प्रमाण पर आधृत है।

पूर्वमीमांसक, सांख्य, बौद्ध और जैन दर्शन स्वतन्त्र जीव बहुत्ववादी हैं। पर वे दर्शन जीव से पृथक् किसी भी ईश्वर तत्व को सृष्टि का कर्त्ता और संहर्ता नहीं मानते।

ब्रह्मवादी दृष्टि से ईश्वर

मध्व के अतिरिक्त अन्य ब्रह्मवादी दर्शन सामान्य रूप से एक तत्ववादी हैं। वह एक तत्व सांख्यदर्शनसम्मत प्रकृति या प्रधान नहीं अपितु उससे भिन्न ब्रह्मतत्व है। सांख्य का प्रधान तत्व मूल में अचेतन माना गया है तो ब्रह्मतत्व मूल में चिद्रूप माना

---

1 (क) प्रकृष्ट सत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः।

—योगभाष्य, १—२४।

(ख) तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्॥

—योगभाष्य, १—२५।

है । ये दोनों विचारधाराएँ मूल में एक तत्ववादी हैं, किन्तु अनुभवसिद्ध जड़-चेतन बहुत्व का स्पष्टीकरण प्रधानवादी सांख्यों ने प्रधान को स्वतन्त्र कर्ता का स्थान देकर और पुरुष बहुत्व स्वीकार करके वास्तविक बहुत्व की उपपत्ति की है और मूल एक ब्रह्मतत्ववादियों ने ब्रह्म को सहकारी उपाधि विशेषण प्रभृति विभिन्न नामों से अन्य तत्व को स्वीकार किया है । इस प्रकार स्पष्ट है, ये दोनों विचारधाराएँ मूल रूप से एक-तत्ववादी होने के बावजूद भी अपनी-अपनी दृष्टि से बहुत्व और नानात्व की उपपत्ति करती रही हैं । प्रकृतिवादी सांख्यदर्शन प्रकृति का स्वतन्त्र कर्तृत्व तर्क से संस्थापित करते हैं तो अन्य कितने ही प्रकृतिवादी उसकी संस्थापना उपनिषद् व ब्रह्मसूत्र आदि के आधार से करते हैं ।[1] उनका यह स्पष्ट मन्तव्य था कि मुख्य कार्य करने वाली प्रकृति है । पुरुष तो केवल कर्तृत्व भोक्तृत्व शून्य है । ब्रह्मवादियों को उनका यह मन्तव्य स्वीकार नहीं था । वे उसका प्रबल तर्कों से खण्डन करते हुए कहते हैं—प्रधान तत्व अचेतन है, वह विश्व का निर्माण और नियमन किस प्रकार कर सकता है? उसके लिए तो किसी अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न चेतन तत्त्व की अपेक्षा है । इस विचार संघर्ष ने जब उग्र रूप धारण किया तो ब्रह्मसूत्र की रचना हुई । ब्रह्मतत्व में मुख्य रूप से कर्तृत्व स्थापित किया गया । ब्रह्मसूत्र पर जितने भी भाष्य निर्मित हुए उन सभी ने एक स्वर से यह स्वीकार किया कि ब्रह्मतत्व ही विश्व का मुख्य और स्वतन्त्र कारण है । उन्होंने ईश्वर की परिभाषा भी की और साथ ही ब्रह्मतत्व में ही ईश्वर को घटाने का प्रयास किया है ।

ब्रह्मसूत्र के जितने भी भाष्य प्राप्त होते हैं, उन भाष्यों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं । एक विभाग में आचार्य शंकर को रख सकते हैं तो द्वितीय विभाग में भास्कर से लेकर चैतन्य तक अन्य आचार्यों को रख सकते हैं ।

आचार्य शंकर का अभिमत

आचार्य शंकर अद्वैतवादी हैं । पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य तत्व वे नहीं मानते । उनके सामने एक ज्वलन्त प्रश्न था कि ब्रह्म को कूटस्थ नित्य माना जाये तो वह परिणामी नहीं हो सकता और न उसमें बन्ध, मोक्ष और जीव भेद की व्यवस्था ही घटित हो सकती है । अतः उन्होंने मायावाद मानकर सभी प्रश्नों के समाधान करने का प्रयास किया है । यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने माया को एक स्वतन्त्र तत्व नहीं माना है क्योंकि स्वतन्त्र तत्व मानने से उनका अद्वैत सिद्धान्त टिक नहीं सकता था । अतः उन्होंने माया का सदसदनिर्वचनीय प्रभृति के रूप में वर्णन कर उसको न ब्रह्मतत्व से पृथक् माना है और न सर्वथा अपृथक् ही । वे उसे न सत् कहते

---

1 सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्ये नैव योजयन्तो व्यचक्षते । तेषां यद् व्याख्यानं तद् व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत् पूर्वंकृतम् । —ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, २।१

हैं और न असत् ही कहते हैं। तथापि माया को स्वीकार करके केवल अद्वैतवाद की उपपत्ति करते हैं। दृग्गोचर होने वाला जितना भी व्यावहारिक प्रपंच है उस सभी का मूल केन्द्र माया है। आचार्य शंकर ने माया के माध्यम से ब्रह्मतत्व के कूटस्थ नित्यत्व और केवलाद्वैतवाद दोनों की संस्थापना की।

उनके पश्चात उनके अद्वैतवाद सिद्धान्त को लेकर जो ज्वलन्त प्रश्न उद्‌बुद्ध हुए, उन सभी प्रश्नों का उत्तर उनके विद्वान शिष्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से देने का प्रयास किया। एक ही प्रश्न का उत्तर सर्वज्ञात्म मुनि अपने ढंग से प्रदान करते हैं तो उसी प्रश्न का उत्तर वाचस्पति मिश्र अपनी दृष्टि से प्रदान करते हैं और अन्य आचार्य उसके समाधान के लिए अपने तर्क अपनी दृष्टि से देते हैं। पर, सभी के समाधान की विशेषता यह रही कि उन्होंने आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित केवलाद्वैत को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं आने दी।[1]

आचार्य शंकर को मानने वाले चिन्तकों के सामने एक प्रश्न था—ब्रह्म, जीव और ईश्वर ये दोनों किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए उन्होंने कहा—"मायोपाधिक ब्रह्म ईश्वर है और अविद्योपाधिक ब्रह्म जीव है।" पुनः यह प्रश्न समुत्पन्न हुआ कि जिस माया के आश्रय से सृष्टि का सृजन ब्रह्म करता है, उस माया का स्वरूप क्या है? जो सृजन होता है वह कर्म सापेक्ष है या निरपेक्ष है? ईश्वर की संस्थापना अकाट्य तर्क से करनी चाहिए या आगम प्रमाण से? इन सभी प्रश्नों का विज्ञों ने समाधान इस प्रकार किया—परमेश्वर की बीज-शक्ति का नाम माया है; जो इस वास्तविक जगत् की रचना करती है। ईश्वर की यह अविद्यात्मिका बीज-शक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है। यह परमेश्वर में आश्रित होने वाली महा-सुषुप्ति-रूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं। यह माया ईश्वर की नित्य स्वरूप नहीं, ईश्वर की इच्छामात्र है जिसको वे जब चाहें छोड़ सकते हैं। माया ब्रह्म से अभिन्न और अच्छेद्य है। वही इस जगत को उत्पन्न करती है। माया सत् भी नहीं, असत् भी नहीं और उभय रूप भी नहीं है। वह अनिर्वचनीया है।

शांकर मत की दृष्टि से ईश्वर जगत का निमित्त कारण भी है एवं उपदान कारण भी। जगत की सृष्टि इच्छापूर्वक है। ईक्षणपूर्वक सृष्टि व्यापार करने वाला ईश्वर चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर निमित्त कारण और उपाधि (माया) पक्ष की दृष्टि से उपादान कारण है। ब्रह्म की जगत सृष्टि में माया को ही प्रधानतया कारण मानना उचित है।

---

[1] दास गुप्ता की "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसाफी" भाग ३ के पृष्ठ १९७-८ पर की पाद टिप्पणी, नं० २।

ईश्वर की संस्थापना आचार्य शंकर ने आगम एवं उपनिषदों के आधार पर की है। तर्क उस ईश्वर की संस्थापना में अनुकूल साधन है।

आचार्य शंकर ने सच्चिदानन्द ब्रह्म को ही ईश्वर माना है। उन्होंने न्याय, वैशेषिक मान्य स्वतन्त्र ईश्वर निमित्तवाद का और सांख्यसम्मत स्वतन्त्र प्रकृति के कर्तृत्ववाद का निरसन किया है। जो अनीश्वरवादी हैं उन्हें अवैदिक कहकर उनका निषेध किया किया।

सारांश यह है कि ब्रह्मवादियों ने ब्रह्म के पूर्ण कर्तृत्व की ईश्वर में संस्थापना की।

आचार्य शंकर से पूर्व अनेक मनीषियों ने ब्रह्मतत्व व्याख्याएँ कीं। पर वे आचार्य शंकर की तरह कैवलाद्वैती और मायावादी नहीं थे। उन्होंने ब्रह्म-तत्व को प्रकृति से पृथक् माना और साथ ही उसे परिणामी भी माना। यह सत्य-तथ्य है कि शंकर के पूर्व जो व्याख्याकार हुए हैं, उनके ग्रन्थ पूर्ण रूप से संप्राप्त नहीं होते, किन्तु उनके चिन्तन प्रवाह को विभिन्न आचार्यों ने विकसित किया है। उन आचार्यों में भर्तृप्रपंच का प्रथम स्थान है। उन्होंने ब्रह्मतत्व को परिणामी तथा परमात्मा को समुद्र तरंग न्याय से द्वैताद्वैत सिद्ध किया। उसी परम्परा में शंकरोत्तर युग के वेदान्ताचार्यों में भास्कर का नाम गौरव के साथ लिया जाता है। उन्होंने भी ब्रह्म-सूत्र पर भाष्य लिखा। उनके मतानुसार ब्रह्म सगुण, सलक्षण, बोधलक्षण और सत्यज्ञानानन्त लक्षण युक्त है। ब्रह्म की दो शक्तियाँ हैं—भोग्य शक्ति और भोक्तृ शक्ति।[1] भोग्य शक्ति आकाश आदि अचेतन जग रूप में परिणत होती है और भोक्तृ शक्ति जीवन में जीव रूप में विद्यमान रहती है।[2] भास्कर ब्रह्मतत्व को भिन्नाभिन्न मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि प्रत्येक वस्तु किसी दृष्टि से एक है तो दूसरी दृष्टि से अनेक है। एक ही वस्तु में एकत्व और अनेकत्व दोनों हैं। भले ही वह परिणाम स्वल्पकालीन क्यों न हो तथापि वास्तविक है। जैसे—समुद्र एक होने पर भी तरंगें अनेक हैं वैसे ही ब्रह्म एक होने पर भी जगत् एवं जीवात्मक परिणाम के रूप में अनेक है। भास्कर ने ब्रह्म में ईश्वर की स्थापना की। उन्होंने आचार्य शंकर के सदृश माया को स्थान नहीं दिया। उन्होंने ब्रह्म में अनेक शक्तियाँ मानी हैं।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जैसे सांख्यदर्शन मूल प्रकृति में तन्मात्र प्रभृति भोग्य सृष्टि तथा बुद्धि और अहंकार आदि रूप भोक्तृत्व शक्ति घटित करता है, वैसे ही भास्कर भी मूलब्रह्म में इन सभी को घटित करता है।[3]

---

1 भास्कर भाष्य, २-१-२७।

2 "ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वाभाव्यात्। यथा क्षीरं दधि भावेस्य अम्भो हिम भावे, न तु तत्राप्यातंचनमाधारभूतं च द्रव्यमपेक्षते।" —भास्करभाष्य, २।१।२४।

3 (क) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसाफी, भाग ३, दास गुप्ता, पृष्ठ ६।
(ख) ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य, २-१-१४, पृष्ठ ९७।

वेदान्त की विविध मान्यताएँ : तुलनात्मक विवेचन

उपनिषद् युग में एक ओर अद्वैत विचारधारा जन-जन के अन्तर्मानस में पनप रही थी तो दूसरी ओर द्वैत विचारधारा का प्रवाह भी प्रवाहित था। इन दो विचार-धाराओं के संघर्ष में तीसरा द्वैताद्वैतवाद विभिन्न रूप से अस्तित्व में आ रहा था। सद्-द्वैत, द्रव्याद्वैत, गुणाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत और शब्दाद्वैत जैसे अद्वैत विचार विक-सित होते रहे। उस समय आचार्य शंकर के केवलाद्वैतवाद की विचारधारा द्रुतगति से आगे बढ़ी। जिसके कारण द्वैत और द्वैताद्वैत दोनों ने अपनी रीति और नीति से माया-श्रित केवलाद्वैतवाद के विरोध में अपना तेजस्वी स्वर बुलन्द किया। उन्होंने प्रबल प्रमाण और अकाट्य तर्कों से केवलाद्वैतवाद को अप्रामाणिक सिद्ध करने का महान् प्रयास किया। उनमें उपनिषदों को मानने वाले मूर्धन्य आचार्य भी थे। शुद्धाद्वैत के आधार पर सांख्यदर्शन ने और आचार्य मध्व ने विरोध किया। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य प्रभृति आचार्यों ने अपनी दृष्टि से वैष्णव परम्परा का आश्रय ग्रहण करके क्रमशः विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैत का प्रतिपादन कर आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन किया। भास्कर ने ब्रह्म या ईश्वर तत्व में एकानेकत्व भेदाभेद की संस्थापना की। उस पर कुछ पृथक् रूप से अपनी दृष्टि से विस्तार के साथ वैष्णव और शैव आचार्यों ने गम्भीर विचार कर अपने-अपने मन्तव्यों की स्थापना की। विज्ञानभिक्षु आदि ने ब्रह्माद्वैत की स्थापना कर सांख्ययोग विचार को अद्वैत की परि-भाषा में आबद्ध किया। श्रीकण्ठ आदि आचार्यों ने शैव परम्परा के महत्त्व का प्रतिपादन कर ब्रह्म तत्त्व की शिव के रूप में विवेचना की और अपनी दृष्टि से अद्वैत विचार-धारा की स्थापना की।

आचार्य रामानुज का अभिमत था कि परब्रह्म या नारायण सर्वान्तिर्यामी है। वह मंगल गुण का अक्षय भण्डार है। वह कूटस्थ है, पर स्वयं के शक्ति विशेष से अपने अव्यक्त कारणावस्थ चित्-तत्त्व रूप सूक्ष्म शरीर को कार्यावस्थ बनाता है। प्रकृति और जीव तत्त्व जो नारायण के साथ शरीर के रूप में हैं, वे उसकी शक्ति से संचालित होते हैं। यह जड़ चेतनयुक्त जगत माया रूप नहीं है, किन्तु सत्य है। उन्होंने परब्रह्म की ईश्वर या वासुदेव के रूप में स्थापना की। उनका भी मूल आधार ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् हैं। उनका यह अभिमत था कि केवल कमनीय कल्पना व अनुमान से ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त उन्होंने सृष्टि रचना ईश्वर से मानी है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है। नारायण या ब्रह्म की स्थापना करने में उपनिषदों के अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। आचार्य शंकर ने जहाँ पर केवलाद्वैतपरक अर्थ किया है, ब्रह्मसूत्रोपनिषदों में रामानुज ने वहाँ पर विशिष्टाद्वैतपरक अर्थ बताकर यह सिद्ध

करने का प्रयास किया है कि नारायण रूप परब्रह्म है और वही नारायण चेतनाचेतन जगत का उपादान व निमित्त है ।[1]

निम्बार्क पारमार्थिक भेदाभेद या द्वैताद्वैतवादी है । उन्होंने तत्त्व की ईश्वर के रूप में स्थापना की और उसे विष्णु कहा ।[2] विष्णु ही चराचर जगत का उपादान और निमित्त है ।

विज्ञानभिक्षु सांख्यदर्शन के अन्तिम आचार्य माने जाते हैं । वे स्वतन्त्र विचार के धनी थे । उन्होंने सांख्य और वेदान्त दर्शनों में सामंजस्य बिठाने का सफल प्रयास किया । भास्कर और रामानुज से कुछ पृथक् दृष्टि लिए हुए ब्रह्मतत्त्व की, ईश्वर के रूप में स्थापना की । उनका मन्तव्य है कि सत्व रूप शुद्ध प्रकृति का अवलम्बन लेकर ब्रह्म अपने आप में ही सदा वर्तमान प्रकृति और पुरुप तत्त्व की सृष्टि करता है और उसे विकसित करता है । प्रकृति और पुरुप काल्पनिक नहीं, परन्तु वास्तविक हैं । वे ब्रह्म से पृथक् हैं । पृथक् होने पर भी ब्रह्म से विभक्त नहीं है । ब्रह्म तत्त्व की उपादान और निमित्त कारण रूप प्रचलित भाषा का परित्याग कर इन्होंने नवीन अधिष्ठान रूप व्याख्या प्रस्तुत की । अधिष्ठान कारण समवायी, असमवायी और निमित्त कारण से भिन्न एक नवीन कारण है । अधिष्ठान कारण वह है जिसमें कार्य विभक्त नहीं होता, किन्तु उपष्टम्भ पाकर प्रवृत्ति करता है । यह अधिष्ठान कारण ब्रह्म है । प्रकृति और पुरुप उसी में विना विभाग रहते हैं । यही कारण है कि विज्ञानभिक्षु को अविभाग अद्वैतवादी कहा गया है । ये उपनिषद्, पुराण और स्मृति के प्रमाणों के आधार से ब्रह्म की निर्विभाग अद्वैत रूप में संस्थापना कर उसे ईश्वर कहते हैं । इन्होंने आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन किया है । आचार्य शंकर ने सांख्य और योग दर्शन को अवैदिक माना है, पर विज्ञानभिक्षु ने उन्हें वैदिक माना है और इस बात पर बल दिया है कि सांख्यसम्मत प्रकृति वैदिक है, प्रकृति ब्रह्म का अंश है ।[3]

वल्लभ ने भी ब्रह्म की ईश्वर के रूप में स्थापना की । सामान्य रूप से उनका दृष्टिकोण अन्य आचार्यों से पृथक् प्रतीत होता है । पर गहराई से चिन्तन करने पर सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होता है कि उनकी विचारधारा आचार्य रामानुज की विचारधारा से मिलती-जुलती है । वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैती हैं । वे ब्रह्म को विश्व-स्वरूप और विश्व को ब्रह्म-स्वरूप तथा विश्व का पारमार्थिकत्व संस्थापित करते हैं । उनका यह वज्र आघोप है कि ईश्वर (ब्रह्म) विश्व का उपादान कारण

---

1 (क) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसाफी, भाग ३, पृष्ठ १५६ —ले० दास गुप्ता
(ख) सूक्ष्मचिदाचिद्वस्तु शरीरस्यैव ब्रह्मणः स्थूलचिदाचिद्वस्तु शरीरत्वेन कार्यत्वात् ।
—श्री भाष्य (बांबे संस्कृत सीरीज) १।१।१ ।

2 निम्बार्क भाष्य—ब्रह्मसूत्र, १।१।४ ।

3 विज्ञानामृत भाष्य—१।१।२, १।१।४, २।१।३२ ।

नहीं, पर समवायी कारण है। उन्होंने समवायी कारण की परिभाषा न्याय-वैशेषिक की परिभाषा से कुछ पृथक् रूप से की है। इन्होंने ईश्वर की संस्थापना उपनिषदों के आधार पर की है। वे ईश्वर की लीला को पूर्ण स्वातन्त्र्य रूप में मानते हैं। वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में एक प्रश्न उपस्थित किया कि ईश्वर तत्त्व सत्-चित् आनन्द रूप है तो उसके कार्य या परिणाम रूप विश्व में भी समवायी कारण रूप ईश्वर के सत्-चित् आनन्द रूप अंश का अनुभव होना चाहिए। पर अचित् या चित् जगत में केवल अस्तित्व अंश का ही अनुभव होता है और जीव जगत में तारतम्य से चैतन्य का अनुभव होता है। यदि ब्रह्म और विश्व का अभेद हो या विश्व समवायीकरण ईश्वर का कार्य हो तो कार्य में कारण के सभी गुणों का समान रूप से आना आवश्यक है। किन्तु वे समान रूप से अनुभवगम्य क्यों नहीं होते ?

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करते हुए[1] उन्होंने लिखा है कि आवरण भंग[1] के तारतम्य के कारण समवायी कारण रूप ब्रह्म के सत्त्व आदि गुण कार्य जगत में तारतम्य से व्यक्त होते हैं। आवरण की प्रधानता के कारण अचित् विश्व में चैतन्य व्यक्त नहीं होता, किन्तु आवरण की शिथिलता के कारण चित्-जगत में चैतन्य का अनुभव होता है। शुद्ध आनन्दांश केवल ईश्वर में अभिव्यक्त होता है।

सांख्यदर्शन के आचार्य विश्व का मूल कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति मानते थे और उससे वे विश्व-वैचित्र्य की उपपत्ति करते थे। वल्लभाचार्य ने कहा— त्रिगुणात्मक प्रकृति में जो सत्त्व अंश है उससे सुख का भाव घटित नहीं कर सकते। क्योंकि सृष्टि में सर्वत्र सत्त्व का अंश विद्यमान है। यदि उसी से सुख और ज्ञान सम्भव है तो सम्पूर्ण विश्व में समान रूप से उसका अनुभव होना चाहिए। पर दृष्टिगोचर होता है कि किसी एक ही वस्तु से एक समय में अनेक जीव सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। एक वस्तु समय के अनुसार सुख प्रदान करती है, वही वस्तु समय के अनुसार दुःख भी प्रदान करती है। अतः सुख-दुःख, ज्ञान आदि की अनुभूति सत्त्व आदि गुणमूलक नहीं है, किन्तु वह ईश्वरदत्त चित्, आनन्द शक्ति की तारतम्ययुक्त अभिव्यक्ति के कारण है। इस प्रकार उन्होंने प्रकृति के स्थान पर ब्रह्म की प्रतिष्ठा कर उसे परमेश्वर की संज्ञा प्रदान की।[2]

श्री चैतन्य महाप्रभु ने तत्त्व ज्ञान की दृष्टि से मध्व के द्वैतवाद का अनुसरण किया है। वह अचिन्त्य भेदाभेद वेदान्त का संस्थापक है। कार्य-कारण के सम्बन्ध में उनका अचिन्त्य भेदाभेद रामानुज दर्शन के अधिक सन्निकट है। चित् और अचित् शक्ति से युक्त कारणावस्था में सूक्ष्मशक्तिक और कार्यावस्था में स्थूलशक्तिक माना

---

1 ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।३ (वल्लभाचार्य)।

2 (क) अणुभाष्य, १।१।३।

(ख) अणुभाष्य प्रकाश टीका।

करने का प्रयास किया है कि नारायण रूप परब्रह्म है और वही नारायण चेतनाचेतन जगत का उपादान व निमित्त है।[1]

निम्बार्क पारमार्थिक भेदाभेद या द्वैताद्वैतवादी है। उन्होंने तत्त्व की ईश्वर के रूप में स्थापना की और उसे विष्णु कहा।[2] विष्णु ही चराचर जगत का उपादान और निमित्त है।

विज्ञानभिक्षु सांख्यदर्शन के अन्तिम आचार्य माने जाते हैं। वे स्वतन्त्र विचार के धनी थे। उन्होंने सांख्य और वेदान्त दर्शनों में सामंजस्य बिठाने का सफल प्रयास किया। भास्कर और रामानुज से कुछ पृथक् दृष्टि लिए हुए ब्रह्मतत्त्व की, ईश्वर के रूप में स्थापना की। उनका मन्तव्य है कि सत्व रूप शुद्ध प्रकृति का अवलम्बन लेकर ब्रह्म अपने आप में ही सदा वर्तमान प्रकृति और पुरुष तत्त्व की सृष्टि करता है और उसे विकसित करता है। प्रकृति और पुरुष काल्पनिक नहीं, परन्तु वास्तविक हैं। वे ब्रह्म से पृथक् हैं। पृथक् होने पर भी ब्रह्म से विभक्त नहीं है। ब्रह्म तत्त्व की उपादान और निमित्त कारण रूप प्रचलित भाषा का परित्याग कर इन्होंने नवीन अधिष्ठान रूप व्याख्या प्रस्तुत की। अधिष्ठान कारण समवायी, असमवायी और निमित्त कारण से भिन्न एक नवीन कारण है। अधिष्ठान कारण वह है जिसमें कार्य विभक्त नहीं होता, किन्तु उपष्टम्भ पाकर प्रवृत्ति करता है। यह अधिष्ठान कारण ब्रह्म है। प्रकृति और पुरुष उसी में विना विभाग रहते हैं। यही कारण है कि विज्ञानभिक्षु को अविभाग अद्वैतवादी कहा गया है। ये उपनिषद्, पुराण और स्मृति के प्रमाणों के आधार से ब्रह्म की निर्विभाग अद्वैत रूप में संस्थापना कर उसे ईश्वर कहते हैं। इन्होंने आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन किया है। आचार्य शंकर ने सांख्य और योग दर्शन को अवैदिक माना है, पर विज्ञानभिक्षु ने उन्हें वैदिक माना है और इस बात पर बल दिया है कि सांख्यसम्मत प्रकृति वैदिक है, प्रकृति ब्रह्म का अंश है।[3]

वल्लभ ने भी ब्रह्म की ईश्वर के रूप में स्थापना की। सामान्य रूप से उनका दृष्टिकोण अन्य आचार्यों से पृथक् प्रतीत होता है। पर गहराई से चिन्तन करने पर सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होता है कि उनकी विचारधारा आचार्य रामानुज की विचारधारा से मिलती-जुलती है। वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैती हैं। वे ब्रह्म को विश्व-स्वरूप और विश्व को ब्रह्म-स्वरूप तथा विश्व का पारमार्थिकत्व संस्थापित करते हैं। उनका यह वज्र आघोष है कि ईश्वर (ब्रह्म) विश्व का उपादान कारण

---

1 (क) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसाफी, भाग ३, पृष्ठ १५६ —ले० दास गुप्ता
(ख) सूक्ष्मचिदाचिद्वस्तु शरीरस्यैव ब्रह्मणः स्थूलचिदाचिद्वस्तु शरीरत्वेन कार्यत्वात्।
—श्री भाष्य (बांबे संस्कृत सीरीज) १।१।१।

2 निम्बार्क भाष्य—ब्रह्मसूत्र, १।१।४।

3 विज्ञानामृत भाष्य—१।१।२, १।१।४, २।१।३२।

नहीं, पर समवायी कारण है। उन्होंने समवायी कारण की परिभाषा न्याय-वैशेषिक की परिभाषा से कुछ पृथक् रूप से की है। इन्होंने ईश्वर की संस्थापना उपनिषदों के आधार पर की है। वे ईश्वर की लीला को पूर्ण स्वातन्त्र्य रूप में मानते हैं। वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में एक प्रश्न उपस्थित किया कि ईश्वर तत्त्व सत्-चित् आनन्द रूप है तो उसके कार्य या परिणाम रूप विश्व में भी समवायी कारण रूप ईश्वर के सत्-चित् आनन्द रूप अंश का अनुभव होना चाहिए। पर अचित् या चित् जगत में केवल अस्तित्व अंश का ही अनुभव होता है और जीव जगत में तारतम्य से चैतन्य का अनुभव होता है। यदि ब्रह्म और विश्व का अभेद हो या विश्व समवायीकरण ईश्वर का कार्य हो तो कार्य में कारण के सभी गुणों का समान रूप से आना आवश्यक है। किन्तु वे समान रूप से अनुभवगम्य क्यों नहीं होते?

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करते हुए[1] उन्होंने लिखा है कि आवरण भंग[1] के तारतम्य के कारण समवायी कारण रूप ब्रह्म के सत्त्व आदि गुण कार्य जगत में तारतम्य से व्यक्त होते हैं। आवरण की प्रधानता के कारण अचित् विश्व में चैतन्य व्यक्त नहीं होता, किन्तु आवरण की शिथिलता के कारण चित्-जगत में चैतन्य का अनुभव होता है। शुद्ध आनन्दांश केवल ईश्वर में अभिव्यक्त होता है।

सांख्यदर्शन के आचार्य विश्व का मूल कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति मानते थे और उससे वे विश्व-वैचित्र्य की उपपत्ति करते थे। वल्लभाचार्य ने कहा—त्रिगुणात्मक प्रकृति में जो सत्त्व अंश है उससे सुख का भाव घटित नहीं कर सकते। क्योंकि सृष्टि में सर्वत्र सत्त्व का अंश विद्यमान है। यदि उसी से सुख और ज्ञान सम्भव है तो सम्पूर्ण विश्व में समान रूप से उसका अनुभव होना चाहिए। पर दृष्टिगोचर होता है कि किसी एक ही वस्तु से एक समय में अनेक जीव सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। एक वस्तु समय के अनुसार सुख प्रदान करती है, वही वस्तु समय के अनुसार दुःख भी प्रदान करती है। अतः सुख-दुःख, ज्ञान आदि की अनुभूति सत्त्व आदि गुणमूलक नहीं है, किन्तु वह ईश्वरदत्त चित्, आनन्द शक्ति की तारतम्ययुक्त अभिव्यक्ति के कारण है। इस प्रकार उन्होंने प्रकृति के स्थान पर ब्रह्म की प्रतिष्ठा कर उसे परमेश्वर की संज्ञा प्रदान की।[2]

श्री चैतन्य महाप्रभु ने तत्त्व ज्ञान की दृष्टि से मध्व के द्वैतवाद का अनुसरण किया है। वह अचिन्त्य भेदाभेद वेदान्त का संस्थापक है। कार्य-कारण के सम्बन्ध में उनका अचिन्त्य भेदाभेद रामानुज दर्शन के अधिक सन्निकट है। चित् और अचित् शक्ति से युक्त कारणावस्था में सूक्ष्मशक्तिक और कार्यावस्था में स्थूलशक्तिक माना

---

1 ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।३ (वल्लभाचार्य)।

2 (क) अणुभाष्य, १।१।३।
(ख) अणुभाष्य प्रकाश टीका।

जाता है । ये दोनों शक्तियाँ स्वरूप की दृष्टि से ब्रह्म से अभिन्न हैं, परन्तु स्थूल अवस्था में उससे भिन्न भी हैं । शक्तिमान ब्रह्म चित्-अचित् शक्तियों में परिणाम होने के बावजूद भी वह स्वरूप से अपरिणत बना रहता है । उसकी अपरिणत स्वरूप शक्ति विशेष निमित्त कारण है और चित्-अचित् शक्तियों से उस शक्ति का योग होने पर वही ब्रह्म उपादान कारण भी है । अतः ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। प्रस्तुत दर्शन का निम्बार्क और वल्लभ दर्शन के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है ।

शैवाचार्य श्रीकण्ठ ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हुए ब्रह्म की सच्चिदानन्द शिव रूप में स्थापना की है । वह शिव, शर्व, भव, महेश्वर, ईशान प्रभृति अनेक नामों से जाना और पहचाना जाता है । वह ईश्वर केवल निमित्त कारण नहीं अपितु उपादान और निमित्त उभय स्वरूप है । इस प्रकार उन्होंने नकुलीश, पाशुपत और न्याय-वैशेषिक आदि महेश्वर निमित्त कारणवादियों से अपना मत पृथक् प्रदर्शित किया है । इनके ब्रह्मसूत्र पर भाष्य का आधार शैवागम है ।

आचार्य श्रीकण्ठ का अभिमत है कि सूक्ष्म अचित् और चित् शक्तियुक्त ब्रह्म कारण-ब्रह्म है और स्थूल या दृश्यमान अचित्-चित् युक्त विश्व कार्य-ब्रह्म है । प्रस्तुत कथन में आचार्य रामानुज के विचारों का अनुसरण है । रामानुज ने सूक्ष्म अचित् और चित् को शरीर कहकर उसे ब्रह्म का कारणावस्थ रूप और व्यक्त या स्थूल प्रपंच को ब्रह्म का कार्यावस्थ रूप कहा है । ये शैव और वैष्णव दोनों आचार्य परिणामवादी होने पर भी परिणाम का आधार ब्रह्म की शक्ति मानते हैं । ये ब्रह्म को कूटस्थ नित्य और अपरिणामी सिद्ध करते हैं । आचार्य श्रीकण्ठ के मतानुसार परिणाम का अर्थ विकार है, जो परिणामी होता है, वह विकारी है । किन्तु ब्रह्म निर्विकारी है । ब्रह्म में अनेक शक्तियाँ हैं । वल्लभाचार्य का मत अविकृत परिणामवाद है । श्रीकण्ठ ने परिणाम को विकार कहा है, परिणामी ब्रह्म विकारी है । अतः उन्होंने अपने वाद को अविकृत परिणामवाद कहा है ।

पूर्वमीमांसक दृष्टि से ईश्वर

वेद के दो विभाग हैं— कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । कर्मकाण्ड में यज्ञ-यागादि की विधि तथा अनुष्ठान का विस्तार से वर्णन है । कर्मकाण्ड पर चिन्तन होने के कारण प्रस्तुत दर्शन कर्म-मीमांसा या पूर्व-मीमांसा के नाम से विश्रुत है । महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के प्रथम सूत्रकार हैं ।

प्रश्न है कि हमारे अचेतन कर्मों का फल प्रदान करने वाला कौन है ? किसी चेतन पुरुष की अधिष्ठातृता के विना कर्म अपना फल कैसे प्रदान कर सकता है ? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य बादरायण ने ईश्वर को कर्मफल का प्रदाता माना है और जैमिनि ने कहा—यज्ञ के कारण कर्म का फल प्राप्त होता है, ईश्वर के कारण नहीं । प्राचीन मीमांसा ग्रन्थों से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती पर पश्चातवर्ती

संस्कार कर्म को 'अविज्ञप्ति' कहा है। बौद्ध दार्शनिकों ने, जिसे बुद्ध ने अव्याकृत कहकर टालने का प्रयास किया, उस पर भी लिखा है। बुद्ध ने कहा—मानव ही साधना के द्वारा बुद्धत्व प्राप्त करता है, ईश्वर बन सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई ईश्वर नहीं जो सृष्टि-संहार करता हो, और तटस्थ साक्षी भी हो। साधक जब अपूर्ण रहता है, वह किसी न किसी आलम्बन की अपेक्षा रखता है। उस आलम्बन के सहारे बौद्ध दृष्टि से अपने पुरुषार्थ के द्वारा बुद्ध बना जा सकता है और उसका आलम्बन लेकर दूसरे भी बुद्ध हो सकते हैं। इस दृष्टि से बुद्ध आत्मा ही ईश्वर और परमात्मा है।

जैन दृष्टि से ईश्वर

भारत के अन्य ईश्वरवादी दार्शनिकों ने आत्मा—जीव से ईश्वर की एक अलग सत्ता मानकर उसे सर्वशक्तिमान की संज्ञा प्रदान की, पर जैन दार्शनिकों ने ईश्वर की आत्मा से अलग विजातीय सत्ता नहीं मानी। उसने मानव को ही अनन्त शक्तिमान माना है। उसने कहा— मानव में अनन्त प्रकाश की रश्मियाँ बन्द पड़ी हैं। राग-द्वेष आदि विकारों के कारण वह अपने आपको पहचान नहीं पा रहा है। जैन दृष्टि से प्रत्येक आत्मा में स्वरूपतः परमात्म-ज्योति विद्यमान है। चेतन और परम-चेतन ये दो पृथक् तत्त्व नहीं है। अशुद्ध स्थिति से शुद्ध होने पर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। वह परमात्म तत्त्व कहीं बाहर से नहीं आता, अपने ही अन्दर रहा हुआ है। उसका यह वज्र आघोष है कि "अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही परमात्मा है। "तत्त्वम सि" का भी यही अर्थ है। आत्मा केवल आत्मा नहीं है, किन्तु वह स्वयं परमात्मा है, परब्रह्म है, ईश्वर है। आत्मा अपने मूल स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार और निरंजन है। जब तक उस पर कर्मों का आवरण है, तब तक वह बन्धनों से बद्ध है। पर ज्योंही आत्मा विशिष्ट साधना के द्वारा निर्मल होती है, त्योंही समस्त बन्धनों से विमुक्त होकर अपने स्वकीय शुद्ध मौलिक स्वरूप को प्राप्त कर लेती अर्थात् परमात्मा बन जाती है। पारमार्थिक दृष्टि से संसारस्थ आत्मा में और मुक्त आत्मा—परमात्मा में किंचित्मात्र भी भेद नहीं है। मुक्तात्मा में शक्ति की उत्पत्ति नहीं, किन्तु अभिव्यक्ति होती है। वह शुद्ध स्वरूप कहीं बाहर से नहीं आता, केवल अनावृत हो जाता है।

प्रत्येक संसारी आत्मा सत्तामय भी है और चेतनामय भी है। यदि कमी है तो स्थायी आनन्द की है। जब वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है तो उसे अक्षय आनन्द, जो आवृत था, उपलब्ध हो जाता है। सत् पहले भी व्यक्त रूप से था, किन्तु चित् एवं आनन्द की व्यक्त रूप से कमी थी। उसकी पूर्ति होते ही वह सच्चिदानन्द बन जाता है। आत्मा से परमात्मा बन जाता है, भक्त से भगवान बन जाता है।

कतिपय भारतीय दर्शनों में ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसी धारणा है कि ईश्वर सर्वोपरि सत्ता है, वह जीवात्मा से विलक्षण और एक है, अनादिकाल से वह सर्वसत्ता-सम्पन्न है। दूसरा कोई ईश्वर नहीं हो सकता। वह जो कुछ भी चाहता है, वही होता है। असम्भव को सम्भव करने की शक्ति उसमें है। वह चाहे तो एक क्षण में विराट्

विश्व का निर्माण कर सकता है और वह चाहे तो एक क्षण में उसे नष्ट भी कर सकता है। उसकी लीला का आर-पार नहीं है। उसकी बिना इच्छा के पेड़ का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। किसी ने उस ईश्वर का निवास वैकुण्ठ में माना, किसी ने ब्रह्मलोक में, किसी ने सातवें आसमान में तो किसी ने समग्र विश्व में उसे व्याप्त माना है।

जैन दर्शन इस प्रकार के कर्ता-हर्ता रूप में ईश्वर को नहीं मानता। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि ईश्वर न किसी पर रुष्ट होता है और न तुष्ट होता है। वह न किसी को नरक में भेजता है और न किसी को स्वर्ग में। वह पूर्ण वीतराग है। प्राणी का जो कुछ भी अच्छा या बुरा होता है, वह सब उसके ही कृत कर्मों का फल है। वस्तुतः मानव ईश्वर की सृष्टि नहीं, अपितु ईश्वर ही मानव के उर्वर मस्तिष्क की सृष्टि है। ईश्वर शासक और मनुष्य शासित है, ऐसा मन्तव्य उचित नहीं है। मानवीय-चेतना का परम और चरम विकास ही ईश्वरत्व है। इसे प्रत्येक मानव प्राप्त कर सकता है। ईश्वरत्व प्राप्त करने के लिए जाति, कुल, सम्प्रदाय या किसी वर्ग विशेष का भी बन्धन नहीं है जो भी मानव आध्यात्मिक विकास की उच्चतम भूमिका पर पहुँच जाता है, वही ईश्वर बन जाता है।

वैदिक दार्शनिकों ने जैन दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन घोषित किया है। पर जैन दर्शन वस्तुतः अनीश्वरवादी नहीं है। जैन दर्शन ने ईश्वर को सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप, वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में माना है। वह कर्म-फल प्रदाता नहीं है, अपने सद्-असद् कर्म के अनुसार ही जीव को सुख-दुःख की उपलब्धि होती है, स्वर्ग या नरक की प्राप्ति होती है।

जैन दर्शन के अनुसार यह विराट् सृष्टि मूलतः जड़ और चेतन इन दो तत्त्वों का ही विस्तार है। ये दोनों तत्त्व अनादि और अनन्त हैं। विभिन्न दर्शनों और आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह निर्विवाद है कि सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो सत् है, उसका कभी सर्वथा विनाश नहीं होता।

"नासतो विद्यते भावः, नाभावो जायते सतः" इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार जड़ और चेतन तत्त्व सदा से हैं और सदैव विद्यमान रहेंगे। ऐसी स्थिति में सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश सम्भव नहीं हैं, और न सृष्टिकर्ता किसी ईश्वर को या अन्य सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता है।

सामान्य बोल-चाल में जिसे उत्पाद और विनाश कहा जाता है, वह वास्तव में पदार्थों का परिणमन रूपान्तर मात्र है। मृत्तिका का पिण्ड रूप में रूपान्तर होता है और पिण्ड का घट के रूप में। यही परिणमन घट का उत्पाद कहलाता है। घट का टुकड़ों के रूप में या बारीक रेत के रूप में बदल जाना ही घट का विनाश कहा जाता है, शून्य हो जाना नहीं। कुम्हार लाख प्रयत्न करके भी शून्य से घट का निर्माण नहीं कर सकता। इसी प्रकार किसी एक परमाणु को शून्य—अभाव रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। यह सत्य है तो इतनी विशाल सृष्टि शून्य में से किस प्रकार बन

सकती है ? और कभी वह शून्य कैसे वन सकती है ? अतएव स्पष्ट है कि सृष्टि अपने मौलिक रूप में अनादि-अनन्त है । उसका कोई स्रष्टा नहीं हो सकता ।

आखिर ईश्वर को जगत का निर्माण करने के प्रपंच में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है ? किसी को वनाना और फिर मिटाना वालकों का स्वभाव है, यह ईश्वर का स्वभाव नहीं हो सकता । परम कृपालु ईश्वर यदि सृष्टि रचता है तो यह एकान्त सुख-शान्तिमय होती, अनेक प्रकार के दुःखों से परिपूर्ण नहीं । इसके अतिरिक्त वह चोर, डाकू, हत्यारे, लुटेरे आदि पापिष्ठ जनों का निर्माण क्यों करता ? प्रथम वह ऐसे अधार्मिकों का निर्माण करे और फिर उन्हें दण्डित करने के लिए नरक में भेजे, यह दयामय ईश्वर जैसी सत्ता को शोभा नहीं देता । इस प्रकार जैन दर्शन का मन्तव्य है कि जगत्कर्ता मानने से ईश्वर के स्वरूप में बट्टा लगता है, उसका रूप विकृत हो जाता है ।

जैनदर्शन के अनुसार ईश्वर में अनन्त शक्तियाँ तो हैं, पर वह सर्वशक्तिमान नहीं है । वह सर्वशक्तिसम्पन्न होता तो अपना जैसा दूसरा ईश्वर वनाने की शक्ति भी उसमें होनी चाहिए थी, मगर यह शक्ति उसमें किसी भी दर्शन को अभीप्ट नहीं है । अतएव ईश्वर है, कोई भी आत्मा ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है और यही जैन साधना का चरम लक्ष्य है ।

सिक्ख-पन्थ में ईश्वर कल्पना

सिक्ख धर्म वस्तुतः कोई मौलिक धर्म नहीं है, वह हिन्दू धर्म का एक पन्थ है । इसके आद्य संस्थापक नानक थे । नानक का यह मन्तव्य था कि सत्य एक है और उस सत्य को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग हैं । मानव ईश्वर को पूर्णरूप से नहीं किन्तु अंश रूप से और सही ज्ञान से ही जान सकता है । क्योंकि मनुष्य के ईश्वर ज्ञान की सीमा है । मानव स्वभावतः अपूर्ण हैं । अतः पूर्ण रूप से वह ईश्वर को नहीं जान सकता । सिक्खों का धर्म-ग्रन्थ "आदि ग्रन्थ" या "गुरु ग्रन्थ साहव" है ।

उनके धर्मग्रन्थ में ईश्वर के दो प्रकार के गुण माने हैं—मूल गुण और कर्म गुण । उनका स्वरूप इस प्रकार है :

ईश्वर के मूल गुण

वह एक है । स्वयंभू है, वह स्रष्टा और शासक है, निराकार है, सबका पिता है, सब कारणों का कारण है, अनन्त, अकाल और निरंकार है, परम पूर्ण और ज्योति स्वरूप है । सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापी है और सर्वज्ञानी है ।

ईश्वर के कर्म गुण

ईश्वर ही स्रष्टा और संहारकर्ता दोनों है । वह परम न्यायी है ।

सिक्ख धर्म में एकेश्वर का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है । सबको उपासना का स्वातन्त्र्य देते हुए गुरुओं ने मूर्ति-पूजा का खण्डन किया है, वे अवतार-वाद और बहुदेववाद के विरोधी हैं ।

मनुष्य का ईश्वर में विश्वास और निष्ठा के रहने का आधार ईश्वर का पुण्य-वान् मनुष्य के प्रति प्रेम है। ईश्वर का प्रेम अनुग्रह बनकर व्यक्त होता है। मनुष्य की दृष्टि से ईश्वर के न्याय से भी अधिक उसका प्रेम अनन्त, असीम है। इसीलिए गुरुओं ने ईश्वर-प्रेम की माता के प्रेम से तुलना की है। ईश्वर का क्रोध क्षणिक है, और प्रेम सदा रहता है। सिक्ख धर्म में "शिव" प्रकाश का प्रतीक है और "शक्ति या माया" अन्धकार का। गुरु नानक की मान्यता थी कि शरीर ईश्वर का मन्दिर है और मनुष्य ईश्वर की सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ हीरा है।

यहूदी धर्म में ईश्वर

विश्व के प्रमुख धर्मों में यहूदी धर्म भी एक है। यहूदियों का सारा जीवन ईश्वरार्पित है। "याहवेह [जेहोवा]" इनके प्रमुख आराध्य देव हैं और इसी मुख्य देव ने अन्य देवों का निर्माण किया है। इनका यह अभिमत है कि ईश्वर एक ही है, सारी सृष्टि उसके द्वारा निर्मित है।

इनकी दृष्टि से संसार एक कार्य-क्षेत्र है। जब कभी भी धर्म के प्रति जन-मानस में ग्लानि समुत्पन्न होती है, तब ईश्वर अपना अद्भुत चमत्कार दिखाता है। प्रस्तुत मान्यता की तुलना 'श्रीमद्भगवद्गीता' के "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !........" से की जा सकती है। पर अन्तर यही है कि गीता की दृष्टि से ईश्वर अवतार ग्रहण करता है और यहूदियों की दृष्टि से वह अवतार ग्रहण नहीं करता अपितु अद्भुत चमत्कारों द्वारा जन-मानस को सद्बोध का पाठ पढ़ाता है। यहूदी धर्म में मानव को ईश्वर का प्रतिनिधि माना है जबकि मिस्र और मेसोपोटेमिया के निवासी प्रकृति को ही ईश्वर मानते थे। पर यहूदियों ने यह क्रान्ति की और उन्होंने मनुष्य की महत्ता स्वीकार की। उन्होंने कहा—ईश्वर मनुष्यों के द्वारा आदर्शों को धरती पर लाता है। यहूदी धर्म में मसीहों का अत्यधिक प्राधान्य रहा है। मसीहा वह है जो ईश्वर के पक्ष में बोलता है। मसीहा को 'प्रॉफेट' कहते हैं, जो एक प्रकार से मानव और ईश्वर के बीच की कड़ी है। यहूदियों का ईश्वर जहाँ सच्चे भक्तों पर तुष्ट होता है और उन्हें अपार आनन्द प्रदान करता है तो दुष्ट एवं आज्ञा का उल्लंघन करने वालों पर रुष्ट होकर उन्हें दण्ड भी देता है। इस प्रकार के अनेक प्रसंग यहूदी साहित्य में प्राप्त होते हैं।

पारसी धर्म में ईश्वर

पारसी धर्म के संस्थापक जरथुस्त थे। इसमें ईश्वर के अर्थ में "आहूर मजदा" शब्द व्यवहृत हुआ है। जरथुस्त ने आहूर मजदा के सम्बन्ध में बताया कि वह विश्व में सर्वोच्च है। वह सबसे अधिक प्रकाशमान, सबसे अधिक ऊँचा, सबसे अधिक पुरातन, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम, कल्याणकारी, अपरिवर्तनीय, अचल, अखण्ड, आनन्द का स्वामी है। वह उच्च दिव्यलोक में राजसी सिंहासन पर आसीन है। उसका वस्त्र आकाश है। वह मानव का पिता, बन्धु एवं मित्र है। वह स्रष्टा है, उसी ने अनन्त

इस्लाम धर्म में ईश्वर

इस्लाम धर्म का मूल स्रोत भी यहूदी धर्म है, ऐसा कितने ही चिन्तकों का मानना है। इस्लाम धर्म के आद्य प्रवर्तक मुहम्मद हैं, जिन्हें मुसलमान ईश्वर का अन्तिम पैगम्बर मानते हैं। ये ईश्वर के लिए "अल्लाह" शब्द का प्रयोग करते हैं, जो सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञानवान् है, सर्वसृष्टि-निर्माता, नियन्ता और सर्वसाक्षी है। उसी ने 'जन्नत' और 'जहान' बनाया। वह अकेला, स्वाश्रित और स्वयंभू है। 'अल्लाह' के अतिरिक्त उस ईश्वर के अन्य नाम या विशेषण हैं—रब्ब [महान स्वामी] अल्-रहमान [दयालु] अल्-बरी [कुछ में से निर्माण करने वाला] अल्-बदी [आरम्भकर्ता] अल्-वदूद [प्रेम करने वाला] अल्-रउूफ [दयालु] अल्-तव्वाव [कृपालु] अल्-हादी [मार्ग दर्शक] अल्-मोमिन [संरक्षक] अल्-मुहैमिन [आश्रयदाता] अल्-सलाम [शान्तिदाता] अल्-कबीर [महान] अल्-जलील [परम कान्तिवान] अल्-मजीद [ऐश्वर्ययुक्त] अल्-जब्बार [पहुँच से परे] अल्-अली [उदात्त] अल्-कुदूस [परम पवित्र] अल्-अजीम [दिव्य] इत्यादि।

ईश्वर एक है। वह अदृश्य है। वह अवतार ग्रहण नहीं करता। न मनुष्य रूप में और न पशु-पक्षी या जड़ के रूप में वह व्यक्त होता है। यही कारण है कि इस्लाम धर्म में मूर्ति-पूजा का निषेध है। पर पीर और औलियों के मकबरों की पूजा की जाती है; किन्तु उन्हें ईश्वर मानकर नहीं। ईश्वर की वाणी का संकलन ही ईश्वर के साक्षात्कार करने का एकमात्र उपाय है। इस्लाम धर्म में यह विश्वास है कि ईश्वर की वाणी मानव सुन नहीं सकता। वह देवदूतों द्वारा तथा चुने हुए पैगम्बरों के द्वारा ईश्वर की वाणी को सुन सकता है। उन्होंने ईश्वर के सात गुण माने हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) हयाह (जीवन)—ईश्वर असदृश, अद्वितीय, अननुकरणीय, अदृश्य, अनाकृति, अरूप, अरंग, अविभाजित, अनंश, अव्याकृत, एकमेवाद्वितीयम् है।

(२) इल्म (ज्ञान)—ईश्वर सर्वज्ञ है। कोई भी बात उससे गुह्य या अगम्य नहीं है। उसने कभी भूल न की, न कर सकता है। प्रमाद, आलस्य, निद्रा का वह शिकार नहीं होता। वह चिर जागरूक है।

(३) कद्र (शक्ति)—ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, वह मृतों को भी जीवित कर सकता है।

(४) इरादा (संकल्प)—ईश्वरेच्छा बलीयसी, वह जो चाहता है, वह करता है।

(५) सम (श्रुति)—ईश्वर के कान न होने पर भी वह सब ध्वनियाँ सुन सकता है।

(६) बशर (दृष्टि)—आँख न रहने पर भी वह सब कुछ देख सकता है।

(७) कलाम (वाणी)—वह बोलता है, पर मुँह व जबान से नहीं। ईश्वर की वाणी आज्ञा, निषेध, आश्वासन, धमकी आदि के रूप में आती है।

शिंटो धर्म में ईश्वर

शिंटो धर्म का प्रादुर्भाव जापान में हुआ था। इस धर्म में एक ईश्वर के स्थान पर अनेक देवी-देवताओं की मान्यता प्रचलित हुई। यों कह सकते हैं कि उन्होंने देवी-देवताओं को ही ईश्वर मानकर उपासना की। प्राकृतिक शक्तियों को देखकर उनके अन्तर्मानस में उन शक्तियों के प्रति एक आकर्षण पैदा हुआ और उन्होने उन शक्तियों को देवी के रूप में संस्थापित किया। उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि मानव के भाग्य-विधाता के रूप में ये दैवी-शक्तियाँ हैं। जो कुछ भी होता है वह इन्हीं दैवी-शक्तियों के कारण होता है। ये दैवी-शक्तियाँ ही प्रकाश, स्वास्थ्य, धान्य, शत्रुओं से संरक्षण, सम्पत्ति की उपलब्धि व अभिवृद्धि करती हैं। उन देव-देवियों की परिगणना में सुसा नो वो (पर्जन्य देवी), इनारी (धान्य देवता), सूर्य देवी, पृथ्वी देवता, पर्वत देवता, समुद्र देवता, नदी देवता, वायु देवता, अन्न की देवी, वृक्ष देवता आदि हैं। वहाँ पर देवता के वाहन के रूप में बाघ, सिंह, भेड़िया, आदि पशुओं की भी अर्चना होती है।

जब जापान में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ तो शिंटो धर्म पर भी उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वर्तमान युग में शिंटो धर्म पर बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रभाव है। ईश्वर की कल्पना जिस रूप में अन्य धर्मों में की गई है वैसी ईश्वर की कल्पना शिण्टो धर्म में नहीं है।

[द्वितीय विभाग]

भौगोलिक दृष्टि से ईश्वर-विचार

पूर्व पृष्ठों में हमने विभिन्न धर्मों और दर्शनों की दृष्टि से ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया। अब भौगोलिक दृष्टि से भी उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विचार कर लेना उचित होगा। क्योंकि एक ही प्रदेश में अनेक धर्म और दर्शन एक साथ रहते हैं। इसके अतिरिक्त जन-मानस की धारणाएँ दर्शनों और धर्मों से पृथक भी होती हैं। उन मान्यताओं पर भौगोलिक वातावरण का असर होता है। हम सर्वप्रथम प्रागैतिहासिक काल में विश्व के सभी अंचलों में फैले हुए आदि-वासियों की ईश्वर-विषयक कल्पना के सम्बन्ध में उल्लेख करके पौर्वात्य और पाश्चात्य देशों में प्रचलित ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं को प्रस्तुत करेंगे।

आदिवासियों में ईश्वर

आदिवासियों में मानव को 'निम्न' और ईश्वर को 'उच्च' मानने की परम्परा बहुत ही पुरानी है। उनका यह विश्वास था कि एक सर्वशक्ति रूप पिता अनन्त आकाश में है। वह सर्वशक्तिमान् भूत-प्रेत नहीं है, किन्तु एक विशिष्ट शक्ति है जो कभी-कभी पृथ्वी पर भी आती है और लम्बे समय तक पृथ्वी पर रहती है उसके बाद पुनः अनन्त आकाश में अत्युच्च स्थान पर बैठ कर वह मानवों के प्रत्येक क्रिया-कलाप का निरीक्षण करती रहती है।

मध्य आस्ट्रेलिया के निवासी कोटिशः लोगों का यह मानना था कि उस परम पिता का नाम 'अतनातू' है। वह अतनातू ऊर्ध्वगामी है। अतनातू की सन्तान भी अतनातू ही कहलाती है। उसकी सन्तान में से जिन्होंने अतनातू की उपासना और अर्चना की वे उसके प्रेम-पात्र बन गये और जिन्होंने उनकी अवज्ञा की वे स्वर्ग से च्युत कर दिये गये। ईश्वर के 'अतनातू' के अतिरिक्त विविध स्थानों पर आदिवासियों में 'बइराम' 'था-था-फुली' आदि अलग-अलग नाम प्रचलित थे। हाविट ने लिखा है कि आदिवासी ईश्वर के लिए न बलि चढ़ाते थे, और न उसकी प्रार्थना ही करते थे, परन्तु उनके मन में परम-पिता के प्रति एक निष्ठा थी।

अरुण्टा भी आदिवासियों की एक जाति है। उन्होंने परमपिता ईश्वर को 'त्वानीरिका' शब्द से सम्बोधित किया। प्रारम्भ में उनका अभिमत था कि वह परमपिता विश्व का स्रष्टा नहीं है, किन्तु धीरे-धीरे उनके चिन्तन में परिवर्तन हुआ और वे ईश्वर को निर्माता, कल्याणकर्त्ता और दुष्टों का नाश करने वाला मानने लगे।

भारत की एक आदि जाति संथाल है। संथालों को ईश्वर शक्ति में विश्वास है। वे अपने ईश्वर को 'सिंग बोंगा' के नाम से अभिहित करते हैं। उनमें ईश्वर का नाम 'ठाकुर', 'कन्दू' या 'कान्दू' भी प्रचलित है।

संथाल लोग मन्दिर और मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखते। वे आदि शक्ति का निवास पहाड़, जंगल, नदी, गुफा, आदि में मानते हैं। उनका अभिमत है कि ये देवता दस प्रकार के हैं—

(१) कान्दो—प्रमुख देवता है, वह जीवन भी प्रदान करता है और जीवन लेता भी है।

(२) अरोक बोंगा और अजेय बोंगा।

(३) मृत पितरों की शक्तियाँ।

(४) रंगो-रुजी—शिकारी शक्ति।

(५) गाँव के देवी-देवता।

(६) गाँव की सीमा शक्ति।

(७) अकाल मृत्यु से मृत बालकों की आत्माएँ।

(८) नाट्टियार बोंगा—ससुराल और नैहर के देवता।

(९) किसार-बोंगा—जो प्रसन्न होने पर धन-समृद्धि देने वाले और अप्रसन्न होने पर मार डालने वाले।

(१०) युद्ध बोंगा।

ये देवता क्रोधी, भूखे और मानवों को दण्ड देने वाले हैं। अतः संथाल देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि चढ़ाते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि आदिवासियों ने प्रथम आद्य शक्ति को ईश्वर माना, किन्तु बाद में चलकर वे देवी-देवताओं

को मानने लगे। पहले जहाँ पूजा नहीं करते, वहाँ पूजा और वलि की प्रथा चली। जो एक प्रकार से विकृति है।

इस प्रकार आदिवासियों में चमत्कार प्रदर्शन करने वाले अच्छे-बुरे, मंगलकारी-विनाशकारी, कृपालु-उग्र दोनों प्रकार की देव-शक्तियाँ मानी गयीं। वे देव-शक्तियाँ प्रसन्न भी होती थीं और अप्रसन्न भी। इस प्रकार सभी आदिवासियों की धार्मिक भावनाओं को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं : (१) भूत-प्रेत को शान्त करना (२) अति मानव शक्तियों को शान्त करना और (३) एक परम-तत्त्व में विश्वास करना। इस प्रकार उनमें बहुदेववाद और एकेश्वरवाद दोनों प्रकार की विचारधारा प्राप्त होती है।

साथ ही, आदिवासियों में ग्राम देवता, सीमा देवता आदि विविध प्रकार के देवों की कल्पनाएँ भी पनपने लगीं। इन देवों का धीरे-धीरे मानवीकरण हुआ। साथ ही जो व्यक्ति सद्‌गुणों से अलंकृत हुआ, उसे देव स्वरूप माना गया और धीरे-धीरे वह परमपिता, जगत्‌नियन्ता, सर्वश्रेष्ठ ओर महान्‌ शक्ति का प्रतिनिधि बनकर उपास्य बन गया। भारतीय परम्परा में अवतारवाद का मूल बीज आदिवासी विश्वासों में पाया जाता है।

असीरिया और बेबिलोनिया में ईश्वर-कल्पना

आधुनिक इतिहासकारों का मन्तव्य है कि असीरिया-बेबिलोनिया की संस्कृति और सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है। इसमें प्रकृति की पूजा होती थी। पहले बहुदेववाद प्रचलित था। संसार की श्रेष्ठता और अधमता,. उच्चता-नीचता, अच्छाई-बुराई का प्रतिनिधित्व करने वाली अच्छी-बुरी शक्तियों पर इनका विश्वास था।

बेबिलोनिया निवासी त्रि-शक्ति में विश्वास रखते थे। उनकी दो देव-त्रयी हैं—

पहली देव-त्रयी में—

(१) अनु—आकाश देवता जो स्वर्ग का स्वामी है।
(२) वले—पृथ्वी देवता।
(३) हुआ—जल देवता जो पाताल का स्वामी है।

दूसरी देव-त्रयी में—

(१) शम्स [सूर्य], (२) सिन [चन्द्र], (३) इश्तर [मंगलदेव] थे।

इन छह देवों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक देव थे जैसे—'रम्मान'—जो भयंकर आँधी, तूफान, वर्षा और विद्युत-शक्ति को अपने नियन्त्रण में रखता था। वे ग्रह-देवताओं की भी उपासना करते थे, जैसे—निनिब [शनि], मर्दुक [बृहस्पति], नेर्गल [शुक्र] आदि। बेबिलोनिया के निवासियों ने देवों के साथ उनकी पत्नियाँ, पुत्र-पुत्रियाँ, दास-सेवक आदि की भी कल्पना की और लघु देवता मानकर वे उनकी भी अर्चना करते थे।

असीरिया के निवासियों का 'असुर' नामक एक विशिष्ट केन्द्रीय शक्ति पर विश्वास था। यह 'असुर' प्राकृतिक शक्ति नहीं थी अपितु उनका एक राष्ट्रीय देवता था और वे उसे अपना उपास्य देवता मानते थे। इस प्रकार इनमें एकेश्वरवाद प्रचलित था।

चीन में ईश्वर-कल्पना

चीन में ईश्वर के अर्थ में दो शब्द व्यवहृत होते थे—'शांग-ती' [ऊपर वाला सम्राट] और 'ती-ईएन' !

शांग-ती को प्रसन्न करने के लिए सर्वप्रथम चीन के पीत सम्राट [२६९७-२५९८ ईसा पूर्व] ने बलि चढ़ायी थी। उसके बाद सम्राट कू [२४३५-१२६६ ईसा पूर्व] ने शांग-ती की आराधना करके बलि चढ़ायी थी। तदनन्तर वू तिन राजा [१३२४-१२६६ ईसा पूर्व] ने शांग-ती की प्रार्थना की तो उसको देव ने सपने में आशीर्वाद दिया। इस प्रकार ईसा पूर्व १२वीं शताब्दी तक ईश्वर के लिए 'शांग-ती' नाम चलता रहा, तदनन्तर 'ती-ईएन' नाम प्रचलित हुआ।

हान वंश के वेन-ती [१७९-१५७ ईसा पूर्व] राजा ने 'शांग-ती' के स्थान पर निम्नलिखित आठ देवताओं की पूजा चालू की (१) आकाश स्वामी, (२) पृथ्वी स्वामी, (३) युद्ध स्वामी, (४) योग स्वामी, (५) थिन स्वामी, (६) चन्द्र स्वामी, (७) सूर्य स्वामी, और (८) चार ऋतुओं के स्वामी।

शांग-ती के साथ-साथ अन्य देवताओं की आराधना होने लगी और उनके लिए विशेष बलिवेदियाँ बनायी जाने लगीं। 'शांग-ती' को आकाश शब्द का नाम देकर उसके भीतर सब प्रकार के उच्च, दैवी, उदात्त, भव्य गुणों का समावेश किया गया। इस प्रकार चीन में बहुदेववाद के साथ एकेश्वरवाद की विचारधारा भी प्रचलित थी।

जापान में ईश्वर कल्पना

जापान में ईश्वर के अर्थ में 'कामी' शब्द प्रयुक्त होता था। यों 'कामी' शब्द आकाश, पृथ्वी व अन्य कई प्राकृतिक देवी-देवताओं के लिए भी प्रयुक्त होता था। धीरे-धीरे मानव के अतिरिक्त पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, समुद्र-पर्वत प्रभृति विलक्षण शक्तियों के लिए भी 'कामी' शब्द का व्यवहार होने लगा। "कामी" देवों में दोनों प्रकार के देवों का जो अच्छे प्रभाव वाले थे और जो बुरे प्रभाव वाले थे, व्यवहार होने लगा। प्रारम्भ में जापानी प्रकृति के उपासक थे। सभी प्राकृतिक शक्तियों को देव मानकर वे उनकी उपासना करते रहे। अन्य पड़ौसी देशवासियों के धर्मों का भी उन पर प्रभाव पड़ा। जिसके फलस्वरूप जापानी देवताओं की संख्या शनैः-शनैः बढ़ती रही और आज १,८०,४३६ शितो देवता हैं। इन सभी देवताओं को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पौराणिक देवता, (२) देशभक्त और वीर पुरुष, (३) प्राकृतिक चमत्कारी शक्तियाँ, और (४) कई प्रकार के पशु-प्राणी और वस्तुएँ।

जापान में कोई भी शक्तिशाली महत्वपूर्ण वस्तु को आराध्य देव के रूप में माना है। इस प्रकार वहुदेवतावाद मानने पर भी जापानियों में एकेश्वरवाद का प्राधान्य चीन के द्वारा आया। जापान का मुख्य धर्म शितो है, जिस पर हमने अन्यत्र इसी निवन्ध में विचार किया है।

मिस्र में ईश्वर-कल्पना

आधुनिक इतिहास की दृष्टि से मिस्र की संस्कृति और सभ्यता भी वहुत प्राचीन है। मिस्र की प्राचीन लिपि, 'चित्र लिपि' थी। इस चित्र लिपि में ईश्वर वाचक शब्द को वताने के लिए एक तारा का चिन्ह ☆ वताया जाता था। तारा पंचमुख के रूप में है। इसके पीछे उनकी क्या कल्पना थी? यह स्पष्ट नहीं है। उसके पश्चात् ईश्वर के दिव्य रूप को चित्रित करने वाला वाज पक्षी का चित्र है। यूरियस (सर्प) के रूप में देवी का चित्र प्राप्त होता है। मिस्र भाषा में 'नृत्र' शब्द ईश्वर के अर्थ में आया है।

मिस्र राज्य के मध्य में नील नदी वहती थी। उसके सन्निकट प्रदेश में पहले एकेश्वरवाद था और उसके साथ ही वहुदेववाद का भी प्रचलन था। वे लोग अमरता की संप्राप्ति हेतु रहस्यमयी अर्चनाएँ भी किया करते थे। मिस्र के चित्र-लेखों के अध्येताओं का कहना है कि मिस्र निवासी एक शक्ति विशेप की अर्चना किया करते थे जो पहले थीब्स का राजा था और होलियो पौलिस का राजपुत्र था। वह 'सर्वोच्च मुकुट' के सदृश माना जाता था। वही सृष्टि का सर्जक था, अदृश्य रहकर वह जन-जन की प्रार्थना को सुनता, उसके सदृश विश्व में कोई नहीं था। वह 'आमोन' 'रा' या 'प्ताह' भी कहलाता था। यह देव सवसे वड़ा देव था। उसके स्वरूप को जानना अत्यन्त कठिन था। इसके अतिरिक्त वहाँ अन्य अनेक लघु देव भी थे। 'रा' के विभिन्न क्षेत्रों की दृष्टि से विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं। उसके पश्चात् 'इसिस' सवसे महान् देवी मानी गयी।

मिस्र में वंश देवता की अर्चना भी वरावर होती रही। जो भी फरोहा राज-गद्दी पर आसीन होता, अपने वंश देवता की पूजा करने पर वल देता था। इस प्रकार देवताओं का माहात्म्य वढ़ता चला गया। सारे मिस्र में सूर्य देवता 'रा' के के रूप में और मृतकों के देवता 'आसेरिस' सर्वत्र आदर की निगाह से देखे जाते थे और उनकी अर्चना भी चलती थी। निम्न वर्ग के लोग भूत-प्रेत आदि से सुरक्षा के लिए 'वेस', जन्म देवता 'थ्यूरिस', पाताल लोक का देवता 'अमे-थेस', धान्य सुरक्षा के देवता 'नेपरो' की पूजा किया करते थे। मिस्र के देवताओं में कुछ देवता राजा की तरह उच्च थे तो कुछ उनके अधीन और छोटे थे। जिस प्रकार मानव को भूख-प्यास, आनन्द, शोक, भय-वीमारी, वृद्धावस्था और मृत्यु सताती है उसी प्रकार उन देवों को भी वे सारी चीजें सताती हैं, ऐसा मानकर मिस्रवासी देवों को अर्घ्य, वस्त्र, नैवेद्य, आभूषण, सुगन्धित पदार्थ, उद्यान, सरोवर, नौका, दास-दासियाँ आदि

समर्पित करते थे। इस तरह मिस्रवासियों में देवी-देवताओं की कल्पना आदिवासियों की कल्पना से मिलती-जुलती है। कहीं-कहीं पर एकेश्वरवाद की झलक मिलती है पर मन्त्र-तन्त्र, यन्त्र, जादू-टोना आदि के अन्धविश्वास में एकेश्वरवाद धूमिल हो गया था।

यूनान में ईश्वर-कल्पना

यूनान विश्व का एक प्रमुख देश रहा है। वहाँ पर प्रारम्भिक काल में प्राकृतिक शक्तियों की, वन्य पशुओं की और जितनी भी भयोत्पादक वस्तुएँ हैं, उनको प्रसन्न करने के लिए उनकी अर्चना की जाती थी। वहाँ पर भी एक वंश का देवता माना जाता था। वह अदृश्य रूप में सुरक्षा, सुख और समृद्धि प्रदान करता है, ऐसा उनका विश्वास था। मृत-पूजा में भी उनका विश्वास था। आदिवासियों के देवों को भी उन्होंने अपनाया। उनका सबसे बड़ा आराध्य देव 'जिउस' था और उसकी पत्नी 'दिओने' थी। इनके अतिरिक्त विभिन्न देवों की कल्पनाएँ वहाँ पर खूब पनपती रहीं। होमर ने, जो यूनान का आदिम कवि था, अपने महाकाव्य में देवताओं के छः लक्षण निरूपित किये हैं, वे इस प्रकार हैं :

(१) वे अमर हैं, उनका निवास ओलिम्पस है। वहाँ न रहने पर भी वे अमर ही थे, भले ही अन्य स्थानों पर वे क्यों न रहे हों।

(२) वे बहुत ही सुख-सुविधाओं से रहते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं है।

(३) वे देव अम्ब्रोशिया खाते हैं और अमृत का पान करते हैं किन्तु मृत्युलोक की किसी वस्तु को नहीं खाते।

(४) वे देव अदृश्य हैं। पर कभी-कभी वे विविध रूपों में प्रकट भी होते हैं।

(५) वे सर्वमंगलप्रदाता हैं।

(६) वे देव निन्दा करने वालों को दण्ड प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि जो उनका विरोध करता है, उन्हें वे नरक में भेज देते हैं। वे वेष परिवर्तन कर मानवों की विविध प्रकार से परीक्षाएँ लेते हैं। कोई भी व्यक्ति अनुचित कर्म नहीं करे, इसका वे पूर्ण ध्यान रखते हैं।

होमर के पश्चात् हेसियोड ने अपनी कविता में देवताओं के अमूर्त्त-गुण, न्याय-प्रियता, क्षमा, दया आदि का चित्रण किया है। धीरे-धीरे प्रत्येक कला में देव-देवियों के प्रतीक चिह्न उट्टंकित किये जाने लगे। कलाकार अपनी कला की चमत्कृति दिखाने के लिए देव-देवियों की मूर्तियों को सजाने लगे। देव-देवियों की कल्पना के साथ उनमें ईश्वर कल्पना भी प्रतीत होती है जो सभी शक्तियों पर नियन्त्रण करता है।

यूनान में नग्न मूर्तियों का अधिक प्रचलन हुआ। देवी-देवताओं के मुक्त प्रणय की कहानियाँ अत्यधिक प्रचलित हुईं। अडोनिस (कामदेव) की पूजा महिलाओं में

अधिक प्रिय हुई। किन्तु बाद में देवता सम्बन्धी विश्वास परिवर्तित होते गये। इतिहासकार हिरोटोडस ने ईश्वर को मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों रूपों में माना है। उसने यह भी उल्लेख किया है कि देवता क्रूरता के प्रतीक हैं। इस प्रकार निराशावाद के तत्त्व पनपने लगे और शनैः-शनैः ईश्वर के स्थान पर नियति की तीन अन्धी देवियाँ प्रस्थापित हुईं।

ईसा के पूर्व पाँचवीं सदी में ऐसी कल्पना प्रचलित हुई कि देवता जन-जीवन की विषमता को और विरोधों को मिटाते हैं। वे समन्वय और शान्ति के पुनीत प्रतीक हैं। ये सच्चे न्याय प्रदाता हैं। उसके पश्चात् यूनानी यह मानने लगे कि मानवीय-जीवन में जो भी उतार-चढ़ाव आते हैं, उनका कारण मानव का स्वयं पुरुषार्थ है, किन्तु दैवी-शक्तियाँ कुछ नहीं करती हैं।

सुकरात ने सत्य को ही ईश्वर माना। उसने पुरानी कल्पना पर आधृत देव-कहानियों को मिथ्या बताया। प्लेटो ने ईश्वर को अप्राकृतिक माना और असहज मानव के रूप ईश्वर की कल्पना की। वह ईश्वर को 'शिवम्' मानता है। ईश्वर कभी भी राग-द्वेष नहीं करता, सारी दुनिया ईश्वर की इच्छा से चल रही है। ईश्वर ही 'अटलास' है, जिसके बलिष्ठ कन्धों पर पृथ्वी टिकी हुई है। उसने एकेश्वरवाद को महत्त्व दिया। फिर यूनानी चिन्तनधारा में दो विभाग हुए। एक विभाग एपिक्यूरस का सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त की तुलना चार्वाकदर्शन से की जा सकती है। वह "खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ" (Eat, drink & be merry) इस बात पर बल देता है। दूसरा विभाग स्टोइक है, जिसने मानव के अन्तर्मानस और दृढ़-संकल्प में ईश्वरेच्छा को प्रधान स्थान दिया। उन्होंने आत्म-संयम पर बल दिया है।

ईसा की प्रथम सदी तक मिस्र और ईरान के धर्मों के प्रभाव से यूनानियों में बहुदेववाद और एकेश्वरवाद का द्वन्द्व समाप्त हो गया और एकेश्वरवाद स्थिर हुआ।

ट्यूटानिक जातियों में ईश्वर-कल्पना

ट्यूटानिक लोग पहले चार प्रकार के देवों में विश्वास रखते थे —(१) वूआनाज (मृतकों और हवाओं का देवता), (२) पोनाराज (तूफानी गरज और आकाश का देवता), (३) तीवाज (युद्ध का देवता), (४) फ्रिआ या फ्रिग देवी (प्रिया या पत्नी)। नार्वे में भूत-प्रेतों पर जन-मानस की ही निष्ठा थी। जो सबसे बड़ा था वह 'भूतनाथ' या 'महादेव' था। उसे वे अपनी भाषा में "वोदान" कहते थे। उन लोगों का विश्वास था कि वोदान जीवन और मरण का स्वामी है। वह बहुत ही क्रूर है, वह मानवों के प्राण-हरण कर लेता है। वह शनैः-शनैः युद्ध देवता के रूप में उपास्य हो गया और उसके पश्चात् वह आकाश देव के रूप में आराध्य बना तथा वह प्राचीन पितृ देवता "असास" भी बन गया। वोदान ईहन और दोनार पोर थोर तथा ज्युतीर अन्य देवों के नाम थे। इनके अतिरिक्त फ्रे, होल्डेर, या वाल्डेर, हारमडालूट आदि छोटे देवता भी थे।

ट्यूटानिया में देवों की एक लम्बी सूची मिलती है। यहाँ पर ईश्वर वाचक गोथिक 'ग्रुप', प्राचीन उच्च जर्मन 'गॉट', प्राचीन सैक्स 'गाड', जर्मन 'गात्जे' आदि विविध शब्द थे। भाषाशास्त्रियों का मानना है कि ये शब्द मूर्ति या प्रतिमा के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ट्यूटानियों का यह दृढ़ विश्वास था कि सर्वोत्तम ईश्वरीय अंश मूर्ति में रहता है। यह स्पष्ट है कि ट्यूटानिकों का वहुदेववाद के साथ उच्च ईश्वरीय सत्ता में भी विश्वास था।

ईरान में ईश्वर-कल्पना

प्राचीन ईरान में ईश्वर सम्बन्धी कोई भी कल्पना उपलब्ध नहीं होती। ईसा पूर्व पाँचवीं सदी तक ईरानी लोग उच्च पर्वतों पर चढ़कर "जिउस" नाम के ग्रह-गोलों की उपासना करते थे, वलि चढ़ाते थे। प्रकृति की उपासना करना ही उनका मुख्य धर्म था। आकाश की पूजा में इनका पूर्ण विश्वास था। "स्फिगेल" के मन्तव्यानुसार इनके आकाश देवता "त्वाश" थे। उसके बाद आधुनिक फारसी में वह "सिपिहिर" हो गया। ईरानी सूर्य और चन्द्र की पूजा भी करते थे। 'अवेस्ता' में वही 'ह्वार' और 'माह' बताया गया है। इतिहासकार हिरोडोटेस का मन्तव्य है कि जिउस की पत्नी पृथ्वी थी, जिसको "अरमैती" कहा जाता था। ईरानी लोग अग्नि को "आतर" (आतिश) और 'अपाम नपात' (पानी का पुत्र) कह कर उसकी उपासना करते थे। ये अपने देवता को 'आहुर' या 'दैव' कहते थे। 'हाओम' (सोम रस) इनकी एक महत्त्वपूर्ण देवी थी। 'फ्रवशी' (पितृपूजा) की आराधना भी प्रचलित थी। अहुरों में "आहुर मज्दा" (सर्वश्रेष्ठ बुद्धि वाला देव) की उपासना ईरान में ईसा पूर्व दो हजार वर्षो से होती थी। इस तरह ईरान में विविध देव-देवियों की उपासना प्रचलित थी, उसमें आहुर मज्दा को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ देव माना, वह ईश्वर है, ऐसा उनका अभिमत था।

जरथुष्ट्र ईरान के धर्मोद्धारक थे। वे क्रान्तिकारी थे। जन मानस में ईश्वर सम्बन्धी जो अव्यवस्थित एवं अस्पष्ट धारणाएँ थीं, उनको उन्होंने व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया। 'अवेस्ता' में उन्होंने ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए बताया कि 'आहुर मज्दा' स्वर्ग एवं आकाश तथा अग्निशिखाओं को धारण करता है। वह मूलतः मैन्यु (आत्म-तत्त्व) है, स्पेंता (दयालु और पवित्र) है। वह सृष्टिकर्ता है, प्रकाश व अन्धेरे का निर्माता है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वस्य, सर्वदर्शी, स्वामी है, वह अमर है, अपरिवर्तनशील है।

ईरानियों के विश्वास के अनुसार आहुर मज्दा की तरह एक और शक्ति है—'आंग्रा मैन्यू' जो पापात्मा है। वह सन्तों को दुःख देती है। यह आहुर मज्दा से बिल्कुल उल्टी प्रकृति वाली तथा शैतानी शक्ति है। मज्दा के छः गुणों का भी वर्णन है—(१) वोहुमना (सर्वोत्तम मन या आत्मा), (२) आशा वहिष्ट (पूर्णता और पुण्य का भण्डार), (३) स्वात्र वैर्य (शान्ति वीर्य), (४) आरमैती (पवित्रता या भक्ति), (५)

हौर्वतात (स्वास्थ्य) और (६) अमेरेतात (अमरता)। आहुर मज्दा को वही व्यक्ति उपलब्ध कर सकता है, जिसके जीवन में आचार, विचार, उच्चार तथा भावना में सत्य और शुचिता हो।

□

[तृतीय विभाग]

प्रज्ञा पुरुषों की दृष्टि में ईश्वर

भारत के दर्शन प्रवर्त्तकों ने ही नहीं, अपितु विश्व के इतर चिन्तकों ने भी ईश्वर और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् रूप से विचार प्रस्तुत किये हैं। 'ईश्वर' शब्द का अर्थ इतना अत्यधिक विभिन्नता लिये हुए है कि सामान्य मानव समझ नहीं पाता कि ईश्वर का अस्तित्व है भी या नहीं? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? वह एक दूसरी से विरुद्ध मान्यताओं एवं कल्पनाओं के जाल में उलझ जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध में, जितने भी दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक और साहित्यकार हुए, उन्होंने अनेक प्रणालियों का आश्रय लिया है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए या उसके अस्तित्व का खण्डन करने के लिए भी अपने ढंग से प्रबल तर्क दिये हैं।

मानव जिज्ञासु है, वह जानना चाहता है कि प्राग् ऐतिहासिक काल के आदिम जातियों से लेकर आधुनिक काल तक ईश्वर का चिन्तन किस रूप में हुआ है? दर्शन के इतिहास में प्लेटो-अरस्तू से लेकर जोसिया-रायस और विलियम जेम्स तक तथा आधुनिक वैज्ञानिकों और चिन्तकों ने किस दृष्टिकोण से ईश्वर का चित्रण किया है?

चिन्तन के इतिहास में ईश्वर के अर्थ में किस प्रकार शब्दावली व्यवहृत हुई है? हमें उन ईश्वरपरक शब्दों के वास्तविक अर्थ से परिचित होना चाहिए। यूनानी भाषा में एक शब्द है—'थी-इज्म'! यह शब्द व्यक्तिगत और आध्यात्मिक सत्ता के रूप में ईश्वर के लिए प्रचलित है। अंग्रेजी का शब्द 'डीइज्म', लैटिन भाषा का 'डायस' शब्द ईश्वर को सृजनकर्त्ता और नियामक के रूप में स्वीकार करता है। अंग्रेजी का शब्द 'पैंथीइज्म' यूनानी भाषा के दो शब्दों के मिलन से बना है, जिसका अर्थ सर्व तथा ईश्वर है। इसके अभिमतानुसार ईश्वर ही सर्वस्व है और सर्वस्व ही ईश्वर है। इसमें ईश्वर का प्रकृति या जगत के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया हैं। अंग्रेजी शब्द 'पालीथीइज्म' का अर्थ है—धर्म का कोई तन्त्र या सिद्धान्त जो बहु ईश्वरों में आस्था रखता हो। अंग्रेजी के शब्द 'मानोथीइज्म' का अर्थ है—वह सिद्धान्त जो ईश्वर के एक होने पर बल देता है। 'एथीज्म' शब्द ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करता है। आधुनिक चिन्तन में यह निरीश्वरवाद 'अज्ञेयवाद' के रूप में विश्रुत है।

काण्ट ने अपने 'क्रिटिक' और 'प्योर रीजन' में ईश्वर की संसिद्धि के लिए जो अनेकों प्रमाण थे, उन्हें कम करके तीन प्रमाणों में सीमित किया है—(१) विश्व-कारण युक्ति (२) प्रयोजनात्मक युक्ति तथा (३) प्रत्यय सत्ता युक्ति।

जब हम 'ईश्वर' शब्द के अर्थ तथा ईश्वर के स्वरूप पर चिन्तन करते हैं तो बचपन के चित्रों से प्रभावित होकर ईश्वर को मनुष्य के रूप में व्यापक तथा गौरवान्वित देखते हैं और उसमें मनुष्य के शरीर व गुण आरोपित करते हैं। ईश्वर को मनुष्य रूप में देखने की इस प्रवृत्ति को 'मानवत्वारोपण' कहते हैं। पर यूनानी दार्शनिक कवि जैनोफेन्स से लेकर आधुनिक आलोचकों तक अनेकों ने इसका उपहास किया है।

अधिकांश लोगों के विचार में ईश्वर शब्द का तात्पर्य उस दैवी सत्ता से है, जिसे अन्तरात्मा कहते हैं तथा जो सत्य और सर्वशक्तिमान् है और जिसका हमारे प्रारब्ध पर आधिपत्य है। वे उसे जगत् का निर्माणकर्त्ता, नीति-नियामक एवं निर्णायक भी मानते हैं तथा विश्वास करते हैं कि अन्तर्यामी रूप में वह जगत् में सर्वत्र स्थित हैं।

ईश्वर एक ऐसी अज्ञात एवं रहस्यपूर्ण अद्भुत शक्ति है जो भयानक होने पर भी सुहावनी है तथा जो स्वयं को प्रकृति की उत्पादक शक्ति में, जीवन और मृत्यु में, तूफान, महासागर, बिजली, सूर्य, प्रकाश, वर्षा आदि में अभिव्यक्त करती है। इसीलिए ईश्वर, निरपेक्ष, शाश्वत, अनन्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक आदि गुणों से उसे विभूपित माना जाता है।

इमर्सन जैसे महान् दार्शनिकों के लिए ईश्वर, 'बुद्धिमता, पूर्ण शान्ति, सार्व-भौम सौन्दर्य तथा शाश्वत' अति-आत्मा है। तो वर्ड्सवर्थ के लिए वह व्याकुल करने वाली सत्ता है।

डेकार्टे के अभिमतानुसार प्रत्येक वस्तु पर सन्देह करने वाला मानव अपने आप पर सन्देह नहीं करता। सन्देह एक प्रकार का विचार है जो यह सिद्ध करता है कि पूर्णता जैसी वस्तु अवश्य होनी चाहिए और पूर्णसत्ता भी अवश्य होनी चाहिए। वह पूर्ण सत्ता ईश्वर है। एतदर्थ ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और परम विशुद्ध होना चाहिए। डेकार्टे ने मानसिक तत्त्व और शारीरिक तत्त्व को पृथक माना था। पर वह किस कारण से है, इसका वह समाधान नहीं कर सका। किन्तु उसके शिष्यों ने मानसिक और दैहिक व्यापारों का कारण ईश्वर माना, जो मन एवं शरीर के व्यापारों में सामंजस्य स्थापित करता है।

मॉल ब्रॉक ने बताया—हमारी सम्पूर्ण विचारधाराएँ ईश्वर के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। वही सम्पूर्ण विचारधाराओं का केन्द्रबिन्दु है। किन्तु ईश्वर शरीरधारी

काण्ट ने अपने 'क्रिटिक' और 'प्योर रीजन' में ईश्वर की संसिद्धि के लिए जो अनेकों प्रमाण थे, उन्हें कम करके तीन प्रमाणों में सीमित किया है—(१) विश्व-कारण युक्ति (२) प्रयोजनात्मक युक्ति तथा (३) प्रत्यय सत्ता युक्ति।

जब हम 'ईश्वर' शब्द के अर्थ तथा ईश्वर के स्वरूप पर चिन्तन करते हैं तो बचपन के चित्रों से प्रभावित होकर ईश्वर को मनुष्य के रूप में व्यापक तथा गौरवान्वित देखते हैं और उसमें मनुष्य के शरीर व गुण आरोपित करते हैं। ईश्वर को मनुष्य रूप में देखने की इस प्रवृत्ति को 'मानवत्वारोपण' कहते हैं। पर यूनानी दार्शनिक कवि जैनोफेन्स से लेकर आधुनिक आलोचकों तक अनेकों ने इसका उपहास किया है।

अधिकांश लोगों के विचार में ईश्वर शब्द का तात्पर्य उस दैवी सत्ता से है, जिसे अन्तरात्मा कहते हैं तथा जो सत्य और सर्वशक्तिमान् है और जिसका हमारे प्रारब्ध पर आधिपत्य है। वे उसे जगत् का निर्माणकर्त्ता, नीति-नियामक एवं निर्णायक भी मानते हैं तथा विश्वास करते हैं कि अन्तर्यामी रूप में वह जगत् में सर्वत्र स्थित हैं।

ईश्वर एक ऐसी अज्ञात एवं रहस्यपूर्ण अद्भुत शक्ति है जो भयानक होने पर भी सुहावनी है तथा जो स्वयं को प्रकृति की उत्पादक शक्ति में, जीवन और मृत्यु में, तूफान, महासागर, बिजली, सूर्य, प्रकाश, वर्षा आदि में अभिव्यक्त करती है। इसीलिए ईश्वर, निरपेक्ष, शाश्वत, अनन्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक आदि गुणों से उसे विभूषित माना जाता है।

इमर्सन जैसे महान् दार्शनिकों के लिए ईश्वर, 'बुद्धिमत्ता, पूर्ण शान्ति, सार्वभौम सौन्दर्य तथा शाश्वत' अति-आत्मा है। तो वड्र्सवर्थ के लिए वह व्याकुल करने वाली सत्ता है।

डेकार्टे के अभिमतानुसार प्रत्येक वस्तु पर सन्देह करने वाला मानव अपने आप पर सन्देह नहीं करता। सन्देह एक प्रकार का विचार है जो यह सिद्ध करता है कि पूर्णता जैसी वस्तु अवश्य होनी चाहिए और पूर्णसत्ता भी अवश्य होनी चाहिए। वह पूर्ण सत्ता ईश्वर है। एतदर्थ ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और परम विशुद्ध होना चाहिए। डेकार्टे ने मानसिक तत्त्व और शारीरिक तत्त्व को पृथक माना था। पर वह किस कारण से है, इसका वह समाधान नहीं कर सका। किन्तु उसके शिष्यों ने मानसिक और दैहिक व्यापारों का कारण ईश्वर माना, जो मन एवं शरीर के व्यापारों में सामंजस्य स्थापित करता है।

मॉल ब्रॉक ने बताया—हमारी सम्पूर्ण विचारधाराएँ ईश्वर के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। वही सम्पूर्ण विचारधाराओं का केन्द्रबिन्दु है। किन्तु ईश्वर शरीरधारी

हौर्वतात (स्वास्थ्य) और (६) अमेरेतात (अमरता)। आहुर मज्दा को वही व्यक्ति उपलब्ध कर सकता है, जिसके जीवन में आचार, विचार, उच्चार तथा भावना में सत्य और शुचिता हो।

□

[तृतीय विभाग]

प्रज्ञा पुरुषों की दृष्टि में ईश्वर

भारत के दर्शन प्रवर्त्तकों ने ही नहीं, अपितु विश्व के इतर चिन्तकों ने भी ईश्वर और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् रूप से विचार प्रस्तुत किये हैं। 'ईश्वर' शब्द का अर्थ इतना अत्यधिक विभिन्नता लिये हुए है कि सामान्य मानव समझ नहीं पाता कि ईश्वर का अस्तित्व है भी या नहीं? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? वह एक दूसरी से विरुद्ध मान्यताओं एवं कल्पनाओं के जाल में उलझ जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध में, जितने भी दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक और साहित्यकार हुए, उन्होंने अनेक प्रणालियों का आश्रय लिया है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए या उसके अस्तित्व का खण्डन करने के लिए भी अपने ढंग से प्रबल तर्क दिये हैं।

मानव जिज्ञासु है, वह जानना चाहता है कि प्राग् ऐतिहासिक काल के आदिम जातियों से लेकर आधुनिक काल तक ईश्वर का चिन्तन किस रूप में हुआ है? दर्शन के इतिहास में प्लेटो-अरस्तू से लेकर जोसिया-रायस और विलियम जेम्स तक तथा आधुनिक वैज्ञानिकों और चिन्तकों ने किस दृष्टिकोण से ईश्वर का चित्रण किया है?

चिन्तन के इतिहास में ईश्वर के अर्थ में किस प्रकार शब्दावली व्यवहृत हुई है? हमें उन ईश्वरपरक शब्दों के वास्तविक अर्थ से परिचित होना चाहिए। यूनानी भाषा में एक शब्द है—'थी-इज्म'! यह शब्द व्यक्तिगत और आध्यात्मिक सत्ता के रूप में ईश्वर के लिए प्रचलित है। अंग्रेजी का शब्द 'डीइज्म', लैटिन भाषा का 'डायस' शब्द ईश्वर को सृजनकर्त्ता और नियामक के रूप में स्वीकार करता है। अंग्रेजी का शब्द 'पैंथीइज्म' यूनानी भाषा के दो शब्दों के मिलन से बना है, जिसका अर्थ सर्व तथा ईश्वर है। इसके अभिमतानुसार ईश्वर ही सर्वस्व है और सर्वस्व ही ईश्वर है। इसमें ईश्वर का प्रकृति या जगत के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया हैं। अंग्रेजी शब्द 'पालीथीइज्म' का अर्थ है—धर्म का कोई तन्त्र या सिद्धान्त जो बहु ईश्वरों में आस्था रखता हो। अंग्रेजी के शब्द 'मानोथीइज्म' का अर्थ है—वह सिद्धान्त जो ईश्वर के एक होने पर बल देता है। 'एथीज्म' शब्द ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करता है। आधुनिक चिन्तन में यह निरीश्वरवाद 'अज्ञेयवाद' के रूप में विश्रुत है।

काण्ट ने अपने 'क्रिटिक' और 'प्योर रीजन' में ईश्वर की संसिद्धि के लिए जो अनेकों प्रमाण थे, उन्हें कम करके तीन प्रमाणों में सीमित किया है—(१) विश्व-कारण युक्ति (२) प्रयोजनात्मक युक्ति तथा (३) प्रत्यय सत्ता युक्ति।

जब हम 'ईश्वर' शब्द के अर्थ तथा ईश्वर के स्वरूप पर चिन्तन करते हैं तो बचपन के चित्रों से प्रभावित होकर ईश्वर को मनुष्य के रूप में व्यापक तथा गौरवान्वित देखते हैं और उसमें मनुष्य के शरीर व गुण आरोपित करते हैं। ईश्वर को मनुष्य रूप में देखने की इस प्रवृत्ति को 'मानवत्वारोपण' कहते हैं। पर यूनानी दार्शनिक कवि जैनोफेन्स से लेकर आधुनिक आलोचकों तक अनेकों ने इसका उपहास किया है।

अधिकांश लोगों के विचार में ईश्वर शब्द का तात्पर्य उस दैवी सत्ता से है, जिसे अन्तरात्मा कहते हैं तथा जो सत्य और सर्वशक्तिमान् है और जिसका हमारे प्रारब्ध पर आधिपत्य है। वे उसे जगत् का निर्माणकर्त्ता, नीति-नियामक एवं निर्णायक भी मानते हैं तथा विश्वास करते हैं कि अन्तर्यामी रूप में वह जगत् में सर्वत्र स्थित है।

ईश्वर एक ऐसी अज्ञात एवं रहस्यपूर्ण अद्भुत शक्ति है जो भयानक होने पर भी सुहावनी है तथा जो स्वयं को प्रकृति की उत्पादक शक्ति में, जीवन और मृत्यु में, तूफान, महासागर, बिजली, सूर्य, प्रकाश, वर्षा आदि में अभिव्यक्त करती है। इसीलिए ईश्वर, निरपेक्ष, शाश्वत, अनन्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक आदि गुणों से उसे विभूषित माना जाता है।

इमर्सन जैसे महान् दार्शनिकों के लिए ईश्वर, 'बुद्धिमत्ता, पूर्ण शान्ति, सार्वभौम सौन्दर्य तथा शाश्वत' अति-आत्मा है। तो वर्ड्सवर्थ के लिए वह व्याकुल करने वाली सत्ता है।

डेकार्टे के अभिमतानुसार प्रत्येक वस्तु पर सन्देह करने वाला मानव अपने आप पर सन्देह नहीं करता। सन्देह एक प्रकार का विचार है जो यह सिद्ध करता है कि पूर्णता जैसी वस्तु अवश्य होनी चाहिए और पूर्णसत्ता भी अवश्य होनी चाहिए। वह पूर्ण सत्ता ईश्वर है। एतदर्थ ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और परम विशुद्ध होना चाहिए। डेकार्टे ने मानसिक तत्त्व और शारीरिक तत्त्व को पृथक माना था। पर वह किस कारण से है, इसका वह समाधान नहीं कर सका। किन्तु उसके शिष्यों ने मानसिक और दैहिक व्यापारों का कारण ईश्वर माना, जो मन एवं शरीर के व्यापारों में सामंजस्य स्थापित करता है।

मॉल ब्रॉक ने बताया—हमारी सम्पूर्ण विचारधाराएँ ईश्वर के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। वही सम्पूर्ण विचारधाराओं का केन्द्रबिन्दु है। किन्तु ईश्वर शरीरधारी

नहीं है और न आध्यात्मिक ही है। यह तो सर्वोच्च और शुभ है। एतदर्थ ही मानव उसकी अभ्यर्थना करता है।

स्पिनोजा ने ईश्वर को अनेक गुण युक्त विशिष्ट तत्त्व माना है। वह तत्त्व अविभाज्य है, शाश्वत है, अनन्त है और सभी पदार्थों का एक मात्र आधार है। वही सम्पूर्ण विश्व का नियन्ता है। सारा विश्व उसी से निःसृत है। ईश्वर असीम है, संख्या, अंश, समय से परे हैं; जिन्हें हम ईश्वर के गुण कहते हैं वे गुण केवल वैचारिक रूपों के नाम हैं जिनके आधार पर हमारा मन ईश्वर को समझने का प्रत्यन करता है। स्पिनोजा ने तीन प्रकार के ज्ञान को स्वीकारा है—ऐन्द्रिय संवेदन, बुद्धि और प्रज्ञा। ईश्वरीय तत्त्व का परिज्ञान प्रज्ञा द्वारा हो सम्भव है। पर बुद्धि भी ईश्वर के अनन्त मन का अंश है। उसके मंतव्यानुसार सम्पूर्ण जगत् में ईश्वर है। जो कुछ भी दृग्गोचर होता है वह ईश्वर में ही है और रहता है तथा गतिशील होता है।[1]

लॉक का मन्तव्य है कि ईश्वर को जानना सम्भव है। क्योंकि हमारे अन्तर्मानस में ईश्वर की आकृतियाँ और धारणाएँ अवस्थित हैं। जब हम बाह्य जगत् को देखते हैं एवं मानव की शक्ति को निहारते हैं तब हम यह चिन्तन करने के लिए बाध्य होते हैं कि इन विराट शक्तियों का सर्जक कोई महान् सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रज्ञा स्कन्ध सत्ता अवश्य है और वह सत्ता ईश्वर ही होनी चाहिए।

बर्कले के विचारानुसार ईश्वर सभी प्राणियों के अन्तर्मानस को नियन्त्रित करने वाली शक्ति विशेष है। वह सभी को ज्ञान प्रदान करता है। हमें जो कुछ भी संवेदनाएँ होती हैं, वे सभी ईश्वर के कारण होती हैं। हम ईश्वर के असली स्वरूप को नहीं जान पाते हैं। हम उसके सम्बन्ध में उतना ही जान पाते हैं, जितना वह हमें परिज्ञान कराता है।

जॉन कॉल्विन, जॉन टोलेण्ड, तिण्डल प्रभृति चिन्तकों का अभिमत है कि ईश्वर नियन्ता है और ऐसा विश्व का निर्माता है, जैसा एक घड़ीसाज घड़ी का निर्माण करता है। घड़ी जब तक चलती रहती है, वहाँ तक घड़ीसाज उसमें हस्तक्षेप नहीं करता, वैसे ही ईश्वर तब तक हस्तक्षेप नहीं करता जब तक विश्व अपने नियमों का उल्लंघन नहीं करता।

जिस समय संशयवाद की आँधी चल रही थी कि ईश्वर है या नहीं और इस प्रश्न पर गहराई से चिन्तन चल रहा था, बहुत से विज्ञों का अभिमत था कि ईश्वर नाम का कोई तत्त्व नहीं है। किन्तु रूसो ने उस संक्रान्तिकाल में भी ईश्वर पर निष्ठा व्यक्त की। उसने कहा—बौद्धिकता की तराजू पर ईश्वर को तोला नहीं जा

---

1 "I say, All is in God; all lives and moves in God."
—Spinozna in his Correspondence, Epistle 21.

सकता। बुद्धि से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना सम्भव नहीं है। ईश्वर और किसी को पसन्द नहीं करता, वह तो हृदय की भक्ति चाहता है।[1]

लाइबनीज ने ईश्वर को चिद्-विन्दुओं का बिन्दु माना है। काण्ट का कहना है—यदि ईश्वर को न माना जायेगा तो पूर्ण नैतिकता का आदर्श अपूर्ण ही रहेगा। अच्छे कार्यों का फल देने वाली और कुकृत्यकारियों को दण्डित करने वाली कोई न कोई सत्ता अवश्य ही होनी चाहिए और वही सत्ता ईश्वर है। हीगल द्वन्द्वात्मक पद्धति पर निष्ठा रखने वाला था। उसका अभिमत था कि विश्व की प्रत्येक वस्तु में स्थापना, प्रतिस्थापना और सामंजस्य की रीति से ही गतिशीलता होती है। यह विचारधारा अत्यधिक प्राचीन है। एम्पेडोक्लीज, अरिस्टाटल, शेलिंग और फिक्टे में ये ही स्वर सुनायी देते हैं। हीगल की विचारधारा है कि धर्म का कार्य है—उस परम सत्ता तक पहुँचना और उसकी अनुभूति करना। परम-सत्ता एक ऐसी विशिष्ट सत्ता है, जिसमें जड़ और चेतन, विषय और वस्तु, शुभ और अशुभ एक हो गये हैं।

ब्रेडले ने सत्य को एकरूपता कहकर शब्दों की परिधि में बाँधने का प्रयास किया है। उसका मन्तव्य है कि सत्य एक प्रकार की पूर्ण अनुभूति है जिसमें हमारे अनुभवों की आंशिक सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। वह ईश्वर को शुभ और सीमित मानता है क्योंकि यही एक उपाय है जिससे एक परिपूर्ण वास्तविक इच्छा और वैयक्तिक इच्छा का अन्तर्विरोध मिटाया जा सकता है।

बोझांके का मन्तव्य है कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तत्त्वशास्त्रीय या धर्मशास्त्रीय तर्क अपूर्ण हैं। अनुभव से ही ईश्वर का परिज्ञान सही रूप से होता है। रायस ईश्वर को सर्वान्तर्यामी मानता है। उसकी दृष्टि से सर्वान्तर्यामी का तात्पर्य है—ईश्वर को अपने सत्य के विषय में प्रत्यक्ष तथा अलौकिक दृष्टि प्राप्त है। प्रत्येक मानवीय चेतना में भी विचार और अनुभव का पार्थक्य पाया जाता है। जिस सत्ता में विचार और अनुभव की पृथकता नहीं है वह अपने आप में पूर्ण है और वही ईश्वर है। ईश्वर निरपेक्ष तथा परम सत्ता है।

हाविसन आध्यात्मिक जगत की सत्यता को, ईश्वर और मनुष्य समाज इन दो पक्षों के सामंजस्य में पाता है। वह ईश्वर के पितृत्व और मानव के भ्रातृत्व को मानता है। सर्जक और द्रष्टा दोनों समान और पारस्परिक रूप से सत्य हैं, पर वे एक नहीं हैं। ईश्वर के प्रति मनुष्य के कुछ कर्तव्यों को मानते हुए हाविसन कहता है कि मनुष्य भी उतना ही सत्य एवं अनश्वर है जितना स्वयं ईश्वर है।

उपसंहार

पूर्व पृष्ठों में हमने विस्तार के साथ ईश्वर सम्बन्धी कल्पनाओं और उसके विभिन्न रूपों पर चिन्तन किया है। सभी परम्पराओं में ईश्वर की कल्पना के सम्बन्ध में एकरूपता नहीं रही है। उसमें देश, काल और वैचारिक विकास के अनुसार परि-

---

1 "The move I strive to prove the infinite being I God, the less do I understand is, but I feel that he is enough for me."

वर्तन होता रहा है। कभी प्राकृतिक शक्तियों में दैवी-कल्पना कर उन्हें ईश्वर मानकर उनकी उपासना की गयी, कभी विविध देवी-देवताओं की कल्पना कर उनमें ईश्वरत्व का आरोप किया गया। कभी ईश्वर को एक विशिष्ट शक्ति के रूप में मानकर उसकी अर्चना की गयी। कभी साकार ईश्वर को तो कभी निराकार ईश्वर को माना गया। इस प्रकार ईश्वर सम्बन्धी विचारधाराओं में प्राग् ऐतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग तक जो विकास हुआ है, उसको हम संक्षेप में ग्यारह भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्राकृतिक शक्तियों को ईश्वर मानना।

(२) जीवन या प्रकृति में घटित चमत्कारों का ईश्वरीकरण।

(३) रोग या कष्ट से मुक्त करने वाली शक्तियों की पूजा।

(४) अपने से बड़े, भयावह प्राणी का, आदर भावना से दैवीकरण।

(५) राजा, सम्राट या वीर पुरुष का दैवीकरण।

(६) पुरोहित या धर्मगुरु को ईश्वर मानना।

(७) कई छोटे-बड़े देवी-देवताओं की माला में सुसूत्रता लाने के लिए एक महादेव की कल्पना।

(८) मातृरूपा महाशक्ति या पराशक्ति की पूजा।

(९) देवाधिदेव की अमूर्त कल्पना—ब्रह्म, ऋत्, परम तत्त्व आदि।

(१०) यह मानना कि सर्व धर्मों के मूल में एक ही ईश्वर तत्त्व अनुस्यूत है। विविध धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसी सर्व-धर्म-सम्भावना का विस्तार।

(११) ईश्वर वस्तुतः परमात्मा, निरंजन, निर्विकार, विशुद्ध, सर्वोत्कृष्ट चेतन स्वरूप—आत्मा है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त सामर्थ्य सम्पन्न है। वह जगत का कर्ता, हर्ता, धर्ता है, क्योंकि जगत शाश्वत होने के कारण कभी उत्पन्न नहीं होता।

ईश्वर की उपलब्धि के लिए विश्व के विविध धर्मों ने अपनी-अपनी दृष्टि से मार्ग प्रतिपादन किये हैं। यदि हम शब्दों के जाल में न उलझकर समन्वयात्मक दृष्टि से चिन्तन करें तो सहज ही परिज्ञात होता है कि सभी चिन्तकों का स्वर एक ही रहा है। सभी ने हृदय, मस्तिष्क और कर्मेन्द्रिय इन तीनों के माध्यम से आत्म-विकास हेतु तीन मार्ग प्रदर्शित कि ये हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विविध धर्मों के तीन मार्ग दिये जा रहे हैं।

क्रमांक	धर्म	मस्तिष्क	हृदय	कर्मेन्द्रिय
१.	हिन्दू	ज्ञानमार्ग	भक्तिमार्ग	कर्ममार्ग
२.	इसलाम	हकीकत (अकायद)	तरीकत (इबादत)	शरीयत (मामिल)
३.	यूनानी	ग्नोसिस	पाएटास	इर्नजिया
४.	ईसाई	इल्यूमिनेशन	मिस्टिसिज्म	चैरिटी
५.	बौद्ध	सम्यक् दृष्टि	सम्यक्-संकल्प	सम्यक्-व्यायाम
६.	जैन	सम्यग्ज्ञान	सम्यग्दर्शन	सम्यक्-चारित्र

३

जैन योग : एक अनुशीलन

भारतीय संस्कृति में योग का अत्यधिक महत्त्व रहा है। अतीत काल से ही भारत से मूर्धन्य मनीषीगण योग पर चिन्तन, मनन और विश्लेषण करते रहे हैं; क्योंकि योग से मानव जीवन पूर्ण विकसित होता है। मानव-जीवन में शरीर और आत्मा इन दोनों की प्रधानता है। शरीर स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म है। पौष्टिक और पथ्यकारी पदार्थों के सेवन से तथा उचित व्यायाम आदि से शरीर पुष्ट और विकसित होता है, किन्तु आत्मा का विकास योग से होता है। योग से काम, क्रोध, मद, मोह आदि विकृतियाँ नष्ट होती हैं। आत्मा की जो अनन्त शक्तियाँ आवृत हैं वे योग से अनावृत होती हैं और आत्मा की ज्योति जगमगाने लगती हैं।

आत्म-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधन है। उसका सही अर्थ क्या है? उसकी क्या परम्परा है? उसके सम्बन्ध में चिन्तक क्या चिन्तन करते हैं? और उनका किस प्रकार योगदान रहा है? आदि प्रश्नों पर यहाँ पर विचार किया जा रहा है।

योग शब्द 'युज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय मिलने से बनता है। 'युज्' धातु दो हैं, जिनमें से एक का अर्थ है—संयोजित करना, जोड़ना[1] और दूसरी का अर्थ है—मन की स्थिरता, समाधि[2]। प्रश्न यह है कि भारतीय योग दर्शन में इन दोनों अर्थों में से किसे अपनाया गया है? उत्तर में निवेदन है कि कितने ही विज्ञों ने 'योग' का जोड़ने के अर्थ में प्रयोग किया है तो कितने ही विज्ञों ने समाधि के अर्थ में। आचार्य पतंजलि ने 'चित्तवृत्ति के निरोध को योग' कहा है।[3] आचार्य हरिभद्र ने जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल नष्ट होता है और मोक्ष के साथ संयोग होता है, उसे

---

1 युज्यति योगे—गण ७, हेमचन्द्र धातुपाठ।

2 युजिन् समाधौ—गण ४, हेमचन्द्र धातुपाठ।

3 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—पातंजल योगसूत्र पा० १ सं० २।

योग कहा है।[1] उपाध्याय यशोविजय जी ने भी योग की वही परिभाषा की है।[2] बौद्ध चिन्तकों ने योग का अर्थ समाधि किया है।[3]

योग के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो रूप हैं। साधना में चित्त का एकाग्र होना या स्थिरचित्त होना यह योग का बाह्य रूप है। अहंभाव, ममत्वभाव आदि मनोविकारों का न होना—योग का आभ्यन्तर रूप है। कोई प्रयत्न से चित्त को एकाग्र भी कर ले पर अहंभाव और ममभाव प्रभृति मनोविकारों का परित्याग नहीं करता है तो उसे योग की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। यह केवल व्यावहारिक योग साधना है, किन्तु पारमार्थिक या भावयोग साधना नहीं है। अहंकार और ममकार से रहित समत्वभाव की साधना को ही गीताकार ने सच्चा योग कहा है।[4]

वैदिक परम्परा का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य रूप से हुआ है। ऋग्वेद में योग शब्द का व्यवहार अनेक स्थलों पर हुआ है।[5] किन्तु वहाँ पर योग का अर्थ ध्यान और समाधि नहीं है, पर योग का अर्थ जोड़ना, मिलाना और संयोग करना है। उपनिषदों में भी जो उपनिषद् बहुत ही प्राचीन हैं उनमें भी आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है, किन्तु उत्तरकालीन कठोपनिषद्[6], श्वेताश्वतर उपनिषद्[7] आदि में आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने योग का खासा अच्छा निरूपण किया है।[8]

योगवासिष्ठ ने भी योग पर विस्तार से चर्चा की है।[9] ब्रह्मसूत्र में भी योग पर खण्डन और मण्डन की दृष्टि से चिन्तन किया गया है।[10] किन्तु महर्षि पतंजलि

1 (क) मोक्खेव जोयणाओ जोगो। —योगविंशिका, गा० १।
(ख) आध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एवं श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ —योगबिन्दु ३१।

2 मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते। —द्वात्रिंशिका

3 संयुक्त निकाय ५–१० विभंग ३१७–१८।

4 योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय!
सिद्धायसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योगं उच्चते॥ —गीता २/४८

5 ऋग्वेद—१-५-३ : १-१८-७ : १-३४-८ : २-८-१ : ६-५८-३ : १०-१६६-५।

6 कठोपनिषद—२-६-११ : १-२-१२।

7 श्वेताश्वतर उपनिषद् ६ और १३।

8 देखिये—गीता ६ और १३वाँ अध्याय।

9 देखिये—योगवासिष्ठ, छठा प्रकरण।

10 ब्रह्मसूत्र भाष्य, २-१-३।

ने योग पर जितना व्यवस्थित रूप से लिखा उतना व्यवस्थित रूप से अन्य वैदिक विद्वान नहीं लिख सके। वह बहुत ही स्पष्ट तथा सरल है, निष्पक्षभाव से लिखा हुआ है। प्रारम्भ से प्रान्त तक की साधना का एक साथ संकलन-आकलन है। पातंजल योग-सूत्र की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं—

प्रथम, वह ग्रन्थ बहुत ही संक्षेप में लिखा गया है। दूसरी विशेपता, विपय की पूर्ण स्पष्टता है और तीसरी विशेपता, अनुभव की प्रधानता है। प्रस्तुत ग्रन्थ चार पाद में विभक्त है। प्रथम पाद का नाम समाधि है, द्वितीय का नाम साधन है, तृतीय का नाम विभूति है और चतुर्थ का नाम कैवल्य पाद है। प्रथम पाद में मुख्य रूप से योग का स्वरूप, उसके साधन तथा चित्त को स्थिर बनाने के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद में क्रिया योग, योग के अंग, उनका फल, और हेय, हेतु, हान और हानोपाय इन चतुर्व्यूह का वर्णन है। तृतीय पाद में योग की विभूतियों का विश्लेपण है। चतुर्थ पाद में परिणामवाद की स्थापना, विज्ञानवाद का निराकरण और कैवल्य अवस्था के स्वरूप का चित्रण है।

भागवत पुराण में भी योग पर विस्तार से लिखा गया है।[1] तान्त्रिक सम्प्रदाय वालों ने भी योग को तन्त्र में स्थान दिया है। अनेक तन्त्र ग्रन्थों में योग का विश्लेषण उपलब्ध होता है। महानिर्वाणतन्त्र[2] और षट्चक्र निरूपण[3] में योग पर विस्तार से प्रकाश डाला है। मध्यकाल में तो योग पर जन-मानस का अत्यधिक आकर्षण बढ़ा जिसके फलस्वरूप योग की एक पृथक सम्प्रदाय बनी जो हठयोग के नाम से विश्रुत है। जिसमें आसन, मुद्रा, प्राणायाम प्रभृति योग के बाह्य अंगों पर विशेष बल दिया गया। हठयोग, प्रदीपिका शिव-संहिता, घेरण्ड-संहिता, गोरक्षा-पद्धति, गोरक्ष-शतक, योग तारावली, विन्दुयोग, योग बीज, योग-कल्पद्रुम आदि मुख्य ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुम्भक, पूरक, रेचक आदि बाह्य अंगों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। घेरण्ड-संहिता में तो आसनों की संख्या अत्यधिक बढ़ गयी है।

गीर्वाण गिरा में ही नहीं अपितु प्रान्तीय भाषाओं में भी योग पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। मराठी भाषा में गीता पर ज्ञानदेव रचित ज्ञानेश्वरी टीका[4] में योग का सुन्दर वर्णन है। कबीर का बीजक ग्रन्थ योग का श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

बौद्ध परम्परा में योग के लिए समाधि और ध्यान शब्द का प्रयोग मिलता है। बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग को अत्यधिक महत्त्व दिया है। बोधित्व प्राप्त करने के पूर्व

[1] भागवत पुराण, स्कन्ध ३, अध्याय २८; स्कन्ध ११, अध्याय १५-१९-२०।

[2] महानिर्वाण तन्त्र, अध्याय ३ और Tantrik Texts में प्रकाशित।

[3] षट्चक्र निरूपण, पृ०ठ ६०, ६१, ८२, ९०, ९१ और १३४।

[4] ज्ञानेश्वरी टीका—छठा अध्याय।

श्वासोच्छ्वास निरोध की साधना प्रारम्भ की थी[1] किन्तु समाधि प्राप्त न होने से उसका परित्याग कर अष्टांगिक मार्ग को अपनाया।[2] अष्टांगिक मार्ग में समाधि के ऊपर विशेष बल दिया गया है। समाधि या निर्वाण प्राप्त करने के लिए ध्यान के साथ अनित्य भावना को भी महत्त्व दिया है। तथागत बुद्ध ने कहा—"भिक्षो ! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है वह दुःखप्रद है। जो दुःखप्रद है वह अनात्मक है। जो अनात्मक है वह मेरा नहीं। वह मैं नहीं हूँ। इस तरह संसार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिए।"

जैन आगम साहित्य में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु योग शब्द का अर्थ जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध परम्परा में हुआ है उस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ योग शब्द का प्रयोग मन, वचन, काया की प्रवृत्ति के लिए हुआ है। वैदिक और बौद्ध परम्परा में जिस अर्थ को योग शब्द व्यक्त करता है उस अर्थ को जैन परम्परा में तप और ध्यान व्यक्त करते हैं।

ध्यान का अर्थ है—मन, वचन और काया के योगों को आत्मचिन्तन में केन्द्रित करना। ध्यान में तन, मन और वचन को स्थिर करना होता है। केवल सांस लेने की छूट रहती है, सांस के अतिरिक्त सभी शारीरिक क्रियाओं को रोकना अनिवार्य है। सर्वप्रथम शरीर की विभिन्न क्रियाओं को रोका जाता है। वचन को नियन्त्रित किया जाता है और उसके पश्चात् मन को आत्म-स्वरूप में एकाग्र किया जाता है। प्रस्तुत साधना को हम द्रव्य-साधना और भाव-साधना कह सकते हैं। तन और वचन की साधना द्रव्य-साधना और मन की साधना भाव-साधना है।

जैन परम्परा में हठयोग को स्थान नहीं दिया गया है और न प्राणायाम को आवश्यक माना है। हठयोग के द्वारा जो नियन्त्रण किया जाता है उससे स्थायी लाभ नहीं होता, न आत्म-शुद्धि होती है और न मुक्ति ही प्राप्त होती है। स्थानांग, समवायांग, भगवती, उत्तराध्ययन आदि आगम साहित्य में ध्यान के लक्षण और उनके प्रभेदों पर प्रकाश डाला है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में ध्यान पर विशद् विवेचन किया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान पर चिन्तन किया है। किन्तु उनका चिन्तन आगम से पृथक नहीं है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने "ध्यानशतक" की रचना की। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैन ध्यान पद्धति के मर्मज्ञ ज्ञाता थे। उन्होंने ध्यान की गहराई में जाकर जो अनुभव का अमृत प्राप्त किया उसे इस ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

आचार्य हरिभद्र ने जैन-योग पद्धति में नूतन परिवर्तन किया। उन्होंने योग विन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय, योगविंशिका, योगशतक और षोडशक प्रभृति अनेक ग्रन्थों

---

1 अंगुत्तरनिकाय ६३।
2 संयुक्तनिकाय ५-१०।

का निर्माण किया। इन ग्रन्थों में जैन परम्परा के अनुसार योग साधना का विश्लेपण करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए, अपितु पातंजल योगसूत्र में वर्णित योग साधना और उनकी विशेष परिभाषाओं के साथ जैन योग साधना की तुलना की है और उसमें रहे हुए साम्य को वताने का प्रयास किया है।[1]

आचार्य हरिभद्र के योग ग्रन्थों की निम्न विशेषताएँ हैं :

(१) कौन साधक योग का अधिकारी है और कौन योग का अनधिकारी है।

(२) योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले की जो तैयारी अपेक्षित है, उस पर चिन्तन किया है ?

(३) योग्यता के आधार पर साधकों का विभिन्न दृष्टि से विभाग किया है और उनके स्वरूप और अनुष्ठान का भी प्रतिपादन किया गया है।

(४) योग साधना के भेद-प्रभेदों और साधन का वर्णन है।

योगबिन्दु में योग के अधिकारी के अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति ये चार विभाग किये और योग की भूमिका पर विचार करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय ये पाँच प्रकार वताये। योगदृष्टि समुच्चय में ओघ दृष्टि और योग दृष्टि पर चिन्तन किया है। इस ग्रन्थ में योग के अधिकारियों को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम भेद में प्रारम्भिक अवस्था से विकास की अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओं के कर्म-मल के तारतम्य की दृष्टि से मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा—ये आठ विभाग किये हैं। ये आठ विभाग पातंजल योग सूत्र के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तथा बौद्ध परम्परा के खेद, उद्वेग आदि अष्ट पृथक् जन चित्त दोषपरिहर और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्ट योग गुणों को प्रकट करने के आधार पर किये गये हैं। योग शतक में योग के निश्चय और व्यवहार—ये दो भेद किये गये हैं। योगविंशिका में धर्म साधना के लिए की जाने वाली क्रियाओं को योग कहा है और योग की स्थान, ऊर्जा, अर्थ, आलम्वन और अनालम्बन ये पाँच भूमिकाएँ वतायी हैं।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् जैन योग के इतिहास के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं—आचार्य हेमचन्द्र जिन्होंने योगशास्त्र नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रन्थ में पातंजल योग सूत्र के अष्टांग योग की तरह श्रमण तथा श्रावक

---

1 समाधिरेषु एवान्यैः संप्रज्ञोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्यर्थं ज्ञानतरस्तथा॥
असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधि गीयते परैः।
निरुद्धशेष वृत्यादि तत्स्वरूपानुरोधक॥

—योगविन्दु ४१६-४२०।

जीवन की आचार साधना को जैन आगम-साहित्य के प्रकाश में व्यक्त किया है। इसमें आसन, प्राणायाम आदि का भी वर्णन है। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का भी वर्णन किया है और मन की विक्षुप्त, यातायात, श्लिप्ट और सुलीन इन चार दशाओं का भी वर्णन किया है जो आचार्य की अपनी मौलिक देन है।

आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र का नाम आता है। ज्ञानार्णव उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। सर्ग २६ से ४२ तक में प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप और भेदों का वर्णन किया है। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियों पर परकाय-प्रवेश आदि के फल पर चिन्तन करने के पश्चात् प्राणायाम को मोक्ष रूप साध्यसिद्धि के लिए अनावश्यक और अनर्थकारी बताया है।

उसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजयजी का नाम आता है, वे सत्योपासक थे। उन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिपद्, योगावतार बत्तीसी, पातंजल योग सूत्र वृत्ति, योगविंशिका टीका, योग दृष्टिनी सज्झाय आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। अध्यात्मसार ग्रन्थ के योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण में गीता और पातंजल योगसूत्र का उपयोग करके भी जैन-परम्परा में विश्रुत ध्यान के विविध भेदों का समन्वयात्मक वर्णन किया है। अध्यात्मोपनिपद् में शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद् के महत्त्वपूर्ण उद्धरण देकर जैनदर्शन के साथ तुलना की है। योगावतार बत्तीसी में पातंजल योग सूत्र में जो योग-साधना का वर्णन है, उसका जैन दृष्टि से विवेचन किया है और हरिभद्र के योग-विंशिका और षोडशक पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखकर उसके रहस्यों को उद्घाटित किया है, जैनदर्शन की दृष्टि से पातंजल योगसूत्र पर भी एक लघु-वृत्ति लिखी है। इस तरह यशोविजयजी के ग्रन्थों में मध्यस्थ भावना, गुण-ग्राहकता व समन्वयक दृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

सारांश यह है कि जैन परम्परा का योग साहित्य अत्यधिक विस्तृत है। मूर्धन्य मनीषियों ने उस पर जम कर लिखा है। आज पुनः योग पर आधुनिक दृष्टि से चिन्तन ही नहीं, किन्तु जीवन में अपनाने की आवश्यकता है। यहाँ बहुत ही संक्षेप में मैंने अपने विचार व्यक्त किये हैं। अवकाश के क्षणों में इस पर विस्तार से लिखने का विचार है।

४

लेश्या : एक विश्लेषण

लेश्या जैन-दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त को समझने में लेश्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विराट विश्व में प्रत्येक संसारी आत्मा में प्रतिपल प्रतिक्षण होने वाली प्रवृत्ति से सूक्ष्म कर्म पुद्गलों का आकर्षण होता है। जव वे पुद्गल स्निग्धता व रूक्षता के कारण आत्मा के साथ एकमेक हो जाते हैं तव उन्हें जैन-दर्शन में 'कर्म' कहा जाता है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक समूह हैं। उनमें से एक समूह का नाम लेश्या है। उत्तराध्ययन की वृहत् वृत्ति में लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया किया है।[1] मूलाराधना में शिवार्य ने लिखा है "लेश्या छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव परिणाम हैं।[2] प्राचीन साहित्य में शरीर के वर्ण, आणविक आभा और उसने प्रभावित होने वाले विचार इन तीनों अर्थों में लेश्या पर विश्लेषण किया गया है। शरीर का वर्ण और आणकिक आभा को द्रव्यलेश्या कहा जाता है[3] और विचार को भावलेश्या।[4] द्रव्यलेश्या पुद्गल है। पुद्गल होने से वैज्ञानिक साधनों के द्वारा भी उन्हें जाना जा सकता है और प्राणी में योगप्रवृत्ति

---

1 वृहद् वृत्ति, पत्र ६५०
लेशयति-श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्त रूपा छाया।

2 मूलाराधना ७/१९०७
जह वाहिरलेस्साओ, किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स।
अब्भन्तरलेस्साओ, तह किण्हादीय पुरिसस्स।।

3 (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९४
वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
सा सोढा किण्हादी अणेयभेय
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५३९।

4 उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४०।

से होने वाले भावों को भी समझ सकते हैं। द्रव्यलेश्या के पुद्गलों पर वर्ण का प्रभाव अधिक होता है। वे पुद्गल कर्म, द्रव्य-कषाय, द्रव्य-मन, द्रव्य-भाषा के पुद्गलों से स्थूल हैं। किन्तु औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, शब्द, रूप, रस, गन्ध, आदि से सूक्ष्म हैं। ये पुद्गल आत्मा के प्रयोग में आने वाले पुद्गल हैं अतः इन्हें प्रायोगिक पुद्गल कहते हैं। यह सत्य है कि ये पुद्गल आत्मा से नहीं बँधते हैं, किन्तु इनके अभाव में कर्म-बन्धन की प्रक्रिया भी नहीं होती।

आत्मा जिसके सहयोग से कर्म में लिप्त होती है, वह लेश्या है। लेश्या का व्यापक दृष्टि से अर्थ करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं कि पुद्गल द्रव्य के संयोग से होने वाले जीव के परिणाम और जीव की विचार-शक्ति को प्रभावित करने वाले पुद्गल द्रव्य और संस्थान के हेतुभूत वर्ण और कान्ति। भगवती सूत्र में जीव और अजीव दोनों की आत्म-परिणति के लिए लेश्या शब्द व्यवहृत हुआ है। जैसे चूना और गोबर से दीवार का लेपन किया जाता है वैसे ही आत्मा पुण्य-पाप या शुभ और अशुभ कर्मों से लीपी जाती है अर्थात् जिसके द्वारा कर्म आत्मा में लिप्त हो जाते हैं वह लेश्या है।[1] दिगम्बर आचार्य वीरसेन के शब्दों में, 'आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाली प्रवृत्ति लेश्या है।'[2] मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग के द्वारा कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से होता है क्या वे ही लेश्या हैं? पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कषायों के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है।[3] तत्त्वार्थराजवार्तिक में अकलंक ने भी उसी का अनुसरण किया है।[4]

सार यह है कि केवल कषाय और योग लेश्या नहीं है, किन्तु कषाय और योग दोनों ही उसके कारण हैं। इसलिए लेश्या का अन्तर्भाव न तो योग में किया जा सकता है और न कषाय में। क्योंकि इन दोनों के संयोग से एक तीसरी अवस्था समुत्पन्न होती है जैसे शरबत। कितने ही आचार्य मानते हैं कि लेश्या में कषाय की प्रधानता नहीं अपितु योग की प्रधानता होती है क्योंकि केवली में कषाय का अभाव होता है, किन्तु योग की सत्ता रहती है, इसलिए उसमें शुक्ल लेश्या है।

षट्खण्डागम की धवला टीका में लेश्या के सम्बन्ध में निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-बहुत्व प्रभृति अधिकारों के द्वारा चिन्तन किया है।[5] आगम साहित्य में अट्ठाइस लब्धियों का वर्णन है। उनमें एक तेजस्-लब्धि है। तेजो-लेश्या

---

1 गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४८९, प० सं० (प्रा०) ११४२-३।

2 धवला ७, २, १, सू० ३, पृ० ७।

3 सर्वार्थसिद्धि २/६, तत्त्वार्थराजवार्तिक २/६/८।

4 तत्त्वार्थराजवार्तिक २, ६, ८, पृ० १०९।

5 धवला १, १, १, ४, पृ० १४९।

अजीव है। तेजो-लेश्या के पुद्गलों में जिस प्रकार लाल प्रभा और कान्ति होती है वैसी ही कान्ति तेजस्-लब्धि के प्रयोग करने वाले पुद्गलों में भी होती है। इसी दृष्टि से तेजस्-लब्धि के साथ लेश्या शब्द भी प्रयुक्त हुआ हो।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! बाण के जीवों को मार्ग में जाते समय कितनी क्रियाएँ लगती हैं ? उसके हर एक अवयव को कितनी क्रियाएँ होती हैं ? उत्तर में भगवान ने कहा—गौतम, चार-पाँच क्रियाएँ होती हैं। क्योंकि मार्ग में जाते समय मार्गवर्ती जीवों को वह संत्रस्त करता है। बाण के प्रहार से वे जीव अत्यन्त सिकुड़ जाते हैं। प्रस्तुत सन्तापकारक स्थिति में जीव को चार क्रियाएँ लगती हैं, यदि प्राणातिपात हो जाय तो पाँच क्रियाएँ लगती हैं।[1] यही स्थिति तेजो-लेश्या की भी है। उसमें भी चार-पाँच क्रियाएँ लगती हैं। अष्टस्पर्शी पुद्गल-द्रव्य मार्गवर्ती जीवों को उद्वेग न करे, यह स्वाभाविक है। भगवती में स्कन्दक मुनि का 'अवहिर्लेश्य' यह विशेषण है जिसका अर्थ है उनकी लेश्या यानि मनोवृत्ति संयम से बाहर नहीं है।[2] आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में श्रद्धा का उत्कर्ष प्रतिपादित करते हुए मनोयोग के अर्थ में लेश्या का प्रयोग हुआ है। शिष्य गुरु की दृष्टि का अनुगमन करे। उनकी लेश्या में विचरे अर्थात् उनके विचारों का अनुगमन करे।[3] प्रज्ञापना, जीवाभिगम, उत्तराध्ययन, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम साहित्य में लेश्या शब्द का प्रयोग वर्ण, प्रभा और रंग के अर्थ में भी हुआ है। प्रज्ञापना में देवों के दिव्य प्रभाव का वर्णन करते हुए द्युति, प्रभा, ज्योति, छाया, अर्चि और लेश्या शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] इसी प्रकार नारकीय जीवों के अशुभ कर्मविपाकों के सम्बन्ध में गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—क्या सभी नारकीय जीव एक सदृश लेश्या और एक सदृश वर्ण वाले होते हैं या असमान? समाधान करते हुए भ० महावीर ने कहा—सभी जीव समान लेश्या और समान वर्ण वाले नहीं होते। जो जीव पहले नरक में उत्पन्न हुए हैं वे पश्चात् उत्पन्न होने वाले जीवों की अपेक्षा विशुद्ध वर्ण वाले और लेश्या वाले होते हैं। इसका कारण नारकीय जीवों के अप्रशस्त वर्ण नामकर्म की प्रकृति, तीव्र अनुभाग वाली होती है जिसका विपाक भव-सापेक्ष्य है। जो जीव पहले उत्पन्न हुए हैं उन्होंने बहुत सारे विपाक को पा लिया है, स्वल्प अवशेष है। जो बाद में उत्पन्न हुए हैं उन्हें अधिक भोगना है। एतदर्थ पूर्वोत्पन्न विशुद्ध हैं और पश्चा-

---

1 ततेणं से उसु उड्ढं वेहासं उव्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं अभिहणई वत्तेति लेस्सेत्ति। —भग० २/५, उ० ६.

2 अविहिल्लेसे—भगवती २-२; उ०-१।

3 आचारांग, अ० ५।

4 प्रज्ञापना, पद २।

दुत्पन्न अविशुद्ध हैं। इसी तरह जिन्होंने अप्रशस्त लेश्या-द्रव्यों को अधिक मात्रा में भोगा है वे विशुद्ध हैं और जिनके अधिक शेष हैं वे अविशुद्ध लेश्या वाले हैं।[1]

हम पूर्व लिख चुके हैं कि लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेषात्मक है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन मान्यताएँ प्राप्त हैं—कर्मवर्गणानिष्पन्न, कर्मनिस्यन्द और योगपरिणाम।

उत्तराध्ययन सूत्र के टीकाकार शांतिसूरि का अभिमत है कि द्रव्य-लेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है। यह द्रव्य-लेश्या कर्मरूप है तथापि वह आठ कर्मों से पृथक् है, जैसे कि कार्मण शरीर। यदि लेश्या को कर्मवर्गणा निष्पन्न न माना जाय तो वह कर्म-स्थिति-विधायक नहीं बन सकती। कर्म-लेश्या का सम्बन्ध नामकर्म के साथ है। उसका सम्बन्ध शरीर-रचना सम्बन्धी पुद्गलों से है। उसकी एक प्रकृति शरीर नामकर्म है। शरीर नामकर्म के पुद्गलों का एक समूह कर्म-लेश्या है।[2]

दूसरी मान्यता की दृष्टि से लेश्या-द्रव्य कर्मनिस्यन्द रूप है। यहाँ पर निस्यन्द रूप का तात्पर्य बहते हुए कर्म-प्रवाह से है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म की सत्ता है, प्रवाह है। किन्तु वहाँ पर लेश्या नहीं है। वहाँ पर नये कर्मों का आगमन नहीं होता।

कषाय और योग ये कर्म बन्धन के दो मुख्य कारण हैं। कषाय होने पर लेश्या में चारों प्रकार के बन्ध होते हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का सम्बन्ध योग से है और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का सम्बन्ध कषाय से है। जब कषायजन्य बन्ध होता है तब लेश्याएँ कर्मस्थिति वाली होती हैं। केवल योग में स्थिति और अनुभाग नहीं होता, जैसे तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्तों के ईर्यापथिक क्रिया होती है, किन्तु स्थिति, काल और अनुभाग नहीं होता। जो दो समय का काल बताया गया है वह काल वस्तुतः ग्रहण करने का और उत्सर्ग का काल है। वह स्थिति और अनुभाग का काल नहीं है।

तृतीय अभिमतानुसार लेश्या-द्रव्य योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य है। बिना योग के लेश्या नहीं होती। लेश्या और योग में परस्पर अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध है। लेश्या के योग निमित्त में दो विकल्प समुत्पन्न होते हैं। क्या लेश्या को योगान्तर्गत द्रव्यरूप मानना चाहिए? अथवा योगनिमित्त कर्मद्रव्य रूप? यदि वह लेश्या द्रव्यकर्म रूप है तो घातीकर्म द्रव्यरूप है या अघाती कर्म द्रव्यरूप है? लेश्या घातीकर्म द्रव्यरूप नहीं है। क्योंकि घातीकर्म नष्ट हो जाने पर भी लेश्या होती है। यदि लेश्या को अघातीकर्म द्रव्यस्वरूप माने तो अघाती कर्मोंवालों में भी सर्वत्र लेश्या

---

1 प्रज्ञा० पद, १७ टीका० पृ० ३३३।

2 कर्म द्रव्यलेश्या इति सामान्याऽभिधानेऽपि शरीर नामकर्म द्रव्याण्येव कर्म द्रव्य-लेश्या। कार्मण शरीरवत् पृथगेव कर्माष्टकात् कर्म वर्गणा निष्पन्नानि कर्म लेश्या द्रव्यानीति तत्त्वं पुनः। —उत्तरा० अ० ३४ टी० पृ०, ६५०

नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में अघातीकर्म है, किन्तु वहाँ लेश्या का अभाव है। इसलिए योग द्रव्य के अन्तर्गत ही द्रव्य स्वरूप लेश्या मानना चाहिए।

लेश्या से कषायों की वृद्धि होती है; क्योंकि योगद्रव्यों में कषाय बढ़ाने का सामर्थ्य है। प्रज्ञापना की टीका में आचार्य ने लिखा है—कर्मों के द्रव्य, विपाक होने वाले और उदय में आने वाले दोनों प्रयत्नों से प्रभावित होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपना कर्तृत्व दिखाते हैं। जिसे पित्त-विकार हो उसका क्रोध बढ़ जाता है। ब्राह्मी का सेवन ज्ञानावरण को कम करने में सहायक है। मदिरापान से ज्ञानावरण का उदय होता है। दही के सेवन से निद्रा की अभिवृद्धि होती है। निद्रा जो दर्शनावरण का औदयिक फल है। अतः स्पष्ट है कषायोदय में अनुरंजित योग प्रवृत्ति ही (लेश्या) स्थितिपाक में सहायक होती है।[1]

गोम्मटसार में आचार्य नेमिचन्द्र ने योग-परिणामस्वरूप लेश्या का वर्णन किया है।[2] आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में[3] और गोम्मटसार के कर्मकाण्ड खण्ड में[4] कषायोदय अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार दसवें गुणस्थान तक ही लेश्या हो सकती है। प्रस्तुत परिभाषा अपेक्षाकृत होने से पूर्व की परिभाषा से विरुद्ध नहीं है। अब हम संक्षेप में तीनों परिभाषाओं के के सम्बन्ध में चिन्तन करेंगे।

प्रथम कर्मवर्गणानिष्पन्न लेश्या को मानने वाली एक परम्परा थी, किन्तु उस पर विस्तार के साथ लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध नहीं है।

द्वितीय कर्मनिस्यन्द लेश्या मानने वाले आचार्यों ने योग-परिणाम लेश्या को स्वीकार नहीं किया है। उनका मन्तव्य है कि लेश्या योग-परिणाम नहीं हो सकती। क्योंकि कर्मबन्ध के दो कारणों में से योग के द्वारा प्रकृति और प्रदेश का ही बन्ध हो सकता है, स्थिति और अनुभाग का बन्ध नहीं हो सकता। जबकि आगम साहित्य में स्थिति का लेश्याकाल प्रतिपादित किया गया है, वह इस परिभाषा को मानने से घट

---

1 प्रज्ञापना० १७ टीका, पृ० ३३०।

2 अयदोत्ति छ लेस्साओ, सहतियलेस्सा दु देसविरद तिये।
तत्तो सुक्कालेस्सा, अजोगिठाणं अलेस्सं तु॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ५३१

3 भावलेश्या कषायोदयरंजितायोग प्रवृत्तिरिति कृत्या औदयिकीत्युच्यते।
—सर्वार्थसिद्धि अ० २, सू० २

4 जोग पउत्ती लेस्सा कसाय उदयाणु रंजिया होइ।
तत्ते दोण्णं कज्जं बन्ध चउत्थं समुद्दिट्ठं॥
—जीवकाण्ड, ४८६

नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में अघातीकर्म है, किन्तु वहाँ लेश्या का अभाव है। इसलिए योग द्रव्य के अन्तर्गत ही द्रव्य स्वरूप लेश्या मानना चाहिए।

लेश्या से कषायों की वृद्धि होती है; क्योंकि योगद्रव्यों में कषाय बढ़ाने का सामर्थ्य है। प्रज्ञापना की टीका में आचार्य ने लिखा है—कर्मों के द्रव्य, विपाक होने वाले और उदय में आने वाले दोनों प्रयत्नों से प्रभावित होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपना कर्तृत्व दिखाते हैं। जिसे पित्त-विकार हो उसका क्रोध बढ़ जाता है। ब्राह्मी का सेवन ज्ञानावरण को कम करने में सहायक है। मदिरापान से ज्ञानावरण का उदय होता है। दही के सेवन से निद्रा की अभिवृद्धि होती है। निद्रा जो दर्शनावरण का औदयिक फल है। अतः स्पष्ट है कषायोदय में अनुरंजित योग प्रवृत्ति ही (लेश्या) स्थितिपाक में सहायक होती है।[1]

गोम्मटसार में आचार्य नेमिचन्द्र ने योग-परिणामस्वरूप लेश्या का वर्णन किया है।[2] आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में[3] और गोम्मटसार के कर्मकाण्ड खण्ड में[4] कषायोदय अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार दसवें गुणस्थान तक ही लेश्या हो सकती है। प्रस्तुत परिभाषा अपेक्षाकृत होने से पूर्व की परिभाषा से विरुद्ध नहीं है। अब हम संक्षेप में तीनों परिभाषाओं के के सम्बन्ध में चिन्तन करेंगे।

प्रथम कर्मवर्गणानिष्पन्न लेश्या को मानने वाली एक परम्परा थी, किन्तु उस पर विस्तार के साथ लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध नहीं है।

द्वितीय कर्मनिस्यन्द लेश्या मानने वाले आचार्यों ने योग-परिणाम लेश्या को स्वीकार नहीं किया है। उनका मन्तव्य है कि लेश्या योग-परिणाम नहीं हो सकती। क्योंकि कर्मबन्ध के दो कारणों में से योग के द्वारा प्रकृति और प्रदेश का ही बन्ध हो सकता है, स्थिति और अनुभाग का बन्ध नहीं हो सकता। जबकि आगम साहित्य में स्थिति का लेश्याकाल प्रतिपादित किया गया है, वह इस परिभाषा को मानने से घट

---

1 प्रज्ञापना० १७ टीका, पृ० ३३०।

2 अयदोत्ति छ लेस्साओ, सहतियलेस्सा दु देसविरद तिये।
तत्तो सुक्कालेस्सा, अजोगिठाणं अलेस्सं तु॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ५३१

3 भावलेश्या कषायोदयरंजितायोग प्रवृत्तिरिति कृत्या औदयिकीत्युच्यते।
—सर्वार्थसिद्धि अ० २, सू० २

4 जोग पउत्ती लेस्सा कसाय उदयाणु रंजिया होइ।
तत्ते दोण्णं कज्जं बन्ध चउत्थं समुद्दिट्ठं॥
—जीवकाण्ड, ४८६

नहीं सकेगा। अतः कर्मनिस्यन्द लेश्या मानना ही तर्कसंगत हैं।[1] जहाँ पर लेश्या के स्थितिकाल का बन्धन होता है वहाँ पर चारों का बन्ध होगा। जहाँ पर कषाय का अभाव है वहाँ पर योग के द्वारा दो का ही बन्धन होगा। उपशान्तमोह और क्षीण-मोह आत्माओं में कर्म-प्रवाह प्रारम्भ है, वहाँ पर लेश्या भी है, तथापि स्थिति का बन्ध नहीं होता है। प्रश्न है—समुच्छिन्न शुक्लध्यान को ध्याते हुए चौदहवें गुणस्थान में चार कर्म विद्यमान हैं तथापि वहाँ पर लेश्या नहीं है। उत्तर है—जो आत्माएँ कर्म युक्त हैं उन सभी के कर्म-प्रवाह चालू ही रहें, ऐसा नियम नहीं है। यदि इस प्रकार माना जायेगा तो योग परिणाम लेश्या का अर्थ होगा योग ही लेश्या है; किन्तु इस प्रकार नहीं है। उदाहरण के रूप में सूर्य के विना किरणें नहीं होतीं; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि किरणें ही सूर्य हैं। तात्पर्य यह है वहता हुआ जो कर्म-प्रवाह है वही लेश्या का उपादान कारण है।[2]

तृतीय योग-परिणाम लेश्या कर्मनिस्यन्द स्वभावयुक्त नहीं है। यदि इस प्रकार माना जायगा तो ईर्यापथिक मार्ग स्थिति-वन्ध विना कारण का होगा। आगम साहित्य में दी समय स्थिति वाले अन्तर्मुहूर्त काल को भी निर्धारित काल माना है। अतः स्थितिवन्ध का कारण कषाय नहीं अपितु लेश्या है। जहाँ पर कषाय रहता है वहाँ पर तीव्र वन्धन होता है। स्थितिवन्ध की परिपक्वता कषाय से होती है। अतः कर्म-प्रवाह को लेश्या मानना तर्कसंगत नहीं है।

कर्मों के कर्म-सार और कर्म-असार ये दो रूप हैं। प्रश्न है - कर्मों के असार-भाव को निस्यन्द मानते हैं तो असार कर्म प्रकृति से लेश्या के उत्कृष्ट अनुभागवन्ध का कारण किस प्रकार होगा? और यदि कर्मों के सार-भाव को निस्यन्द कहेंगे तो आठ कर्मों में से किस कर्म के सार-भाव को कहें? यदि आठों ही कर्मों का माना जाय तो जहाँ पर कर्मो के विपाक का वर्णन है वहाँ पर किसी भी कर्म का लेश्या के रूप में विपाक का प्रतिपादन नहीं हुआ है। एतदर्थ योग-परिणाम को ही लेश्या मानना चाहिए।[3] उपाध्याय विनयविजयजी ने लोक-प्रकाश में इस तथ्य को स्वीकार किया है।[4]

---

1 (क) उत्तराध्ययन अ० ३४—टी० पृ० ६५०।
(ख) प्रज्ञापना १७ पृ०, ३३१।

2 उत्तराध्ययन, अ० ३४, पृ० ६५०।

3 न लेश्या स्थिति हेतवः किन्तु कषायाः लेश्यास्तु कषायोदयान्तर्गताः अनुभाग हेतव अतएव च स्थितिपाक विशेषस्तस्य भवति लेश्या विशेपेण।

—उत्तरा० ३४, पृ० ६५०

(ख) प्रज्ञा० १७, पृ० ३३१।

4 लेसाणां निक्खेवो च उक्कओ दुविहो उ होइ नायव्वो—५३४।

भावलेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है, जो संक्लेश और योग के अनुगत है। संक्लेश के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट; तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम; मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि विविध भेद होने से भाव-लेश्या के अनेक प्रकार हैं, तथापि संक्षेप में उसे छः भागों में विभक्त किया है। अर्थात्, मन के परिणाम शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकार के होते हैं और उनके निमित्त भी शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं। निमित्त अपना प्रभाव दिखाता है जिससे मन के परिणाम उससे प्रभावित होते हैं। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। निमित्त को द्रव्यलेश्या और मन के परिणाम को भावलेश्या कहा है। जो पुद्गल निमित्त बनते हैं, उनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सभी होते हैं तथापि उनका नामकरण वर्ण के आधार पर किया गया है। सम्भव है गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा वर्ण मानव को अधिक प्रभावित करता हो। कृष्ण, नील और कपोत ये तीन रंग अशुभ हैं और इन रंगों से प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी अशुभ मानी गयी हैं और उन्हें अधर्म-लेश्याएँ कहा गया है।[1] तेजस्, पद्म और शुक्ल ये तीन वर्ण शुभ है और उनसे प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी शुभ हैं। इसलिए तीन लेश्याओं को धर्म-लेश्या कहा है।[2]

अशुद्धि और शुद्धि की दृष्टि से छः लेश्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया किया है—

(१) कृष्णलेश्या	अशुद्धतम	क्लिष्टतम
(२) नीललेश्या	अशुद्धतर	क्लिष्टतर
(३) कापोतलेश्या	अशुद्ध	क्लिष्ट
(४) तेजस्लेश्या	शुद्ध	अक्लिष्ट
(५) पद्मलेश्या	शुद्धतर	अक्लिष्टतर
(६) शुक्ललेश्या	शुद्धतम	अक्लिष्टतम

प्रस्तुत अशुद्धि और शुद्धि का आधार केवल निमित्त ही नहीं अपितु निमित्त और उपादान दोनों हैं। अशुद्धि का उपादान कषाय की तीव्रता है और उसके निमित्त कृष्ण, नील, कापोत रंगवाले पुद्गल हैं और शुद्धि का उपादान कषाय की मन्दता है और उसके निमित्त रक्त, पीत और श्वेत रंग वाले पुद्गल हैं। उत्तराध्ययन में लेश्या का नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु इन ग्यारह प्रकार से लेश्या पर चिन्तन किया है।[3]

आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक[4] में लेश्या पर (१) निर्देश, (२) वर्ण, (३) परिणाम, (४) संक्रम, (५) कर्म, (६) लक्षण, (७) गति, (८) स्वामित्व,

---

[1] उत्तराध्ययन, ३४।५६।

[2] उत्तराध्ययन ३४।५७।

[3] उत्तराध्ययन ३४।३।

[4] तत्त्वार्थराजवार्तिक १६, पृ० २३८।

भावलेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है, जो संक्लेश और योग के अनुगत है। संक्लेश के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट; तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम; मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि विविध भेद होने से भाव-लेश्या के अनेक प्रकार हैं, तथापि संक्षेप में उसे छः भागों में विभक्त किया है। अर्थात्, मन के परिणाम शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकार के होते हैं और उनके निमित्त भी शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं। निमित्त अपना प्रभाव दिखाता है जिससे मन के परिणाम उससे प्रभावित होते हैं। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। निमित्त को द्रव्यलेश्या और मन के परिणाम को भावलेश्या कहा है। जो पुद्गल निमित्त बनते हैं, उनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सभी होते हैं तथापि उनका नामकरण वर्ण के आधार पर किया गया है। सम्भव है गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा वर्ण मानव को अधिक प्रभावित करता हो। कृष्ण, नील और कपोत ये तीन रंग अशुभ हैं और इन रंगों से प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी अशुभ मानी गयी हैं और उन्हें अधर्म-लेश्याएँ कहा गया है।[1] तेजस्, पद्म और शुक्ल ये तीन वर्ण शुभ है और उनसे प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी शुभ हैं। इसलिए तीन लेश्याओं को धर्म-लेश्या कहा है।[2]

अशुद्धि और शुद्धि की दृष्टि से छः लेश्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया किया है—

(१) कृष्णलेश्या	अशुद्धतम	क्लिष्टतम
(२) नीललेश्या	अशुद्धतर	क्लिष्टतर
(३) कापोतलेश्या	अशुद्ध	क्लिष्ट
(४) तेजस्लेश्या	शुद्ध	अक्लिष्ट
(५) पद्मलेश्या	शुद्धतर	अक्लिष्टतर
(६) शुक्ललेश्या	शुद्धतम	अक्लिष्टतम

प्रस्तुत अशुद्धि और शुद्धि का आधार केवल निमित्त ही नहीं अपितु निमित्त और उपादान दोनों हैं। अशुद्धि का उपादान कषाय की तीव्रता है और उसके निमित्त कृष्ण, नील, कापोत रंगवाले पुद्गल हैं और शुद्धि का उपादान कषाय की मन्दता है और उसके निमित्त रक्त, पीत और श्वेत रंग वाले पुद्गल हैं। उत्तराध्ययन में लेश्या का नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु इन ग्यारह प्रकार से लेश्या पर चिन्तन किया है।[3]

आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक[4] में लेश्या पर (१) निर्देश, (२) वर्ण, (३) परिणाम, (४) संक्रम, (५) कर्म, (६) लक्षण, (७) गति, (८) स्वामित्व,

---

1 उत्तराध्ययन, ३४।५६।

2 उत्तराध्ययन ३४।५७।

3 उत्तराध्ययन ३४।३।

4 तत्त्वार्थराजवार्तिक १६, पृ० २३८।

(९) साधना, (१०) संख्या, (११) क्षेत्र, (१२) स्पर्शन, (१३) काल, (१४) अन्तर, (१५) भाव, (१६) अल्प-बहुत्व इन सोलह प्रकारों से चिन्तन किया है।

जितने भी स्थूल परमाणु स्कन्ध हैं वे सभी प्रकार के रंगों और उपरंगों वाले होते हैं। मानव का शरीर स्थूल स्कन्ध वाला है। अतः उसमें सभी रंग हैं। रंग होने से वह बाह्य रंगों से प्रभावित होता है और उसका प्रभाव मानव के मानस पर भी पड़ता है। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने सभी प्राणियों के प्रभाव व शक्ति की दृष्टि से शरीर और विचारों को छः भागों में विभक्त किया है और वही लेश्या है।

डॉ० हर्मन जेकोबी ने लिखा है—जैनों के लेश्याओं के सिद्धान्त में तथा गोशालक के मानवों को छः विभागों में विभक्त करने वाले सिद्धान्त में समानता है। इस बात को सर्वप्रथम प्रोफेसर ल्यूमेन ने पकड़ा पर इस सम्बन्ध में मेरा विश्वास है जैनों ने यह सिद्धान्त आजीविकों से लिया और उसे परिवर्तित कर अपने सिद्धान्तों के साथ समन्वित कर दिया।[1]

प्रो० ल्यूमेन तथा डॉ० हर्मन जेकोबी ने मानवों का छः प्रकार का विभाजन गोशालक द्वारा माना है, पर अंगुत्तरनिकाय से स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत विभाजन गोशालक द्वारा नहीं अपितु पूरणकश्यप के द्वारा किया गया था।[2] दीघनिकाय में छह तीर्थंकरों का उल्लेख है, उनमें पूरणकश्यप भी एक हैं[3] जिन्होंने रंगों के आधार पर छः अभिजातियाँ निश्चित की थीं। वे इस प्रकार हैं—

(१) कृष्णाभिजाति—क्रूर कर्म करने वाले सौकरिक, शाकुनिक प्रभृति जीवों का समूह।

(२) नीलाभिजाति—बौद्ध श्रमण और कुछ अन्य कर्मवादी, क्रियावादी भिक्षुओं का समूह।

(३) लोहिताभिजाति—एक शाटक निर्ग्रन्थों का समूह।

(४) हरिद्राभिजाति—श्वेत वस्त्रधारी या निर्वस्त्र।

(५) शुक्लाभिजाति—आजीवक श्रवण-श्रमणियों का समूह।

(६) परम शुक्लाभिजाति—आजीवक आचार्य, नन्द, वत्स, कृप, सांस्कृत्य, मस्करी गोशालक प्रभृति का समूह।[4]

आनन्द की जिज्ञासा पर तथागत बुद्ध ने कहा—ये छः अभिजातियाँ अव्यक्त व्यक्ति द्वारा किया हुआ प्रतिपादन है। प्रस्तुत वर्गीकरण का मूल आधार अचेलता

---

1 Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction, p. XXX.

2 अंगुत्तरनिकाय ६-६-३ भाग ३, पृ० ९३।

3 दीघनिकाय १।२, पृ० १९, २०।

4 अंगुत्तरनिकाय ६।६।३, भाग ३, पृ० ३५, ९३-९४।

है। वस्त्र कम करना और वस्त्रों का पूर्ण त्याग कर देना अभिजातियों की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का कारण है।

अपने प्रधान शिष्य आनन्द से तथागत बुद्ध ने कहा—मैं भी छः अभिजातियों का प्रतिपादन करता हूँ।

(१) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में पैदा हुआ) हो और कृष्ण धर्म (पापकृत्य) करता है।

(२) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और शुक्लधर्म करता है।

(३) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और अकृष्ण—अशुक्ल निर्वाण को समुत्पन्न करता है।

(४) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक (उच्च कुल में समुत्पन्न हुआ) हो तथा शुक्लधर्म (पुण्य) करता है।

(५) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और कृष्ण धर्म करता है।

(६) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और अशुक्ल—अकृष्ण निर्वाण को समुत्पन्न करता है।[1]

प्रस्तुत वर्गीकरण जन्म और कर्म के आधार पर किया गया है। इस वर्गीकरण में चाण्डाल, निषाद आदि जातियों को शुक्ल कहा है। कायिक, वाचिक और मानसिक जो दुश्चरण हैं वे कृष्णधर्म हैं और उनका जो श्रेष्ठ आचरण है वह शुक्लधर्म है। पर निर्वाण न कृष्ण है, न शुक्ल है। इस वर्गीकरण का उद्देश्य है नीच जाति में समुत्पन्न व्यक्ति भी शुक्लधर्म कर सकता है और उच्चकुल में उत्पन्न व्यक्ति भी कृष्णधर्म करता है। धर्म और निर्वाण का सम्बन्ध जाति से नहीं है।

प्रस्तुत विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि पूरणकश्यप और तथागत बुद्ध ने छः अभिजातियों का जो वर्गीकरण किया है उसका सम्बन्ध लेश्या के साथ नहीं है। लेश्याओं का जो सम्बन्ध है वह एक-एक व्यक्ति से है। विचारों को प्रभावित करने वाली लेश्याएँ एक व्यक्ति के जीवन में समय के अनुसार छः भी हो सकती है।

छः अभिजातियों की अपेक्षा लेश्या का जो वर्गीकरण है वह वर्गीकरण महाभारत से अधिक मिलता-जुलता है। एक बार सनत्कुमार ने दानवों के अधिपति वृत्रासुर से कहा—प्राणियों के छः प्रकार के वर्ण हैं—(१) कृष्ण, (२) धूम्र, (३) नील, (४) रक्त, (५) हारिद्र और (६) शुक्ल। कृष्ण, धूम्र और नील वर्ण का सुख

---

1 (क) अंगुत्तरनिकाय ६।६।३, भाग ३, पृ० ९३-९४।
(ख) दीघनिकाय, ३।१०, पृ० २२५।

मध्यम होता है। रक्त वर्ण अधिक सहन करने योग्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर होता है और शुक्ल वर्ण उससे भी अधिक सुखकर होता है।[1]

महाभारत में कहा है—कृष्ण वर्ण वाले की गति नीच होती है। जिन निकृष्ट कर्मों से जीव नरक में जाता है वह उन कर्मों में सतत आसक्त रहता है। जो जीव नरक से निकलते हैं उनका वर्ण धूम्र होता है जो रंग पशु-पक्षी जाति का है। मानव जाति का रंग नीला है। देवों का रंग रक्त है—वे दूसरों पर अनुग्रह करते हैं। जो विशिष्ट देव होते हैं उनका रंग हारिद्र है। जो महान साधक हैं उनका वर्ण शुक्ल है।[2] अन्यत्र महाभारत में यह भी लिखा है कि दुष्कर्म करने वाला मानव वर्ण से परिभ्रष्ट हो जाता है और पुण्य कर्म करने वाला मानव वर्ण के उत्कर्ष को प्राप्त करता है।[3]

तुलनात्मक दृष्टि से हम चिन्तन करें तो सहज ही परिज्ञात होता है कि जैन दृष्टि का लेश्या-निरूपण और महाभारत का वर्ण-विश्लेषण—ये दोनों बहुत कुछ समानता को लिये हुए हैं। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जैनदर्शन ने यह वर्णन महाभारत से लिया है। क्योंकि अन्य दर्शनों ने भी रंग के प्रभाव की चर्चा की की है। पर जैनाचार्यों ने इस सम्बन्ध में जितना गहरा चिन्तन किया है उतना अन्य दर्शनों ने नहीं किया। उन्होंने तो केवल इसका वर्णन प्रासंगिक रूप से ही किया है। अतः डॉ० हर्मन जेकोबी का यह मानना कि लेश्या का वर्णन जैनियों ने अन्य परम्पराओं से लिया है, तर्कसंगत नहीं है।

कुरुक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण ने गति के कृष्ण और शुक्ल ये दो विभाग किये। कृष्ण गति वाला पुनः-पुनः जन्म-मरण ग्रहण करता है, शुक्ल गतिवाला जन्म और मरण से मुक्त हो जाता है।[4]

धम्मपद[5] में धर्म के दो विभाग किये हैं—कृष्ण और शुक्ल। पण्डित मानव को कृष्णधर्म का परित्याग कर शुक्लधर्म का पालन करना चाहिए।

महर्षि पतंजलि ने कर्म की दृष्टि से चार जातियाँ प्रतिपादित की हैं—(१) कृष्ण (२) शुक्ल-कृष्ण (३) शुक्ल (४) अशुक्ल-अकृष्ण, जो क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध,

---

1 षड् जीववर्णा परमं प्रमाणं, कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु, हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम्॥
—महाभारत, शांतिपर्व, २८०।३३

2 महाभारत, शांतिपर्व, २८०।३४-४७।

3 महाभारत, शांतिपर्व २९१।४-५।

4 शुक्ल कृष्णे गती ह्येते, जगतः शाश्वतो मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्तते पुनः॥ —गीता ८।२६

5 धम्मपद, पंडितवग्ग, श्लोक १९।

शुद्ध और शुद्धतर हैं। तीन कर्मजातियाँ सभी जीवों में होती हैं, किन्तु चौथी अशुक्ल-अकृष्ण जाति योगी में होती है।[1] प्रस्तुत सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि उनका कर्म कृष्ण होता है जिनका चित्त दोष-कुलषित या क्रूर है। पीड़ा और अनुग्रह दोनों विधाओं से मिश्रित कर्म शुक्ल-कृष्ण कहलाता है। यह बाह्य साधनों से साध्य होते हैं। तप, स्वाध्याय और ध्यान में निरत व्यक्तियों के कर्म केवल मन के अधीन होते हैं उनमें बाह्य साधनों की किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं होती और न किसी को पीड़ा दी जाती है, एतदर्थ यह कर्म शुक्ल कहा जाता है। जो पुण्य के फल की भी आकांक्षा नहीं करते उन क्षीण-क्लेश चरमदेह योगियों के अशुक्ल-अकृष्ण कर्म होता है।

प्रकृति का विश्लेषण करते हुए उसे श्वेताश्वतर उपनिषद् में लोहित्, शुक्ल और कृष्ण रंग का बताया गया है।[2] सांख्य कौमुदी में कहा गया है जब रजोगुण के द्वारा मन मोह से रंग जाता है तब वह लोहित है, सत्त्वगुण से मन का मैल मिट जाता है, अतः वह शुक्ल है।[3] शिव स्वरोदय में लिखा है—विभिन्न प्रकार के तत्त्वों के विभिन्न वर्ण होते हैं जिन वर्णों से प्राणी प्रभावित होता है।[4] वे मानते हैं कि मूल में प्राणतत्त्व एक है। अणुओं की कमी-बेशी, कम्पन या वेग से उसके पाँच विभाग किये गये हैं जैसे देखिए—

नाम	वेग	रंग	आकार	रस या स्वाद
(१) पृथ्वी	अल्पतर	पीला	चतुष्कोण	मधुर
(२) जल	अल्प	सफेद या बैंगनी	अर्द्धचन्द्राकार	कसैला
(३) तेजस्	तीव्र	लाल	त्रिकोण	चरपरा
(४) वायु	तीव्रतर	नीला या आसमानी	गोल	खट्टा
(५) आकाश	तीव्रतम	काला या नीलाभ (सर्ववर्णक मिश्रित रंग)	अनेक बिन्दु गोल या आकारशून्य	कड़वा

जैनाचार्यों ने लेश्या पर गहरा चिन्तन किया है। उन्होंने वर्ण के साथ आत्मा के भावों का भी समन्वय किया है। द्रव्यलेश्या पौद्गलिक है। अतः आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी लेश्या पर चिन्तन किया जा सकता है।

---

1 पातञ्जल योगसूत्र ४।७।

2 अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः॥
—श्वेताश्वतर उपनिषद, ४।५

3 सांख्य कौमुदी, पृ० २००।

4 आपः श्वेता क्षितिः पीता, रक्तवर्णो हुताशनः।
मारुतो नीलजीमूतः, आकाशः सर्ववर्णकः॥
—शिवस्वरोदय, भाषा टीका, श्लो० १५६, पृ० ४२

लेश्या : मनोविज्ञान और पदार्थविज्ञान

मानव का शरीर, इन्द्रियाँ और मन ये सभी पुद्गल से निर्मित हैं। पुद्गल में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होने से वह रूपी है। जैन साहित्य में वर्ण के पाँच प्रकार बताये हैं—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से सफेद रंग मौलिक नहीं है। वह सात रंगों के मिलने पर बनता है। उन्होंने रंगों के सात प्रकार बताये हैं। यह सत्य है कि रंगों का प्राणी के जीवन के साथ बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। वैज्ञानिकों में भी परीक्षण कर यह सिद्ध किया है कि रंगों का प्रकृति पर, शरीर पर और मन पर प्रभाव पड़ता है। जैसे लाल, नारंगी, गुलाबी, बादामी रंगों से मानव की प्रकृति में ऊष्मा बढ़ती है। पीले रंग से भी ऊष्मा बढ़ती है, किन्तु पूर्वापेक्षया कम। नीले, आसमानी रंग से प्रकृति में शीतलता का संचार होता है। हरे रंग से न अधिक ऊष्मा बढ़ती है और न अधिक शीतलता का ही संचार होता है, अपितु शीतोष्ण सम रहता है। सफेद रंग से प्रकृति सदा सम रहती है।

रंगों का शरीर पर भी अद्भुत प्रभाव पड़ता है। लाल रंग से स्नायु मण्डल में स्फूर्ति का संचार होता है। नीले रंग से स्नायविक दुर्बलता नष्ट होती है, धातुक्षय सम्बन्धी रोग मिट जाते हैं तथा हृदय और मस्तिष्क में शक्ति की अभिवृद्धि होती है। पीले रंग से मस्तिष्क की दुर्बलता नष्ट होकर उसमें शक्ति-संचार होता है, कब्ज, यकृत, प्लीहा के रोग मिट जाते हैं। हरे रंग से ज्ञान-तन्तु व स्नायु मण्डल सुदृढ़ होते हैं तथा धातु क्षय सम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं। गहरे नीले रंग से आमाशय सम्बन्धी रोग मिटते हैं। सफेद रंग से नींद गहरी आती है। नारंगी रंग से वायु सम्बन्धी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं और दमा की व्याधि भी शान्ति हो जाती है। बैंगनी रंग से शरीर का तापमान कम हो जाता है।

प्रकृति और शरीर पर ही नहीं, किन्तु मन पर भी रंगों का प्रभाव पड़ता है। जैसे, काले रंग से मन में असंयम, हिंसा एवं क्रूरता के विचार लहराने लगेंगे। नीले रंग से मन में ईर्ष्या, असहिष्णुता, रस-लोलुपता एवं विषयों के प्रति आसक्ति व आकर्षण उत्पन्न होता है। कापोत रंग से मन में वक्रता, कुटिलता अंगडाइयाँ लेने लगती हैं। अरुण रंग से मन में ऋजुता, विनम्रता एवं धर्म-प्रेम की पवित्र भावनाएँ पैदा होती है। पीले रंग से मन में क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषाय नष्ट होते हैं और साधक के मन में इन्द्रिय विजय के भाव तरंगित होते हैं। सफेद रंग से मन में अपूर्व शान्ति तथा जितेन्द्रियता के निर्मल भावों का संचार होता है।

अन्य दृष्टि से भी रंगों का मानसिक विचारों पर जो प्रभाव होता है उसका वर्गीकरण चिन्तकों ने अन्य रूप से प्रस्तुत किया है, यद्यपि वह द्वितीय वर्गीकरण से कुछ पृथकता लिये हुए है। जैसे, आसमानी रंग से भक्ति सम्बन्धी भावनाएँ जाग्रत होती हैं। लाल रंग से काम वासनाएँ उद्‌बुद्ध होती हैं। पीले रंग से तार्किक शक्ति की

अभिवृद्धि होती हैं। गुलाबी रंग से प्रेम विषयक भावनाएँ जाग्रत होती हैं। हरे रंग से मन में स्वार्थ की भावनाएँ पनपती हैं। लाल व काले रंग का मिश्रण होने पर मन में क्रोध भड़कता है।

जब हम इन दोनों प्रकार के रंगों के वर्गीकरण पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक रंग प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार का है। कहीं पर लाल, पीले और सफेद रंग अच्छे विचारों को उत्पन्न नहीं करते इसलिए वे अप्रशस्त व अशुभ हैं और कहीं पर वे अच्छे विचारों को उत्पन्न करते हैं, अतः वे प्रशस्त व शुभ हैं। क्रोध से अग्नि तत्त्व प्रदीप्त हो जाता है, उसका वर्ण लाल माना गया है। मोह से जल-तत्त्व की अभिवृद्धि हो जाती है, उसका वर्ण सफेद या बैंगनी माना गया है। भय से पृथ्वी-तत्त्व प्रधान हो जाता है, इसका वर्ण पीला है। लेश्याओं के वर्णन में भी क्रोध, मोह, और भय आदि अन्तर् में रहे हुए हैं और उनका मानस पर असर होता है। कहीं पर श्याम रंग को भी प्रशस्त माना है, जैसे—नमस्कार महामन्त्र के पदों के साथ जो रंगों की कल्पना की गयी है उसमें 'नमो लोए सव्वसाहूणं' का वर्ण कृष्ण बताया है। साधु के साथ जो कृष्ण वर्ण की योजना की गयी है वह कृष्णलेश्या जो निकृष्टतम चित्तवृत्ति को समुत्पन्न करने का हेतु अप्रशस्त कृष्ण वर्ण है उससे पृथक है, कृष्णलेश्या का जो कृष्णवर्ण है उससे साधु का जो कृष्ण वर्ण है वह भिन्न है और प्रशस्त है।

पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक रंगों के सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन कर रहे हैं। कलर थिरेपी रंग के आधार पर समुत्पन्न हुई है। रंग से मानव के चित्त व शरीर की भी चिकित्सा प्रारम्भ हुई है जिसके परिणाम भी बहुत ही श्रेष्ठ आये हैं।[1]

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विद्युत चुम्बकीय तरंगें बहुत ही सूक्ष्म हैं। वे विराट विश्व में गति कर रही हैं। वैज्ञानिकों ने विद्युत चुम्बकीय स्पेक्ट्रम का सामान्य रूप से विभाजन इस प्रकार से किया है :

रेडियो तरंगें	सूक्ष्म तरंगें	अवरक्त	दृश्यमान	परा बैंगनी	एक्स-रे गामा किरणें

१०⁶ १०² १ १०⁻² १०⁻⁴ १०⁻⁶ १०⁻¹⁰

तरंग दैर्घ्य

प्रस्तुत चार्ट से यह स्पष्ट होता है कि विश्व में जितनी भी विकिरणें हैं उन विकिरणों की तुलना में जो दिखायी देती हैं उन विकिरणों का स्थान नहीं-जैसा है। पर उन विकिरणों का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जो विकिरणें दृष्टिगोचर होती हैं।

1 देखिए—'अणु और आभा' ले० प्रो० जे० सी० ट्रस्ट।

त्रिपार्श्व के माध्यम से उनके सात वर्ण देख सकते हैं। जैसे बैंगनी, नीला, आकाश-सदृश नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल। इन विकिरणों में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि क्रमशः इन रंगों में आवृत्ति (Frequency) कम होती है और तरंग-दैर्घ्य (wave-length) में अभिवृद्धि होती है। बैंगनी रंग के पीछे की विकिरणों को अपरा बैंगनी (ultra-violet) और लाल रंग के आगे की विकिरणें अवरक्त कही जाती हैं। प्रस्तुत वर्गीकरण में वर्ण की मुख्यता है। किन्तु जितनी विकिरणें हैं उनका लक्षण, आवृत्ति और तरंगदैर्घ्य है।

विज्ञान के आलोक में जब हम लेश्या पर चिन्तन करते हैं तो सूर्य के प्रकाश की भाँति यह स्पष्ट होता है कि छः लेश्याओं के वर्ण और दृष्टिगोचर होने वाले स्पेक्ट्रम (वर्ण-पट) के रंगों की तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

दिखायी दिया जाने वाला स्पेक्ट्रम	लेश्या
१. अपरा बैंगनी से बैंगनी तक	कृष्णलेश्या
२. नीला	नीललेश्या
३. आकाश सदृश नीला	कापोतलेश्या
४. पीला	तेजोलेश्या
५. लाल	पद्मलेश्या
६. अवरक्त तथा आगे की विकिरणें	शुक्ललेश्या

डॉ० महावीर राज गेलडा ने 'लेश्या : एक विवेचन' शीर्षक लेख[1] में जो चार्ट दिया है उसमें उन्होंने सप्त वर्ण के स्थान पर पाँच ही वर्ण लिये हैं हरा व नारंगी ये दो वर्ण छोड़ दिये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में तेजोलेश्या का रंग हिंगुल की तरह रक्त लिखा है और पद्म लेश्या का रंग हरिताल की तरह पीत लिखा है। किन्तु डॉ० गेलडा ने तेजोलेश्या को पीले वर्ण वाली और पद्म लेश्या को लाल वर्ण वाली माना है, वह आगम की दृष्टि से उचित नहीं है। लाल के बाद आगमकार ने पीत का उल्लेख क्यों किया है इस सम्बन्ध में हम आगे की पंक्तियों में विचार करेंगे।

तीन जो प्रारम्भिक विकिरणें हैं, वे लघुतरंग वाली और पुनः-पुनः आवृत्ति वाली होती हैं। इसी तरह कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ तीव्र कर्म बन्धन में सहयोगी व प्राणी को भौतिक पदार्थों में लिप्त रखती हैं। ये लेश्याएँ आत्मा के प्रतिकूल हैं, अतः इन्हें आगम साहित्य में अशुभ व अधर्म लेश्याएँ कहा गया है और इनसे तीव्र कर्म बन्धन होता है।

उसके पश्चात् की विकिरणों की तरंगें अधिक लम्बी होती हैं और उनमें आवृत्ति कम होती है। इसी तरह तेजो, पद्म व शुक्ल लेश्याएँ तीव्र कर्म बन्धन नहीं करतीं। इनमें विचार, शुभ और शुभतर होते चले जाते हैं। इन तीन लेश्या वाले

---

1 देखिए—पूज्य प्रवर्तक श्री अंबालाल जी म० अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २५२।

जीवों में क्रमशः अधिक निर्मलता आती है। इसलिए ये तीन लेश्याएँ शुभ हैं और इन्हें धर्म लेश्याएँ कहा है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने जो विकिरणों के साथ तुलना की है वह स्थूल रूप से है। तथापि इतना स्पष्ट है कि लेश्या के लक्षणों में वर्ण की प्रधानता है। विकिरणों में आवृत्ति और तरंग की लम्बाई होती है। विचारों में जितने अधिक संकल्प-विकल्प के द्वारा आवर्त होंगे वे उतने ही अधिक आत्मा के लिए अहितकर होंगे। एतदर्थ ध्यान और उपयोग व साधना के द्वारा विचारों को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है।

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि लेश्याओं का विभाजन रंग के आधार पर किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे के आसपास एक प्रभामण्डल विनिर्मित होता है जिसे 'ओरा' कहते हैं। वैज्ञानिकों ने इस प्रकार के कैमरे निर्माण किये हैं जिनमें प्रभामण्डल के चित्र भी लिये जा सकते हैं। प्रभामण्डल के चित्र से उस व्यक्ति के अन्तर्मानस में चल रहे विचारों का सहज पता लग सकता है। यदि किसी व्यक्ति के आस-पास कृष्ण आभा है फिर भले ही वह व्यक्ति लच्छेदार भाषा में धार्मिक दार्शनिक चर्चा करे तथापि काले रंग की वह प्रभा उसके चित्त की कालिमा की स्पष्ट सूचना देती है। भगवान महावीर, तथागत बुद्ध, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी श्रीकृष्ण, प्रेममूर्ति क्राइस्ट आदि विश्व के जितने भी विशिष्ट महापुरुष हैं उनके चेहरों के आस-पास चित्रों में प्रभामण्डल बनाये हुए दिखाई देते हैं जो उनकी शुभ्र आभा को प्रकट करते हैं। उनके हृदय की निर्मलता और अगाध स्नेह को प्रकट करते हैं। जिन व्यक्तियों के आस-पास काला प्रभामण्डल है उनके अन्तर्मानस में भयंकर दुर्गुणों का साम्राज्य होता है। क्रोध की आँधी से उनका मानस सदा विक्षुब्ध रहता है, मान के सर्प फूत्कारें मारते रहते हैं, माया और लोभ के बवण्डर उठते रहते हैं।[1] वह स्वयं कष्ट सहन करके भी दूसरे व्यक्तियों को दुःखी बनाना चाहता है। वैदिक साहित्य में मृत्यु के साक्षात् देवता यम का रंग काला है, क्योंकि यम सदा यही चिन्तन करता रहता है कब कोई मरे और मैं उसे ले आऊँ। कृष्ण वर्ण पर अन्य किसी भी रंग का प्रभाव नहीं होता। वैसे ही कृष्णलेश्या वाले जीवों पर भी किसी भी महापुरुष के वचनों का प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य की चमचमाती किरणें जब काले वस्त्र पर गिरती हैं तो कोई भी किरण पुनः नहीं लौटती। काले वस्त्र में सभी किरणें डूब जाती हैं। जो व्यक्ति जितना अधिक दुर्गुणों का भण्डार होगा उसका प्रभामण्डल उतना ही अधिक काला होगा। यह काला प्रभामण्डल कृष्णलेश्या का स्पष्ट प्रतीक है।

द्वितीय लेश्या का नाम नीललेश्या है। वह कृष्णलेश्या से श्रेष्ठ है। उसमें कालापन कुछ हलका हो जाता है। नीललेश्या वाला व्यक्ति स्वार्थी होता है। उसमें

---

1 उत्तराध्ययन ३४।२१-२२।

ईर्ष्या, कदाग्रह, अविद्या, निर्लज्जता, प्रद्वेष, प्रमाद, रसलोलुपता, प्रकृति की क्षुद्रता और विना विचारे कार्य करने की प्रवृत्ति होती है।[1] आधुनिक भाषा में हम उसे सेल्फिश कह सकते हैं। यदि उसे किसी कार्य में लाभ होता हो तो वह अन्य व्यक्ति को हानि पहुँचाने में संकोच नहीं करता। किन्तु कृष्ण-लेश्या की अपेक्षा उसके विचार कुछ प्रशस्त होते हैं।

तीसरी लेश्या का नाम कापोत है जो अलसी पुष्प की तरह मटमैला अथवा कबूतर के कण्ठ के रंगवाला होता है। कापोतलेश्या में नीला रंग फीका हो जाता है। कापोतलेश्या वाले व्यक्ति की वाणी व आचरण में वक्रता होती है। वह अपने दुर्गुणों को छिपाकर सद्गुणों को प्रकट करता है।[2] नीललेश्या से उसके भाव कुछ अधिक विशुद्ध होते हैं। एतदर्थ ही अधर्मलेश्या होने पर भी वह धर्मलेश्या के सन्निकट है।

चतुर्थ लेश्या का रंग शास्त्रकारों ने लाल प्रतिपादित किया है। लाल रंग साम्यवादियों की दृष्टि से क्रांति का प्रतीक है। तीन अधर्मलेश्याओं से निकलकर जब वह धर्मलेश्या में प्रविष्ट होता है तब यह एक प्रकार से क्रांति ही है अतः इसे धर्म-लेश्या में प्रथम स्थान दिया गया है।

वैदिक परम्परा में संन्यासियों को गैरिक अर्थात् लाल रंग के वस्त्र धारण करने का विधान है। हमारी दृष्टि से उन्होंने जो यह रंग चुना है वह जीवन में क्रांति करने की दृष्टि से ही चुना होगा। जब साधक के अन्तर्मानस में क्रांति की भावना उद्बुद्ध होती है तो उसके शरीर का प्रभामण्डल लाल होता है और वस्त्र भी लाल होने से वे आभामण्डल के साथ घुलमिल जाते हैं। जब जीवन में लाल रंग प्रकट होता है तब उसके स्वार्थ का रंग नष्ट हो जाता है। तेजोलेश्या वाले व्यक्ति का स्वभाव नम्र व अचपल होता है। वह जितेन्द्रिय, तपस्वी, पापभीरु और मुक्ति की अन्वेषणा करने वाला होता है।[3] संन्यासी का अर्थ भी यही है। उसमें महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। उसके जीवन का रंग उषाकाल के सूर्य की तरह होता है। उसके चहरे पर साधना की लाली और सूर्य के उदय की तरह उसमें ताजगी होती है।

पंचम लेश्या का नाम पद्म है। लाल के बाद पद्म अर्थात् पीले रंग का वर्णन है। प्रातःकाल का सूर्य ज्यों-ज्यों ऊपर उठता है उसमें लालिमा कम होती जाती है और सोने की तरह पीत रंग प्रस्फुटित होता है। लाल रंग में उत्तेजना हो सकती है पर पीले रंग में कोई उत्तेजना नहीं है। पद्मलेश्या वाले साधक के जीवन में क्रोध-मान-माया-मोह की अल्पता होती है। चित्त प्रशांत होता है। जितेन्द्रिय और अल्पभाषी

1 उत्तराध्ययन ३४।२२-२४।

2 वही ३४।२५-२६।

3 वही ३४।२७-२८।

होने से वह ध्यान-साधना सहज रूप से कर सकता है ।[1] पीत रंग ध्यान की अवस्था का प्रतीक है । एतदर्थ ही बौद्ध संन्यासियों के वस्त्र का रंग पीला है । वैदिक परम्पराओं के संन्यासियों के वस्त्र का रंग लाल है जो क्रांति का प्रतीक है और बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्र का रंग पीला है वह ध्यान का प्रतीक है ।

षष्ठम लेश्या का नाम शुक्ल है । शुभ्र या श्वेत रंग समाधि का रंग है । श्वेत रंग विचारों की पवित्रता का प्रतीक है । शुक्ललेश्या वाले व्यक्ति का चित्त प्रशान्त होता है । मन, वचन, काया पर वह पूर्ण नियन्त्रण करता है । वह जितेन्द्रिय है ।[2] एतदर्थ ही जैन श्रमणों ने श्वेत रंग को पसन्द किया है । वे श्वेत रंग के वस्त्र धारण करते हैं । उनका मंतव्य है कि वर्तमान में हम में पूर्ण विशुद्धि नहीं है, तथापि हमारा लक्ष्य है शुक्लध्यान के द्वारा पूर्ण विशुद्धि को प्राप्त करना । एतदर्थ उन्होंने श्वेत वर्ण के वस्त्रों को चुना है ।

लेश्याओं के स्वरूप को समझने के लिए जैन साहित्य में कई रूपक दिये हैं । उनमें से एक-दो रूपक हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं । छः व्यक्तियों की एक मित्र मंडली थी । एक दिन उनके मानस में ये विचार उद्‌बुद्ध हुए कि इस समय जंगल में जामुन खूब पके हुए हैं । हम जायें और उन जामुनों को भरपेट खायें । वे छहों मित्र जंगल में पहुँचे । फलों से लदे हुए जामुन के पेड़ को देखकर एक मित्र ने कहा यह कितना सुन्दर जामुन का वृक्ष है । यह फलों से लबालब भरा हुआ है । और फल भी इतने बढ़िया हैं कि देखते ही मुँह में पानी आ रहा है । इस वृक्ष पर चढ़ने की अपेक्षा यही श्रेयस्कर है कि कुल्हाड़ी से वृक्ष को जड़ से ही काट दिया जाय जिससे हम आनन्द से बैठकर खूब फल खा सकें ।

दूसरे मित्र ने प्रथम मित्र के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा संपूर्ण वृक्ष को काटने से क्या लाभ है ? केवल शाखाओं को काटना ही पर्याप्त है ।

तृतीय मित्र ने कहा—मित्र, तुम्हारा कहना भी उचित नहीं है । बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटने से भी कोई फायदा नहीं है । छोटी-छोटी शाखाओं को काट लेने से ही हमारा कार्य हो सकता है । फिर बड़ी शाखाओं को निरर्थक क्यों काटा जाय ?

चतुर्थ मित्र ने कहा—मित्र, तुम्हारा कथन भी मुझे युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । छोटी-छोटी शाखाओं को तोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है । केवल फलों के गुच्छों को ही तोड़ना पर्याप्त है ।

पाँचवें मित्र ने कहा—फलों के गुच्छों को तोड़ने से क्या लाभ है ? उस गुच्छे में तो कच्चे और पक्के दोनों ही प्रकार के फल होते हैं । हमें पके फल ही तोड़ना चाहिए । निरर्थक कच्चे फलों को क्यों तोड़ा जाय ?

---

1 उत्तराध्ययन ३४।२९-३० ।

2 वही ३४।३१-३२ ।

छठे मित्र ने कहा—मुझे तुम्हारी चर्चा ही निरर्थक प्रतीत हो रही है। इस वृक्ष के नीचे टूटे हुए हजारों फल पड़े हुए हैं। इन फलों को खाकर ही हम पूर्ण सन्तुष्ट हो सकते हैं। फिर वृक्ष, टहनियों और फलों को तोड़ने की आवश्यकता ही नहीं।

प्रस्तुत रूपक[1] के द्वारा आचार्य ने लेश्याओं के स्वरूप को प्रकट किया है। छह मित्रों में पूर्व-पूर्व मित्रों के परिणामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर मित्रों के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम हैं। क्रमशः उनके परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता है। इसलिए प्रथम मित्र के परिणाम कृष्णलेश्या वाले हैं, दूसरे के नीललेश्या वाले हैं, तीसरे की कापोतलेश्या, चतुर्थ मित्र की तेजोलेश्या, पाँचवें की पद्मलेश्या और छठे मित्र की शुक्ललेश्या है।

एक जंगल में डाकुओं का समूह रहता था। वे लूटकर अपना जीवनयापन करते थे। एक दिन छह डाकुओं ने सोचा कि किसी शहर में जाकर हम डाका डालें। वे छह डाकू अपने स्थान से प्रस्थित हुए। छह डाकुओं में से प्रथम डाकू ने एक गाँव के पास से गुजरते हुए कहा—रात्रि का सुहावना समय है। गाँव के सभी लोग सोए हैं। हम इस गाँव में आग लगा दें ताकि सोये हुए सभी व्यक्ति और पशु-पक्षी आग में झुलस कर खतम हो जायेंगे। उनके करुण-क्रन्दन को सुनकर बड़ा आनन्द आयगा।

दूसरे डाकू ने कहा—बिना मतलब के पशु-पक्षियों को क्यों मारा जाये? जो हमारा विरोध करते हैं उन मानवों को ही मारना चाहिए।

तीसरे डाकू ने कहा—मानवों में भी महिला वर्ग और बालक हमें कभी भी परेशान नहीं करते। इसलिए उन्हें मारने की आवश्यकता नहीं। अतः पुरुष वर्ग को ही मारना चाहिए।

चतुर्थ डाकू ने कहा—सभी पुरुषों को भी मारने की आवश्यकता नहीं है। जो पुरुष शस्त्रयुक्त हों केवल उन्हें मारना चाहिए।

पाँचवें डाकू ने कहा—जिन व्यक्तियों के पास शस्त्र हैं किन्तु वे हमारा किसी भी प्रकार का विरोध नहीं करते, उन व्यक्तियों को मारने से भी क्या लाभ?

छठे डाकू ने कहा—हमें अपने कार्य को करना है। पहले ही हम लोग दूसरों का धन चुराकर पाप कर रहे हैं, और फिर जिसका धन हम अपहरण करते हैं, उन धनिकों के प्राण को लूटना भी कहाँ की बुद्धिमानी है? एक पाप के साथ दूसरा पाप करना अनुचित ही नहीं बिलकुल अनुचित है।

इन छह डाकुओं के भी विचार क्रमशः एक-दूसरे से निर्मल होते हैं, जो उनकी निर्मल-भावना को व्यक्त करते हैं।[2]

1 आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, पृ०, २४५।
2 लोक प्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ३६३-३८०।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में[1] लेश्या शब्द पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा है कि लेश्या के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप होते हैं। नो-कर्मलेश्या और नो-अकर्मलेश्या ये दो निक्षेप और भी होते हैं। नो-कर्म लेश्या के जीव नो-कर्म और अजीव नो-कर्म ये दो प्रकार हैं। जीव नो-कर्म लेश्या भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक के भेद से वह भी दो प्रकार की है। इन दोनों के कृष्ण आदि सात-सात प्रकार हैं।

अजीव नो-कर्म द्रव्यलेश्या के चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारक, आभरण, छादन, आदर्श, मणि तथा कांकिनी ये दस भेद हैं और द्रव्य कर्म लेश्या के छह भेद हैं।

आचार्य जयसिंह ने संयोगज, नाम की सातवीं लेश्या भी मानी है जो शरीर की छाया रूप है। कितने ही आचार्यों का मन्तव्य है कि औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र, कार्मण काय का योग ये सात शरीर हैं तो उनकी छाया भी सप्तवर्णात्मिका होगी, अतः लेश्या के सात भेद मानने चाहिए।[2]

लेश्या के सम्बन्ध में एक गम्भीर प्रश्न है कि किस लेश्या को द्रव्य-लेश्या कहें और किसे भाव-लेश्या कहें? क्योंकि आगम साहित्य में कहीं-कहीं पर द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव परिणति बतायी गयी है, तो कहीं पर द्रव्यलेश्या के विपरीत भाव-परिणति बतायी गयी है। जन्म से मृत्यु तक एक ही रूप में जो हमारे साथ रहती है वह द्रव्यलेश्या है। नारकीय जीवों में तथा देवों में जो लेश्या का वर्णन किया गया है वह द्रव्यलेश्या की दृष्टि से किया गया है। यही कारण है कि तेरह सागरिया जो किल्विषिक देव हैं वे जहाँ एकान्त शुक्ललेश्यी हैं वहाँ वे एकान्त मिथ्यादृष्टि भी हैं। प्रज्ञापना में ताराओं का वर्णन करते हुए उन्हें पाँच वर्ण वाले और स्थित लेश्या वाले बताया है।[3] नारक

---

1 जाणग भवियसरीरा तव्वइरित्ता य सापुणो दुविहा।
कम्मा नो कम्मे या नो कम्मे हुन्ति दुविहा उ।। ३५।।
जीवाणमजीवाणय दुविहा जीवाण होइ नायव्वा।
भवमभवसिद्धियाणं दुविहाणवि होइ सत्तविहा।। ३६।।
अजीव कम्मनो दव्वलेसा सा दसविहा उ नायव्वा।
चंदाण य सूराण य गहगण णक्खत्ततारा णं।। ३७।।
आभरण छायणा दंशगाण मणि कांगिणी ण जा लेसा।
अजीव दव्वलेसा नायव्वा दसविहा एसा।। ३८।।
—उत्तराध्ययन ३४, पृ०, ६५०

2 जयसिंह सूरि – पद् सप्तमी संयोगजा इयं च शरीरच्छायात्मका परिगृह्यते अन्येत्वौदारिकौदारिकमिश्रमित्यादि भेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपां नोकर्माणि सप्तविधां जीव द्रव्य लेश्यां मन्यते तथा।
—उत्तरा० ३४, टीका० पृ०, ६५०

3 ताराओ पञ्च वण्णओ ठिपले साचारिणो। —प्रज्ञा० पद २

छठे मित्र ने कहा—मुझे तुम्हारी चर्चा ही निरर्थक प्रतीत हो रही है। इस वृक्ष के नीचे टूटे हुए हजारों फल पड़े हुए हैं। इन फलों को खाकर ही हम पूर्ण सन्तुष्ट हो सकते हैं। फिर वृक्ष, टहनियों और फलों को तोड़ने की आवश्यकता ही नहीं।

प्रस्तुत रूपक[1] के द्वारा आचार्य ने लेश्याओं के स्वरूप को प्रकट किया है। छह मित्रों में पूर्व-पूर्व मित्रों के परिणामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर मित्रों के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम हैं। क्रमशः उनके परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता है। इसलिए प्रथम मित्र के परिणाम कृष्णलेश्या वाले हैं, दूसरे के नीललेश्या वाले हैं, तीसरे की कापोतलेश्या, चतुर्थ मित्र की तेजोलेश्या, पाँचवें की पद्मलेश्या और छठे मित्र की शुक्ललेश्या है।

एक जंगल में डाकुओं का समूह रहता था। वे लूटकर अपना जीवनयापन करते थे। एक दिन छह डाकुओं ने सोचा कि किसी शहर में जाकर हम डाका डालें। वे छह डाकू अपने स्थान से प्रस्थित हुए। छह डाकुओं में से प्रथम डाकू ने एक गाँव के पास से गुजरते हुए कहा—रात्रि का सुहावना समय है। गाँव के सभी लोग सोए हैं। हम इस गाँव में आग लगा दें ताकि सोये हुए सभी व्यक्ति और पशु-पक्षी आग में झुलस कर खतम हो जायेंगे। उनके करुण-क्रन्दन को सुनकर बड़ा आनन्द आयगा।

दूसरे डाकू ने कहा—विना मतलब के पशु-पक्षियों को क्यों मारा जाये? जो हमारा विरोध करते हैं उन मानवों को ही मारना चाहिए।

तीसरे डाकू ने कहा—मानवों में भी महिला वर्ग और बालक हमें कभी भी परेशान नहीं करते। इसलिए उन्हें मारने की आवश्यकता नहीं। अतः पुरुष वर्ग को ही मारना चाहिए।

चतुर्थ डाकू ने कहा—सभी पुरुषों को भी मारने की आवश्यकता नहीं है। जो पुरुष शस्त्रयुक्त हों केवल उन्हें मारना चाहिए।

पाँचवें डाकू ने कहा—जिन व्यक्तियों के पास शस्त्र हैं किन्तु वे हमारा किसी भी प्रकार का विरोध नहीं करते, उन व्यक्तियों को मारने से भी क्या लाभ?

छठे डाकू ने कहा—हमें अपने कार्य को करना है। पहले ही हम लोग दूसरों का धन चुराकर पाप कर रहे हैं, और फिर जिसका धन हम अपहरण करते हैं, उन धनिकों के प्राण को लूटना भी कहाँ की बुद्धिमानी है? एक पाप के साथ दूसरा पाप करना अनुचित ही नहीं बिलकुल अनुचित है।

इन छह डाकुओं के भी विचार क्रमशः एक-दूसरे से निर्मल होते हैं, जो उनकी निर्मल-भावना को व्यक्त करते हैं।[2]

---

1 आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, पृ०, २४५।

2 लोक प्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ३६३-३८०।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में[1] लेश्या शब्द पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा है कि लेश्या के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप होते हैं। नो-कर्मलेश्या और नो-अकर्मलेश्या ये दो निक्षेप और भी होते हैं। नो-कर्म लेश्या के जीव नो-कर्म और अजीव नो-कर्म ये दो प्रकार हैं। जीव नो-कर्म लेश्या भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक के भेद से वह भी दो प्रकार की है। इन दोनों के कृष्ण आदि सात-सात प्रकार हैं।

अजीव नो-कर्म द्रव्यलेश्या के चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारक, आभरण, छादन, आदर्श, मणि तथा कांकिनी ये दस भेद हैं और द्रव्य कर्म लेश्या के छह भेद हैं।

आचार्य जयसिंह ने संयोगज, नाम की सातवीं लेश्या भी मानी है जो शरीर की छाया रूप है। कितने ही आचार्यों का मन्तव्य है कि औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र, कार्मण काय का योग ये सात शरीर हैं तो उनकी छाया भी सप्तवर्णात्मिका होगी, अतः लेश्या के सात भेद मानने चाहिए।[2]

लेश्या के सम्बन्ध में एक गम्भीर प्रश्न है कि किस लेश्या को द्रव्य-लेश्या कहें और किसे भाव-लेश्या कहें? क्योंकि आगम साहित्य में कहीं-कहीं पर द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव परिणति बतायी गयी है, तो कहीं पर द्रव्यलेश्या के विपरीत भाव-परिणति बतायी गयी है। जन्म से मृत्यु तक एक ही रूप में जो हमारे साथ रहती है वह द्रव्यलेश्या है। नारकीय जीवों में तथा देवों में जो लेश्या का वर्णन किया गया है वह द्रव्यलेश्या की दृष्टि से किया गया है। यही कारण है कि तेरह सागरिया जो किल्विषिक देव हैं वे जहाँ एकान्त शुक्ललेश्यी हैं वहाँ वे एकान्त मिथ्यादृष्टि भी हैं। प्रज्ञापना में ताराओं का वर्णन करते हुए उन्हें पाँच वर्ण वाले और स्थित लेश्या वाले बताया है।[3] नारक

---

1 जाणग भवियसरीरा तव्वइरित्ता य सापुणो दुविहा।
कम्मा नो कम्मे या नो कम्मे हुन्ति दुविहा उ॥ ३५॥
जीवाणमजीवाणय दुविहा जीवाण होइ नायव्वा।
भवमभवसिद्धियाणं दुविहाणवि होइ सत्तविहा॥ ३६॥
अजीव कम्मनो दव्वलेसा सा दसविहा उ नायव्वा।
चंदाण य सूराण य गहगण णक्खत्ततारा णं॥ ३७॥
आभरण छायणा दंशगाण मणि कांगिणी ण जा लेसा।
अजीव दव्वलेसा नायव्वा दसविहा एसा॥ ३८॥
—उत्तराध्ययन ३४, पृ०, ६५०

2 जयसिंह सूरि – पट् सप्तमी संयोगजा इयं च शरीरच्छायात्मका परिगृह्यते अन्येत्वौदारिकौदारिकमिश्रमित्यादि भेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपां नोकर्माणि सप्तविधां जीव द्रव्य लेश्यां मन्यते तथा।
—उत्तरा० ३४, टीका० पृ०, ३५०

3 ताराओ पञ्च वण्णओ ठिपले साचारिणो। —प्रज्ञा० पद २

और देवों को जो स्थित लेश्या कहा गया है, सम्भव है पाप और पुण्य की प्रकर्षता के कारण उनमें परिवर्तन नहीं होता हो। अथवा यह भी हो सकता है कि देवों में पर्यावरण की अनुकूलता के कारण शुभ द्रव्य प्राप्त होते हों और नारकीय जीवों में पर्यावरण की प्रतिकूलता के कारण अशुभ द्रव्य प्राप्त होते हों। वातावरण से वृत्तियाँ प्रभावित होती हैं। मनुष्य गति और तिर्यञ्च गति में अस्थित लेश्याएँ हैं। पृथ्वीकाय में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अप्रशस्त लेश्याएँ बतायी हैं। ये द्रव्यलेश्या हैं या भावलेश्या? क्योंकि स्फटिक मणि, हीरा, मोती, आदि रत्नों में धवल प्रभा होती है, इसलिए द्रव्य अप्रशस्त लेश्या कैसे सम्भव है? यदि भाव लेश्या को माना जाय तो भी प्रश्न है कि पृथ्वीकाय से निकलकर कितने ही जीव केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं तो पृथ्वीकाय के उस जीव ने अप्रशस्त भाव-लेश्या में केवली के आयुष्य का बन्धन कैसे किया? भवनपति और वाणव्यन्तर देवों में चार लेश्याएँ हैं—कृष्ण, नील, कापोत और तेजो। तो क्या कृष्णलेश्या में आयु पूर्ण करने वाला व्यक्ति असुरादि देव हो सकता है? यह प्रश्न आगममर्मज्ञों के लिए चिन्तनीय है। कहाँ पर द्रव्य लेश्या का उल्लेख है और कहाँ पर भावलेश्या का उल्लेख—इसकी स्पष्ट भेद-रेखा आगमों में नहीं की गयी है, जिससे विचारक असमंजस में पड़ जाता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में जैन दृष्टि से लेश्या का जो रूप रहा है उस पर और उसके साथ ही आजीवक मत में, बौद्ध मत में व वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में लेश्या से जो मिलता-जुलता वर्णन है उस पर हमने बहुत ही संक्षेप में चिन्तन किया है। उत्तरा-ध्ययन, भगवती, प्रज्ञापना और उत्तरवर्ती साहित्य में लेश्या पर विस्तार से विश्लेषण है, किन्तु विस्तार भय से हमने जान करके भी उन सभी बातों पर प्रकाश नहीं डाला है। यह सत्य है कि परिभाषाओं की विभिन्नता के कारण और परिस्थितियों को देखते हुए स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि अमुक स्थान पर अमुक लेश्या ही होती है। क्योंकि कहीं पर द्रव्यलेश्या की दृष्टि से चिन्तन है, तो कहीं पर भावलेश्या की दृष्टि से और कहीं पर द्रव्य और भाव दोनों का मिला हुआ वर्णन है। तथापि गहराई से अनुचिन्तन करने पर वह विषय पूर्णतया स्पष्ट हो सकता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी जो रंगों की कल्पना की गयी है उनके साथ भी लेश्या का किस प्रकार समन्वय हो सकता है इस पर भी हमने विचार किया है। आगम के मर्मज्ञ मनीषियों को चाहिए कि इस विषय पर शोधकार्य कर नये तथ्य प्रकाश में लाये जायँ।

५
व्यवहार सूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

भारतीय संस्कृति विश्व की महान् संस्कृति है। यह अतीतकाल से ही जन-जन के अन्तर्मानस में पवित्र प्रेरणा का स्रोत बहाती रही है। यह संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण इन दो धाराओं में विभक्त रही है। श्रमण और ब्राह्मण युग-युग से भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते रहे हैं। आत्मा, परमात्मा और विराट् विश्व के सम्बन्ध में वे गहराई से अनुशीलन-परिशीलन करते रहे हैं। भारतीय तत्त्वद्रष्टा ऋषि-महर्षि, श्रमण और मुनि तथा मूर्धन्य मनीषीगण ने अपने अनूठे तत्त्वज्ञान के द्वारा जो जन-जीवन को आध्यात्मिक, नैतिक व सांस्कृतिक आलोक प्रदान किया वह चिन्तन आज भी प्राचीन साहित्य के रूप में उपलब्ध है।

भारतीय चिन्तन को हम श्रुत और श्रुति के रूप जानते हैं। श्रुति वेदों की प्राचीन संज्ञा है, वह ब्राह्मण संस्कृति से सम्बन्धित मूल वैदिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है और वही बाद में शैव और वैष्णव प्रभृति धर्म परम्पराओं का मूलाधार बनी। श्रुत श्रमण-संस्कृति का मूल स्रोत है। यद्यपि श्रुति और श्रुत दोनों का ही सम्बन्ध श्रवण में है, जो सुनने में आता है वह श्रुत है[1] और वही भाववाचक मात्र श्रवण श्रुति है। पर यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सामान्य व्यक्तियों का कथन श्रुत और श्रुति नहीं है। पर जो विशिष्ट ज्ञाता आप्तपुरुष हैं, उन्हीं का कथन श्रुति और श्रुत के रूप में विश्रुत रहा है।

ब्राह्मण परम्परा का मूल वैचारिक स्रोत वेद है। वैदिक परम्परावादी विज्ञों का अभिमत है कि वेद ईश्वर की वाणी है। वेद किसी सामान्य व्यक्ति विशेष के द्वारा कहा हुआ नहीं, अपितु ईश्वर द्वारा उपदिष्ट विचारों का संकलन है। कितने ही विचारक यह भी मानते हैं कि वेद तत्त्वद्रष्टा ऋषियों की अनुभूत वाणी का संकलन व आकलन है। प्रारम्भ में वेद संख्या की दृष्टि से तीन थे। अतः वे वेदत्रयी के रूप में विश्रुत रहे। पश्चात् अथर्व को मिला देने से वेदों की संख्या चार हो गयी। भाषा की दृष्टि से यह साहित्य संस्कृत में है। वेदों की व्याख्या ब्राह्मण और आरण्यक

1 (क) तत्त्वार्थसूत्र-राजवार्तिक।
(ख) विशेषावश्यक भाष्य—मलधारीयावृत्ति।

ग्रन्थों में हुई जहाँ पर मुख्य रूप से कर्मकाण्ड का विश्लेषण है। उपनिषदों में ज्ञान-काण्ड की प्रधानता है। वेदों को प्रमाण मानकर स्मृति और सूत्र साहित्य का निर्माण हुआ है।

श्रमण-संस्कृति दो विभागों में विभक्त हुई— एक बौद्ध और दूसरी जैन। बौद्ध संस्कृति का प्रतिनिधित्व तथागत बुद्ध ने किया। बुद्ध ने अपने जिज्ञासुओं को जो उपदेश प्रदान किया वह त्रिपिटक साहित्य के रूप में उपलब्ध है। त्रिपिटक बुद्ध के उपदेशों का एक सुन्दर संकलन है—सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। सुत्तपिटक में सूत्र के रूप में बहुत ही संक्षेप में उपदेश दिया गया है। विनयपिटक में आचार-संहिता का विश्लेषण है और अभिधम्मपिटक में तत्त्वों का गहराई से विवेचन है। बौद्ध साहित्य बहुत ही विशाल है। तथापि यह कहा जा सकता है कि त्रिपिटक में बौद्ध विचारों का नवनीत है। त्रिपिटक साहित्य की भाषा पाली है जो उस युग की जन भाषा थी।

श्रमण संस्कृति का दूसरा रूप जैन संस्कृति है। जिन की वाणी व उपदेश में जिसे विश्वास है वह जैन है। यहाँ पर 'जिन' से तात्पर्य राग-द्वेष रूप आत्म-विकारों पर विजय करने वाले जिन याने तीर्थंकर हैं। तीर्थंकरों की पवित्र वाणी का संकलन आगम है। आगम आत्मिक ज्ञान-विज्ञान का अक्षयकोष है। उसमें साधक के अन्तर्मानस में उद्‌बुद्ध होने वाली जिज्ञासाओं का व्यापक समाधान है।

प्राचीन काल से जैन परम्परा का श्रुत साहित्य अंग-प्रविष्ट और अंगबाह्य इन दो रूपों में विभक्त है।[1] अंग-प्रविष्ट श्रुत वह है जो अर्थ रूप में महान् ऋषि तीर्थंकरों से द्वारा कहा गया है और उसके पश्चात् तीर्थंकर के प्रधान शिष्य श्रुत केवली गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में रचा गया है।[2]

अंगबाह्य श्रुत वह है जो गणधरों के पश्चात् विशुद्धागम विशिष्ट बुद्धिशक्ति-सम्पन्न आचार्यों के द्वारा काल एवं संहनन प्रभृति दोषों के कारण अल्पबुद्धि शिष्यों के अनुग्रह के लिए स्थविरों के द्वारा रचित है।[3] अंगप्रविष्ट-श्रुत गणनायक आचार्यों का सर्वस्व होने से उसे गणिपिटक कहा गया है।[4] वह संख्या की दृष्टि से बारह प्रकार का है[5] जैसे (१) **आयार** (आचार), (२) **सूयगड** (सूत्रकृत), (३) **ठाण** (स्थान), (४) **समवाय** (समवाय), (५) **विवाहपन्नत्ति** (व्याख्याप्रज्ञप्ति) या (भगवती), (६) **नाया-**

---

1 नन्दी सूत्र—श्रुतज्ञान प्रकरण।

2 तत्त्वार्थ० स्वोपज्ञभाष्य १-२०।

3 वही० १-२०।

4 (क) अनुयोग द्वार—प्रमाण प्रकरण।
(ख) समवायांग, समवाय १४८।

5 नन्दीसूत्र—श्रुत ज्ञान प्रकरण।

धम्मकहा (ज्ञाताधर्मकथा), (७) उवासगदसा (उपासकदशा), (८) अंतगडदसा (अन्तकृत्दशा), (९) अणुत्तरोववाईयदसा (अनुत्तरोपपातिकदशा), (१०) पण्हावागरणाइ (प्रश्नव्याकरणानि), (११) विवागसुय (विपाकसूत्र), (१२) दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद या दृष्टिपात)।

दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका[1] ये पाँच प्रकार थे। उसमें पूर्वगत में उत्पाद, अग्रायणीय आदि चौदह पूर्व थे। दृष्टिवाद अंग श्रमण भगवान महावीर-परिनिर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् विच्छिन्न हो गया।

अंगों की संख्या निर्धारित है, पर अंग-बाह्य आगमों की संख्या निर्धारित नहीं है। आचार्य उमास्वाति ने अंग-बाह्य आगमों की संख्या का उल्लेख करते हुए उसे अनेक कहा है।[2] अंग-बाह्य को आचार्य देववाचक ने आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त इन दो भागों में विभक्त किया है।[3] और साथ ही कालिक और उत्कालिक के रूप में भी।[4] आवश्यक के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छः प्रकार हैं और आवश्यक व्यतिरिक्त में औपपातिक, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, निशीथ, व्यवहार आदि अनेक आगम हैं। कालिक में उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार आदि अनेक आगम आते हैं और उत्कालिक में सूर्यप्रज्ञप्ति, पौरुषीमंडल आदि अनेक आगम हैं।

आचार्य आर्यरक्षित ने आगमों को अनुयोगों के आधार से चार भाग में विभक्त किया है[5]—

(१) **चरण-करणानुयोग**—कालिकश्रुत, महाकल्प, छेदश्रुत आदि।
(२) **धर्म-कथानुयोग**— ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि।
(३) **गणितानुयोग**—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।
(४) **द्रव्यानुयोग**—दृष्टिवाद आदि।

विषय सादृश्य की दृष्टि से प्रस्तुत वर्गीकरण है, पर व्याख्या क्रम की दृष्टि से आगमों के दो रूप प्राप्त होते हैं[6]—

(१) अपृथक्त्वानुयोग,
(२) पृथक्त्वानुयोग,

---

1 भगवती २०/८ (ख) तित्थोगाली ८०१।
2 तत्त्वार्थसूत्र १-२०।
3 नन्दीसूत्र सू. ८२ (पुण्यविजयजी)।
4 वही० सू. ८३-८४ (पुण्यविजयजी)।
5 (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३६३-३६७
(ख) विशेषावश्यक भाष्य २२८४-२२९५
(ग) दशवैकालिकनिर्युक्ति ३ टीका
6 सूत्रकृतांग चूर्णि पत्र-४।

जिनदासगणी महत्तर[1] ने लिखा है—अपृथक्त्वानुयोग के समय प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण, करण, धर्म, गणित और द्रव्य, अनुयोग एवं सप्तनय की दृष्टि से की जाती थी, पर पृथक्त्वानुयोग में चारों अनुयोगों की व्याख्याएँ पृथक्-पृथक् रूप में की जाने लगीं। अनुयोगों के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है, वह वर्गीकरण स्थूल दृष्टि से है। उदाहरणार्थ, उत्तराध्ययन को धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत लिया है, पर उसमें दार्शनिक तथ्य भी पर्याप्त मात्रा में रहे हुए हैं। इसी तरह, अन्य आगमों के सम्बन्ध में भी यह बात रही हुई है क्योंकि कुछ आगमों को छोड़कर शेष आगमों में चारों अनुयोगों का सम्मिश्रण है।

आगमों का सबसे अन्तिम वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल और छेद के रूप में प्राप्त होता है। नन्दी में जो आगमों का विभाग किया गया है, मूल, छेद और उपांग के रूप में नहीं हुआ है और न वहाँ ये शब्द ही हैं। उपांग के अर्थ में ही अंग-बाह्य शब्द आया है। उपांग का उल्लेख तत्त्वार्थभाष्य में मिलता है।[2] और उसके पश्चात् आचार्य श्रीचन्द के सुखबोधा समाचारी में[3], आचार्य जिनप्रभरचित विधिमार्गप्रपा में[4] तथा वायणाविहि[5] में उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है। पं० बेचरदासजी दोशी[6] का मानना है कि चूर्णी साहित्य में भी उपांग शब्द आया है।

मूल और छेद विभाग नन्दी आदि में नहीं मिलता। मूल और छेद का विभाग सर्वप्रथम प्रभावक चरित[7] में प्राप्त होता है और उसके पश्चात् उपाध्याय समय-सुन्दरगणी के समाचारी शतक[8] में उपलब्ध होता है। छेद सूत्र का नामोल्लेख आवश्यक निर्युक्ति[9] में सर्वप्रथम हुआ है। उसके बाद विशेषावश्यकभाष्य और[10] निशीथभाष्य में हुआ[11] है। यह स्पष्ट है कि मूल सूत्र से पहले छेद सूत्र का नामकरण हुआ।

छेद सूत्रों के नामकरण के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यह स्पष्ट है कि जिन आगमों को छेद-सूत्र के अन्तर्गत गिना है वे

---

1 सूत्रकृतांग चूर्णि पत्र-४।
2 तत्त्वार्थसूत्र तत्त्वार्थ भाष्य १-२०।
3 सुखबोधा समाचारी, पृष्ठ ३१-३४।
4 'इयाणि उवंगा'—विधिमार्गप्रपा।
5 वायणाविहि, पृ० ६४।
6 जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ३०।
7 प्रभावक चरित-२४१ द्वितीय आर्यरक्षित प्रबन्ध।
8 समाचारी शतक।
9 आवश्यकनिर्युक्ति ७७७।
10 विशेषावश्यकभाष्य २२९५।
11 निशीथभाष्य ५९४७

प्रायश्चित्त सूत्र है। पाँच चारित्रों में, द्वितीय चारित्र छेदोपस्थापनिक है।[1] प्रायश्चित्त का सम्बन्ध इसी चारित्र से है। अतः इनका नाम छेद सूत्र रखा गया हो। आवश्यक मलयगिरि वृत्ति में[2] छेद-सूत्रों के लिए पद-विभाग, समाचारी, शब्द व्यवहृत हुए हैं। पद-विभाग और छेद दोनों समानार्थ वाले हैं। इस दृष्टि से भी सम्भव है छेद-सूत्र यह नाम रखा गया हो। छेद सूत्र में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नहीं होता। उसमें प्रत्येक सूत्र स्वतन्त्र होता है। उनकी व्याख्या विभाग की दृष्टि से की जाती है।

निशीथ-भाष्य में[3] और चूर्णि में[4] छेद सूत्रों को उत्तम श्रुत कहा गया है। क्योंकि छेद सूत्र प्रायश्चित्त विधि का निरूपण करते हैं। उससे चारित्र की शुद्धि होती है। इसलिए वह उत्तम श्रुत है।

श्रमण-जीवन की साधना का सभी दृष्टियों से पूर्ण विवेचन छेद-सूत्रों में प्राप्त होता है। साधक की मर्यादा, उसका कर्तव्य आदि विविध दृष्टियों पर छेद-सूत्रों में विचार किया गया है। साधना करते कहीं स्खलना हो जाय, दोष-जन्य मलिनता आ जाय, भूलों से जीवन कलुषित हो जाय उसके परिष्कार हेतु प्रायश्चित्त का विधान है और यह सारा कार्य छेद-सूत्र का है।

छेद सूत्रों में जो आचार-संहिता है उसे हम उत्सर्ग, अपवाद, दोष, और प्रायश्चित्त इन चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।[5] उत्सर्ग से तात्पर्य है किसी विषय का सामान्य विधान। अपवाद का अर्थ है परिस्थिति विशेष की दृष्टि से विशेष विधान। दोष का अर्थ है उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का भंग करना और प्रायश्चित्त का अर्थ है व्रत भंग होने पर उचित दण्ड लेकर उस दोष का शुद्धीकरण करना। किसी भी विधान के लिए चार बातें आवश्यक हैं। सर्वप्रथम नियम बनते हैं। उसके बाद देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उसमें किंचित् छूट दी जाती है। यह परिस्थिति विशेष के लिए अपवाद की व्यवस्था की गयी है। जो दोष साधक को लग सकते हैं उन दोषों की एक लम्बी सूची छेद सूत्रों में प्राप्त होती है। इस सूची से तात्पर्य है उन दोषों से साधक बचने का प्रयास करे। यदि सावधानी रखने के बावजूद भी दोष लग जायँ तो प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त से पुराने दोषों की शुद्धि होती है और नवीन दोष न लगे इसके लिए साधक को सतत सावधान रखने के लिए प्रेरणा मिलती है।

---

1 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १२६०-१२७०।

2 आवश्यक मलयगिरि वृत्ति ६६५।

3 निशीथभाष्य ६१४८।

4 निशीथचूर्णि ६१८४।

5 'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' पृ० ३४७।

छेद-सूत्रों में आचार सम्बन्धी जिस प्रकार के नियम और उपनियमों का विवेचन संप्राप्त होता है उसी तरह का वर्णन बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त होता है। विनयपिटक[1] में भी प्रायश्चित्त का विधान है। जिसमें विविध प्रकार के दोषों का उल्लेख करते हुए उसकी शुद्धि का वर्णन है। विस्तार भय की दृष्टि से हम यहाँ पर उसकी छेद-सूत्रों के साथ तुलना नहीं कर रहे हैं। पर हम विज्ञों का ध्यान इस ओर केन्द्रित करते हैं कि यदि विस्तार के साथ तुलनात्मक व समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय तो बहुत कुछ नये तथ्य प्रकट होंगे और साथ ही यह परिज्ञान होगा कि श्रमण-संस्कृति की दोनों धाराओं में कितनी अधिक समानता है। साथ ही वैदिक परम्परा मान्य कल्प-सूत्र, श्रौत सूत्र और गृहसूत्र में वर्णित आचार-संहिता की तुलना छेद-सूत्रों के नियमोपनियमों के साथ सहज रूप से की जा सकती है।

यह बात स्पष्ट है कि छेद-सूत्रों का विषय अत्यन्त गहन है। मैं प्रबुद्ध पाठकों से विनम्र निवेदन करना चाहूँगा कि वे छेद-सूत्रों का अध्ययन करते समय पूर्वापर-प्रसंगों को गहराई से समझने का प्रयत्न करें। ऐतिहासिक दृष्टि से वे स्थितियों को समझने का ध्यान रखें। जब तक साधक श्रमण धर्म के, आचार धर्म के गहन रहस्य, सूक्ष्म क्रिया-कलाप, न समझेगा तब तक वह छेद सूत्रों के मर्म को नहीं समझ सकेगा। छेद सूत्र ऐसे प्रकाश स्तम्भ है जिसके निर्मल आलोक में साधक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर सही निर्णय ले सकता है। छेद-सूत्रों में जैन संस्कृति के गहन आचार और विचारों का जो विश्लेषण हुआ है, वह अद्वितीय है, अपूर्व है। उसमें संस्कृति की महान् गरिमा और महिमा रही है।

समाचारी शतक[2] में समयसुन्दरगणी ने छेद-सूत्रों की संख्या छः बतलायी है—

(१) दशाश्रुतस्कंध (२) व्यवहार (३) बृहत्कल्प (४) निशीथ (५) महानिशीथ और (६) जीतकल्प।

नन्दी सूत्र[3] में जीतकल्प के अतिरिक्त पाँच नाम उपलब्ध होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, और व्यवहार ये तीनों आगम चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु स्वामी ने प्रत्याख्यानपूर्व से निर्यूढ़ किये हैं।[4] निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से किया गया है।[5] पंचकल्प चूर्णि[6] के अनुसार निशीथ के

---

1 विनय पिटक—पाराजित पाली, भिक्खु पातिमोक्ख भिक्खुणी पातिमोक्ख।

2 समाचारी शतक—आगमस्थापनाधिकार।

3 नन्दीसूत्र ७७।

4 (क) दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, गाथा १, पत्र १।
(ख) पंचकल्पभाष्य, गाथा ११।

5 निशीथभाष्य ६५००।

6 पंचकल्पचूर्णि पत्र १, लिखित।

निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं। आगमप्रभावक मुनि पुण्यविजयजी[1] का भी यही अभिमत है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चारों छेद-सूत्रों के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं।[2] किन्तु 'जीतकल्प' भद्रबाहु स्वामी की कृति नहीं है। उसके रचयिता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं।[3] और महानिशीथ जो वर्तमान में उपलब्ध है वह आचार्य हरिभद्र के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है।[4] महानिशीथ के सम्बन्ध में मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' में विस्तार से उसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में चिन्तन किया है।[5] मैं पाठकों को उसे पढ़ने का सूचन करता हूँ। यह सत्य है कि महानिशीथ का मूल संस्करण दीमकों के द्वारा नष्ट हो जाने के पश्चात् वर्तमान में जो महानिशीथ उपलब्ध है वह महानिशीथ का नवीन संस्करण है। इस तरह चार मौलिक छेद-सूत्र हैं, दशाश्रुतस्कंध, व्यवहार, बृहत्कल्प और निशीथ।

निर्यूहण कृतियों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं और सूत्ररूप के रचयिता गणधर है और जिन आगमों पर जिनके नाम उट्टंकित हैं वे उसके सूत्र रचयिता हैं, जैसे दशवैकालिक के शय्यंभव और छेदसूत्रों के रचयिता भद्रबाहु स्वामी हैं। पर अर्थ के प्ररूपक तो तीर्थंकर ही हैं।

व्यवहार सूत्र और उसके व्याख्या साहित्य का परिचय

छेद-सूत्रों में व्यवहार का विशिष्ट स्थान है, अन्य छेद-सूत्रों की भाँति प्रस्तुत आगम में भी श्रमणों की आचार-संहिता पर चिन्तन किया गया है। बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। व्यवहार में दस उद्देशक हैं, ३७३ अनुष्टुप् श्लोक प्रमाण मूल-पाठ उपलब्ध होता है। २६७ सूत्र संख्या है। व्यवहार सूत्र पर उसकी व्याख्या करने हेतु भद्रबाहु रचित निर्युक्ति प्राप्त होती है और साथ ही व्यवहार पर भाष्य भी प्राप्त होता है। उस भाष्य के रचयिता कौन हैं— इस सम्बन्ध में इतिहास तत्त्वविद् मनीषी निर्णय नहीं कर सके हैं। व्यवहार पर एक चूर्णि भी उपलब्ध होती है और साथ ही संस्कृत भाषा में व्यवहार पर एक वृत्ति भी मिलती है। इन सभी का संक्षेप में परिचय हम प्रस्तुत करेंगे, जिससे ज्ञात हो सकेगा कि व्यवहार सूत्र का कितना गहरा महत्व रहा है। जिस पर सभी व्याख्याकारों ने अपनी कलम चलाई है।

अन्तर् दर्शन

व्यवहार सूत्र के दस उद्देशक हैं, उसमें प्रथम उद्देशक में भिक्षु और भिक्षुणी के लिए त्यागने योग्य मूलगुण या उत्तरगुण के दोष का सेवन किया हो, जिसका

---

1 बृहत्कल्प सूत्र, भाग ६, प्रस्तावना पृ० २।
2 दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, गाथा १।
3 जीतकल्पचूर्णि, गाथा ५-१०।
4 जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग २, पृ० २९२।
5 जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ० ४०७ से ४१०।

छेद-सूत्रों में आचार सम्बन्धी जिस प्रकार के नियम और उपनियमों का विवेचन संप्राप्त होता है उसी तरह का वर्णन बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त होता है। विनयपिटक[1] में भी प्रायश्चित्त का विधान है। जिसमें विविध प्रकार के दोषों का उल्लेख करते हुए उसकी शुद्धि का वर्णन है। विस्तार भय की दृष्टि से हम यहाँ पर उसकी छेद-सूत्रों के साथ तुलना नहीं कर रहे हैं। पर हम विज्ञों का ध्यान इस ओर केन्द्रित करते हैं कि यदि विस्तार के साथ तुलनात्मक व समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय तो बहुत कुछ नये तथ्य प्रकट होंगे और साथ ही यह परिज्ञान होगा कि श्रमण-संस्कृति की दोनों धाराओं में कितनी अधिक समानता है। साथ ही वैदिक परम्परा मान्य कल्प-सूत्र, श्रौत सूत्र और गृहसूत्र में वर्णित आचार-संहिता की तुलना छेद-सूत्रों के नियमोपनियमों के साथ सहज रूप से की जा सकती है।

यह बात स्पष्ट है कि छेद-सूत्रों का विषय अत्यन्त गहन है। मैं प्रबुद्ध पाठकों से विनम्र निवेदन करना चाहूँगा कि वे छेद-सूत्रों का अध्ययन करते समय पूर्वापर-प्रसंगों को गहराई से समझने का प्रयत्न करें। ऐतिहासिक दृष्टि से वे स्थितियों को समझने का ध्यान रखें। जब तक साधक श्रमण धर्म के, आचार धर्म के गहन रहस्य, सूक्ष्म क्रिया-कलाप, न समझेगा तब तक वह छेद सूत्रों के मर्म को नहीं समझ सकेगा। छेद सूत्र ऐसे प्रकाश स्तम्भ है जिसके निर्मल आलोक में साधक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर सही निर्णय ले सकता है। छेद-सूत्रों में जैन संस्कृति के गहन आचार और विचारों का जो विश्लेषण हुआ है, वह अद्वितीय है, अपूर्व है। उसमें संस्कृति की महान् गरिमा और महिमा रही है।

समाचारी शतक[2] में समयसुन्दरगणी ने छेद-सूत्रों की संख्या छः बतलायी है—

(१) दशाश्रुतस्कंध (२) व्यवहार (३) बृहत्कल्प (४) निशीथ (५) महानिशीथ और (६) जीतकल्प।

नन्दी सूत्र[3] में जीतकल्प के अतिरिक्त पाँच नाम उपलब्ध होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, और व्यवहार ये तीनों आगम चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु स्वामी ने प्रत्याख्यानपूर्व से निर्यूढ़ किये हैं।[4] निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से किया गया है।[5] पंचकल्प चूर्णि[6] के अनुसार निशीथ के

---

1 विनय पिटक—पाराजित पाली, भिक्खु पातिमोक्ख भिक्खुणी पातिमोक्ख।

2 समाचारी शतक—आगमस्थापनाधिकार।

3 नन्दीसूत्र ७७।

4 (क) दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, गाथा १, पत्र १।
(ख) पंचकल्पभाष्य, गाथा ११।

5 निशीथभाष्य ६५००।

6 पंचकल्पचूर्णि पत्र १, लिखित।

निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं। आगमप्रभावक मुनि पुण्यविजयजी[1] का भी यही अभिमत है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चारों छेद-सूत्रों के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं।[2] किन्तु 'जीतकल्प' भद्रबाहु स्वामी की कृति नहीं है। उसके रचयिता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं।[3] और महानिशीथ जो वर्तमान में उपलब्ध है वह आचार्य हरिभद्र के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है।[4] महानिशीथ के सम्बन्ध में मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' में विस्तार से उसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में चिन्तन किया है।[5] मैं पाठकों को उसे पढ़ने का सूचन करता हूँ। यह सत्य है कि महानिशीथ का मूल संस्करण दीमकों के द्वारा नष्ट हो जाने के पश्चात् वर्तमान में जो महानिशीथ उपलब्ध है वह महानिशीथ का नवीन संस्करण है। इस तरह चार मौलिक छेद-सूत्र हैं, दशाश्रुतस्कंध, व्यवहार, बृहत्कल्प और निशीथ।

निर्यूहण कृतियों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं और सूत्ररूप के रचयिता गणधर है और जिन आगमों पर जिनके नाम उट्टंकित हैं वे उसके सूत्र रचयिता हैं, जैसे दशवैकालिक के शय्यंभव और छेदसूत्रों के रचयिता भद्रबाहु स्वामी हैं। पर अर्थ के प्ररूपक तो तीर्थंकर ही हैं।

व्यवहार सूत्र और उसके व्याख्या साहित्य का परिचय

छेद-सूत्रों में व्यवहार का विशिष्ट स्थान है, अन्य छेद-सूत्रों की भाँति प्रस्तुत आगम में भी श्रमणों की आचार-संहिता पर चिन्तन किया गया है। बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। व्यवहार में दस उद्देशक हैं, ३७३ अनुष्टुप् श्लोक प्रमाण मूल-पाठ उपलब्ध होता है। २६७ सूत्र संख्या है। व्यवहार सूत्र पर उसकी व्याख्या करने हेतु भद्रबाहु रचित निर्युक्ति प्राप्त होती है और साथ ही व्यवहार पर भाष्य भी प्राप्त होता है। उस भाष्य के रचयिता कौन हैं— इस सम्बन्ध में इतिहास तत्त्वविद् मनीषी निर्णय नहीं कर सके हैं। व्यवहार पर एक चूर्णि भी उपलब्ध होती है और साथ ही संस्कृत भाषा में व्यवहार पर एक वृत्ति भी मिलती है। इन सभी का संक्षेप में परिचय हम प्रस्तुत करेंगे, जिससे ज्ञात हो सकेगा कि व्यवहार सूत्र का कितना गहरा महत्व रहा है। जिस पर सभी व्याख्याकारों ने अपनी कलम चलाई है।

अन्तर् दर्शन

व्यवहार सूत्र के दस उद्देशक हैं, उसमें प्रथम उद्देशक में भिक्षु और भिक्षुणी के लिए त्यागने योग्य मूलगुण या उत्तरगुण के दोष का सेवन किया हो, जिसका

---

1 बृहत्कल्प सूत्र, भाग ६, प्रस्तावना पृ० २।
2 दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, गाथा १।
3 जीतकल्पचूर्णि, गाथा ५-१०।
4 जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ० २६२।
5 जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ० ४०७ से ४१०।

प्रायश्चित्त एक मास की संज्ञा से अभिहित है। दोष लगने वाले श्रमण और श्रमणी को आचार्य आदि के समक्ष कपट रहित आलोचना करनी चाहिए। उसे एक मासिक प्रायश्चित्त आता है; जबकि कपट सहित आलोचना करने पर उसी दोष का द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है। जिसकी कपट रहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है किन्तु उसी दोष की आलोचना कपट सहित करने से त्रिमासिक प्रायश्चित्त आता है। इस तरह अधिक से अधिक छः मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिस साधक ने अनेक दोषों का सेवन किया हो उस साधक को क्रमशः दोषों की आलोचना करनी चाहिए और प्रायश्चित्त लेकर उसका शुद्धीकरण करना चाहिए। प्रायश्चित्त ग्रहण करते समय यदि पुनः दोष लग जाय तो उन दोषों को न छिपाये, किन्तु दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्धीकरण करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का सेवन करने वाले श्रमण को गुरुजनों की आज्ञा प्राप्त कर ही अन्य श्रमणों के साथ उठना बैठना चाहिए। यदि वह गुरुजनों की आज्ञा की अवहेलना करता है तो उसे छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है। परिहारकल्प में अवस्थित श्रमण आचार्य आदि की अनुमति से परिहारकल्प को छोड़कर स्थविर आदि की सेवा के लिए दूसरे स्थान पर जा सकता है।

यदि कोई श्रमण विशिष्ट साधना के लिए गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है, पर वह अपने को शुद्ध आचार पालन करने में असमर्थ अनुभव करता हो तो उसे आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

आलोचना आचार्य उपाध्याय के समक्ष करके उस दोष का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण करना चाहिए। उनकी अनुपस्थिति में अपने संभोगी साधर्मिक बहुश्रुत आदि के सामने आलोचना करनी चाहिए। यदि वे न हों तो अन्य समुदाय के संभोगी बहुश्रुत श्रमण के सामने आलोचना करनी चाहिए। यदि वह भी न हों तो सदोषी बहुश्रुत श्रमण हो तो वहाँ जाकर, उसके अभाव में बहुश्रुत श्रमणोपासक या सम्यक्-दृष्टि श्रावक या उसके भी अभाव में ग्राम या नगर के बाहर पूर्व या उत्तर दिशा के सम्मुख खड़ा होकर अपने अपराध की आलोचना करे। जीवन विशुद्धि के लिए आलोचना अत्यधिक आवश्यक है।

द्वितीय उद्देशक में बताया है, जिसने दोष का सेवन किया हो उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। अनेक श्रमणों में से एक ने भी अपराध किया है तो उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि सभी ने अपराध किया है तो एक के अतिरिक्त सभी प्रायश्चित्त लेकर पहले शुद्धीकरण करे और उन सभी का प्रायश्चित्त काल पूर्ण होने पर उसे भी प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करे।

परिहारकल्प स्थित श्रमण यदि व्याधि-ग्रस्त हो तो उसे गच्छ से बाहर निकालना सर्वथा अनुचित है। स्वस्थ होने पर उसे गणावच्छेदक से प्रायश्चित्त लेकर

शुद्धीकरण करना चाहिए। इसी प्रकार अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी रुग्णावस्था में गच्छ से बाहर नहीं करना चाहिए। विक्षिप्त-चित्त और दीप्तचित्त की सेवा करनी चाहिए और स्वस्थ होने पर प्रायश्चित्त देकर उसका शुद्धीकरण करना चाहिए। अनवस्थाप्य और पारांचिक के सम्बन्ध में भी चर्चा की गयी है। पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमणों की मर्यादा निश्चित की गयी है।

तृतीय उद्देशक में श्रमण स्वतन्त्र और गच्छ का अधिपति बनकर विचरण करना चाहे तो उसे आचारांग आदि का परिज्ञाता होना आवश्यक है और साथ ही स्थविर की अनुमति भी। उपाध्याय वही बन सकता है जो कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला हो, आगम का मर्मज्ञ हो, प्रायश्चित्त शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो, चारित्रवान् और बहुश्रुत हो। आचार्य वही बन सकता है जो कम से कम पाँच वर्ष का दीक्षित हो, क्षमण की आचार-संहिता में कुशल हो, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, बृहत्कल्प, व्यवहार आदि का ज्ञाता हो। अपवाद के रूप में एक दिन की दीक्षा पर्याय-वाला भी आचार्य और उपाध्याय बन सकता है, पर उसके लिए प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी, प्रमोदकारी, अनुमत, बहुमत तथा गुणसम्पन्न होना अनिवार्य है।

चतुर्थ उद्देशक में आचार्य और उपाध्याय के साथ कम से कम एक और वर्षावास में दो साधु का होना आवश्यक है। आचार्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उनके अभाव में कैसे रहना चाहिए और किस तरह आचार्य आदि पद पर प्रति-ष्ठित करना चाहिए, इस पर चिन्तन किया है।

[illegible] उद्देशक में प्रवर्तिनी के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए वैय्यावृत्य पर विचार किया है।

छठे उद्देशक में अपने परिजनों के वहाँ पर जाने के लिए स्थविरों की अनुमति आवश्यक है। श्रमण और श्रमणी बहुश्रुत श्रमण-श्रमणी के साथ जाय, पर एकाकी नहीं। आचार्य, उपाध्याय उपाश्रय में आवें तो उनके पाँव पोंछकर साफ करना चाहिए, उनकी वैय्यावृत्य करनी चाहिए और उनके बाहर जाने पर उनके साथ जाना चाहिए आदि पर विस्तार से चर्चा है।

सातवें उद्देशक में श्रमण महिला को और श्रमणी पुरुष को दीक्षा न दें। यदि किसी को उत्कृष्ट वैराग्य भावना हो गयी हो तो इस शर्त पर कि दीक्षा देकर श्रमणी को श्रमणी-समुदाय की सेवा में पहुँचा दिया जाय और श्रमण को श्रमण-समुदाय की सेवा में। जहाँ पर दुष्ट व्यक्तियों की प्रधानता हो वहाँ श्रमणियों को विचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्रतभंग आदि का भय रहता है। पर श्रमणों के लिए वह मर्यादा नहीं; आदि अनेक बातें हैं।

आठवें उद्देशक में श्रमणों के उपकरणों पर चिन्तन है। यदि किसी स्थान पर कोई श्रमण उपकरण भूल गया हो और अन्य श्रमण, जहाँ पर उपकरण भूला है,

प्रायश्चित्त एक मास की संज्ञा से अभिहित है। दोष लगने वाले श्रमण और श्रमणी को आचार्य आदि के समक्ष कपट रहित आलोचना करनी चाहिए। उसे एक मासिक प्रायश्चित्त आता है; जबकि कपट सहित आलोचना करने पर उसी दोष का द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है। जिसकी कपट रहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है किन्तु उसी दोष की आलोचना कपट सहित करने से त्रिमासिक प्रायश्चित्त आता है। इस तरह अधिक से अधिक छ: मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिस साधक ने अनेक दोषों का सेवन किया हो उस साधक को क्रमश: दोषों की आलोचना करनी चाहिए और प्रायश्चित्त लेकर उसका शुद्धीकरण करना चाहिए। प्रायश्चित्त ग्रहण करते समय यदि पुन: दोष लग जाय तो उन दोषों को न छिपाये, किन्तु दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्धीकरण करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का सेवन करने वाले श्रमण को गुरुजनों की आज्ञा प्राप्त कर ही अन्य श्रमणों के साथ उठना बैठना चाहिए। यदि वह गुरुजनों की आज्ञा की अवहेलना करता है तो उसे छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है। परिहारकल्प में अवस्थित श्रमण आचार्य आदि की अनुमति से परिहारकल्प को छोड़कर स्थविर आदि की सेवा के लिए दूसरे स्थान पर जा सकता है।

यदि कोई श्रमण विशिष्ट साधना के लिए गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है, पर वह अपने को शुद्ध आचार पालन करने में असमर्थ अनुभव करता हो तो उसे आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

आलोचना आचार्य उपाध्याय के समक्ष करके उस दोष का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण करना चाहिए। उनकी अनुपस्थिति में अपने संभोगी साधर्मिक बहुश्रुत आदि के सामने आलोचना करनी चाहिए। यदि वे न हों तो अन्य समुदाय के संभोगी बहुश्रुत श्रमण के सामने आलोचना करनी चाहिए। यदि वह भी न हों तो सदोषी बहुश्रुत श्रमण हो तो वहाँ जाकर, उसके अभाव में बहुश्रुत श्रमणोपासक या सम्यक्दृष्टि श्रावक या उसके भी अभाव में ग्राम या नगर के बाहर पूर्व या उत्तर दिशा के सम्मुख खड़ा होकर अपने अपराध की आलोचना करे। जीवन विशुद्धि के लिए आलोचना अत्यधिक आवश्यक है।

द्वितीय उद्देशक में बताया है, जिसने दोष का सेवन किया हो उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। अनेक श्रमणों में से एक ने भी अपराध किया है तो उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि सभी ने अपराध किया है तो एक के अतिरिक्त सभी प्रायश्चित्त लेकर पहले शुद्धीकरण करे और उन सभी का प्रायश्चित्त काल पूर्ण होने पर उसे भी प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करे।

परिहारकल्प स्थित श्रमण यदि व्याधि-ग्रस्त हो तो उसे गच्छ से बाहर निकालना सर्वथा अनुचित है। स्वस्थ होने पर उसे गणाव

शुद्धीकरण करना चाहिए। इसी प्रकार अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी रुग्णावस्था में गच्छ से बाहर नहीं करना चाहिए। विक्षिप्त-चित्त और दीप्तचित्त की सेवा करनी चाहिए और स्वस्थ होने पर प्रायश्चित्त देकर उसका शुद्धीकरण करना चाहिए। अनवस्थाप्य और पारांचिक के सम्बन्ध में भी चर्चा की गयी है। पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमणों की मर्यादा निश्चित की गयी है।

तृतीय उद्देशक में श्रमण स्वतन्त्र और गच्छ का अधिपति बनकर विचरण करना चाहे तो उसे आचारांग आदि का परिज्ञाता होना आवश्यक है और साथ ही स्थविर की अनुमति भी। उपाध्याय वही बन सकता है जो कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला हो, आगम का मर्मज्ञ हो, प्रायश्चित्त शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो, चारित्रवान् और बहुश्रुत हो। आचार्य वही बन सकता है जो कम से कम पाँच वर्ष का दीक्षित हो, श्रमण की आचार-संहिता में कुशल हो, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, बृहत्कल्प, व्यवहार आदि का ज्ञाता हो। अपवाद के रूप में एक दिन की दीक्षा पर्याय-वाला भी आचार्य और उपाध्याय बन सकता है, पर उसके लिए प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी, प्रमोदकारी, अनुमत, बहुमत तथा गुणसम्पन्न होना अनिवार्य है।

चतुर्थ उद्देशक में आचार्य और उपाध्याय के साथ कम से कम एक और वर्षावास में दो साधु का होना आवश्यक है। आचार्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उनके अभाव में कैसे रहना चाहिए और किस तरह आचार्य आदि पद पर प्रति-ष्ठित करना चाहिए, इस पर चिन्तन किया है।

पाँचवें उद्देशक में प्रवर्तिनी के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए वैय्यावृत्य पर विचार किया है।

छठे उद्देशक में अपने परिजनों के वहाँ पर जाने के लिए स्थविरों की अनुमति आवश्यक है। श्रमण और श्रमणी बहुश्रुत श्रमण-श्रमणी के साथ जाय, पर एकाकी नहीं। आचार्य, उपाध्याय उपाश्रय में आवें तो उनके पाँव पोंछकर साफ करना चाहिए, उनकी वैय्यावृत्य करनी चाहिए और उनके बाहर जाने पर उनके साथ जाना चाहिए आदि पर विस्तार से चर्चा है।

सातवें उद्देशक में श्रमण महिला को और श्रमणी पुरुष को दीक्षा न दें। यदि किसी को उत्कृष्ट वैराग्य भावना हो गयी हो तो इस शर्त पर कि दीक्षा देकर श्रमणी को श्रमणी-समुदाय की सेवा में पहुँचा दिया जाय और श्रमण को श्रमण-समुदाय की सेवा में। जहाँ पर दुष्ट व्यक्तियों की प्रधानता हो वहाँ श्रमणियों को विचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्रतभंग आदि का भय रहता है। पर श्रमणों के लिए वह मर्यादा नहीं; आदि अनेक बातें हैं।

आठवें उद्देशक में श्रमणों के उपकरणों पर चिन्तन है। यदि किसी स्थान पर कोई श्रमण उपकरण भूल गया हो और अन्य श्रमण, जहाँ पर उपकरण भूला है,

वह उस उपकरण को लेकर अपने स्थान पर आये और जिसका उपकरण हो उसे प्रदान करे, पर वह उपकरण यदि किसी सन्त का नहीं है तो उसका उपयोग न करे और निर्दोष स्थान पर परित्याग कर दे। इस उद्देशक में आहार के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए बताया है कि आठ ग्रास का आहार करने वाला अल्पाहारी, बारह ग्रास का आहार करने वाला अपार्धावमौदरिक, सोलह ग्रास का आहार करने वाला द्विभाग प्राप्त, चौबीस ग्रास का आहार करने वाला प्राप्तावमौदरिक, बत्तीस ग्रास का आहार करने वाला प्रमाणोपेताहारी और उससे एक ग्रास कम करने वाला अवमौदरिक कहलाता है।

नौवें उद्देशक में बताया है कि शय्यातर आदि का आहार श्रमण-श्रमणियों के लिए ग्राह्य नहीं है। साथ ही, श्रमण की द्वादश प्रतिमाओं के सम्बन्ध में भी वर्णन है।

दशवें उद्देशक में यवमध्यचन्द्र प्रतिमा तथा वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा के स्वरूप पर विश्लेषण करते हुए कहा है—जो जौ के कण के सदृश मध्य में मोटी हो और दोनों ही ओर पतली हो वह यवमध्यचन्द्र प्रतिमा है, जो वज्र के समान मध्य में पतली हो और दोनों ओर मोटी होती है वह वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा है। यवमध्यचन्द्र प्रतिमा को जो श्रमण धारण करता है वह श्रमण एक महीने तक अपने तन की ममता को छोड़कर देव-मानव और तिर्यंच सम्बन्धी अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों सहन करता है। उपसर्गों को सहन करते समय उसके अंतर्मानस में तनिक मात्र भी विषमता नहीं आती। वह शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ती आहार की ग्रहण करता है। इस प्रकार पूर्णमासी तक पन्द्रह दत्ती आहार की और पन्द्रह दत्ती पानी की ग्रहण करता है। कृष्णपक्ष में क्रमशः एक दत्ती कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। इसे यवमध्यचन्द्र प्रतिमा कहते हैं।

वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को पन्द्रह दत्ती आहार की और पन्द्रह दत्ती पानी की ग्रहण की जाती हैं और क्रमशः एक-एक दिन एक-एक दत्ती कम कर अमावस्या को एक दत्ती आहार और एक दत्ती पानी ग्रहण करता है। और शुक्लपक्ष में एक-एक दत्ती बढ़ाकर पूर्णमासी को उपवास करता है।

व्यवहार के आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार—ये पाँच प्रकार हैं। स्थविर के जातिस्थविर, श्रुतस्थविर और प्रव्रज्यास्थविर ये तीन प्रकार हैं। शैक्ष भूमियाँ तीन हैं— सप्तरात्रिन्दिनी, चातुर्मासिकी और षाण्मासिकी। आठ वर्ष से कम उम्र वाले को दीक्षा देना नहीं कल्पता।[1] जिनकी उम्र बहुत छोटी है वे आचा-

---

1 विनयपिटक में २० वर्ष से कम उम्रवाले व्यक्ति को दीक्षा नहीं देना, विनय-पिटक-भिक्खुपतिमोक्खापाचित्तय, ६५. के साथ तुलना करने से उस युग की भिन्न विचारधाराओं का भी पता लगता है।

रांग सूत्र को पढ़ने के अधिकारी नहीं। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले श्रमण को आचारांग पढ़ाना कल्पता है। चार वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को सूत्रकृतांग, पाँच वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को दशाश्रुतस्कन्ध, वृहतकल्प और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानांग, समवायांग, दस वर्ष की दीक्षावाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति, ग्यारह वर्ष वाले को लघु विमान प्रविभक्ति, महाविमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिका वंग-चूलिका, विवाहचूलिका, वारह वर्ष की दीक्षावाले को अरुणोपपातिक, गरुलोपपातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक, वैलंधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षावाले को उपस्थानश्रुत, समुपस्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात, नागपरयापनिका, चौदह वर्ष की दीक्षावाले को स्वप्नभावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षावाले को चारण भावना, सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को वेदनी शतक, सत्रह वर्ष की दीक्षावाले को आशीविषभावना, अठारह वर्ष की दीक्षावाले को दृष्टिविषभावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षावाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षावाले को सभी प्रकार के शास्त्र पढ़ना कल्पता है।

वैयावृत्य के दस प्रकार बताये हैं—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) शैक्ष-छात्र (६) ग्लान-रुग्ण (७) सार्धमिक (८) कुल (९) गण और (१०) संघ। इनकी सेवा करने से कर्मों की महान निर्जरा होती है।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में अनेक विषयों पर गहराई से प्रकाश डाला गया है।

व्यवहार व्याख्या-सहित

मैं पूर्व ही लिख चुका हूँ कि व्यवहार श्रमण-जीवन की साधना का एक जीवन्त भाष्य है। आगम में जिन बातों पर चिन्तन किया गया है उन्हीं पर सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में जो पद्यबद्ध टीकाएँ लिखी गयी हैं वे निर्युक्तियाँ है। निर्युक्तियों में मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गयी है। निर्युक्तियों की व्याख्या निक्षेप पद्धति पर अवलम्बित है। अनेक सम्भावित अर्थ को बताने के पश्चात् अप्रस्तुत अर्थ को छोड़कर प्रस्तुत पद को ग्रहण किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—[1]सूत्र अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है।

व्यवहारनिर्युक्ति में भी उत्सर्ग और अपवाद का विवेचन है। इस निर्युक्ति पर भाष्य भी है जो अधिक विस्तृत हैं। निर्युक्ति और भाष्य में यह अन्तर है कि निर्युक्तियों की व्याख्या शैली बहुत ही गूढ़ और संक्षिप्त है। निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने के लिए विस्तार से निर्युक्तियों के सदृश ही प्राकृत भाषा में

---

1 (क) सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ८३

(ख) निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्ति निर्युक्तिः ॥

आचारांग नि० १/२/१

पद्यात्मक जो व्याख्याएँ लिखी गयीं हैं वे भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुईं। भाष्य में सर्वप्रथम पीठिका में व्यवहार, व्यवहारी एवं व्यवहर्तव्य के स्वरूप की चर्चा की गयी है। व्यवहार में दोष लगने की दृष्टि से प्रायश्चित्त का अर्थ भेद, निमित्त, अध्ययन-विशेष तदर्ह परिषद् आदि का विवेचन किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए अनेक दृष्टान्त भी दिये हैं। भिक्षु, मास, परिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना, आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से विचार किया है। आधाकर्म से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार के लिए पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त का विधान है। मूलगुण और उत्तरगुण इन दोनों की विशुद्धि प्रायश्चित्त से होती है।

पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह ये सभी उत्तरगुण हैं। इनके क्रमशः ४२, ८, २५, १२, १२ और ४ भेद होते हैं। प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष के निर्गत और वर्तमान ये दो प्रकार हैं। जो तपार्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो गये हैं वे निर्गत हैं और जो विद्यमान हैं वे वर्तमान हैं। उनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रायश्चित्त के योग्य चार प्रकार के हैं—

(१) **उभयतर**—जो स्वयं तप की साधना करता हुआ भी दूसरों की सेवा करता है। (२) **आत्मतर**—जो केवल तप ही कर सकता है। (३) **परतर**—जो केवल सेवा ही कर सकता है। (४) **अन्यतर**—जो तप और सेवा दोनों में से एक समय में एक का ही सेवन कर सकता है।

आलोचना, आलोचनार्ह और आलोचक के बिना नहीं होती। स्वयं आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिश्रावी इन गुणों से युक्त होता है। आलोचक भी जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, शान्त, दान्त, अमायी, अपश्चात्तापी इन दस गुणों से युक्त होता है। आलोचना के दोष, तद्विषयभूत द्रव्य आदि प्रायश्चित्त देने की विधि आदि पर भाष्यकार ने विस्तार से प्रकाश डाला है।

परिहार तप का वर्णन करते हुए सुभद्रा और मेघावती का उदाहरण दिया है। आरोपणा के प्रस्थापनिका, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना, हाड़हडा, ये पाँच प्रकार बताये हैं। शिथिलता के कारण गच्छ का परित्याग कर पुनः गच्छ में सम्मिलित होने के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। पार्श्वस्थ, यथाछन्द, कुशील, अवसन्न और संसक्त के स्वरूप पर विचार चर्चा की है। क्षिप्तचित्त के राग, भय और अपमान ये तीन कारण हैं। दीप्तचित्त का कारण सम्मान है। क्षिप्तचित्तवाला मौन रहता है और दीप्तचित्तवाला बिना प्रयोजन के भी बोलता रहता है। भाष्यकार ने गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि की योग्यता पर भी चिन्तन किया है। आचार्य और उपाध्याय के अतिशय बताये हैं जिनका श्रमणों

को विशेष लक्ष्य रखना चाहिए—(१) उनके बाहर जाने पर पैरों को साफ करना। (२) उनके उच्चार-प्रस्रवण को निर्दोष स्थान पर परठना। (३) उनकी इच्छानुसार वैय्यावृत्य करना (४) उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना (५) उनके साथ उपाश्रय के बाहर जाना।

वर्षावास के लिए वह स्थान श्रेष्ठ माना गया है जहाँ पर अधिक कीचड़ न होता हो। द्वीन्द्रियादि जीवों की बहुलता न हो, प्रासुक-भूमि हो, रहने योग्य दो-तीन बस्तियाँ हों, गो-रस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हों, वैद्य हों, औषधियाँ सरलता से प्राप्त हों, धान्य की प्रचुरता हो, राजा प्रजापालक हो, पाखण्डी कम हों, भिक्षा सुगम-रीति से प्राप्त होती हो, स्वाध्याय में किसी भी प्रकार से विघ्न न हो। जहाँ पर कुत्तों की अधिकता हो वहाँ पर नहीं रहना चाहिए, क्योंकि काटने आदि का भय रहता है।

भाष्य में आर्यरक्षित, आर्यकालक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुरुण्ड, चाणक्य, किरातपुत्र, अवन्तीसुकुमाल, रोहिणेय, आर्यमंगू आदि की अनेक कथाएँ आयी हैं। यह भाष्य अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं।

भाष्य के पश्चात् टीका साहित्य लिखा गया है। टीका साहित्य की भाषा मुख्य रूप से संस्कृत है। उन टीकाओं में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि में जिन विषयों पर चर्चाएँ की गयी हैं, टीका में नये-नये हेतुओं द्वारा उन्हीं विषयों को और अधिक पुष्ट किया गया है।

टीकाकारों में आचार्य मलयगिरि का स्थान मूर्धन्य है। उन्होंने आगम ग्रन्थों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखीं, जिनमें उनका गम्भीर पांडित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्रांजलता, शैली का लालित्य और विश्लेषण की स्पष्टता आदि उनकी विशेषताएँ हैं। उनके द्वारा व्यवहार पर वृत्ति लिखी गयी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राक्कथन के रूप में पीठिका है जिसमें कल्प, व्यवहार, दोष, प्रायश्चित्त प्रभृति विषयों पर चिन्तन किया है। वृत्तिकार ने प्रारम्भ में अर्हत् अरिष्टनेमि को, अपने सद्गुरुवर्य तथा व्यवहार सूत्र के चूर्णिकार आदि को भक्तिभावना से विभोर होकर नमन किया है।

वृत्तिकार ने बृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनों आगमों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा कि कल्पाध्ययन में प्रायश्चित्त का निरूपण है, किन्तु उसमें प्रायश्चित्त देने की विधि नहीं है जबकि व्यवहार में प्रायश्चित्त देने की और आलोचना करने की ये दोनों प्रकार की विधियाँ हैं। यह बृहत्कल्प से व्यवहार की विशेषता है। व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य तीनों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—व्यवहारी कर्ता रूप है, व्यवहार करणरूप है और व्यवहर्तव्य कार्यरूप है। करणरूपी व्यवहार आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत रूप से पाँच प्रकार का है। चूर्णिकार ने पाँचों प्रकार

के व्यवहार को करण कहा है। भाष्यकार ने सूत्र, अर्थ, जीतकल्प, मार्ग, न्याय, एप्सितव्य आचरित और व्यवहार इनको एकार्थक माना है।

जो स्वयं व्यवहार के मर्म को जनता हो, अन्य व्यक्तियों को व्यवहार के स्वरूप को समझाने की क्षमता रखता हो वह गीतार्थ है। जो गीतार्थ हैं उनके लिए व्यवहार का उपयोग है। प्रायश्चित्त प्रदाता और प्रायश्चित्त संग्रहण करने वाला दोनों गीतार्थ होने चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और परिकुंचना ये चार अर्थ है। प्रतिसेवना रूप प्रायश्चित्त के दस भेद हैं—१. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. तदुभय ४. विवेक ५. उत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. अनवस्थाप्य और १० पारांचिक। इन दसों प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में विशेष रूप से विवेचन किया गया है। यदि हम इन प्रायश्चित्त के प्रकारों की तुलना विनयपिटक[1] में आये हुए प्रायश्चित्त विधि के साथ करें तो आश्चर्यजनक समानता मिलेगी। प्रायश्चित्त प्रदान करनेवाला अधिकारी या आचार्य बहुश्रुत व गम्भीर हो, यह आवश्यक है। प्रत्येक के सामने आलोचना का निषेध किया गया है। आलोचना और प्रायश्चित्त दोनों ही योग्य व्यक्ति के समक्ष होने चाहिए जिससे कि वह गोपनीय रह सके।

बौद्ध परम्परा में साधु समुदाय के सामने प्रायश्चित्त ग्रहण का विधान है। विनयपिटक में लिखा है—प्रत्येक महीने की कृष्ण चतुर्दशी और पूर्णमासी को सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्रित हो। तथागत बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी संघ को बताया है। अतः किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त कर पातिमोक्ख का वाचन किया जाता है और प्रत्येक प्रकरण के उपसंहार में यह जिज्ञासा व्यक्त की जाती है कि उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातों में शुद्ध हैं? यदि कोई भिक्षु तत्सम्बन्धी अपने दोष की आलोचना करना चाहता है तो संघ उस पर चिन्तन करता है और उसकी शुद्धि करवाता है। द्वितीय और तृतीय बार भी उसी प्रश्न को दुहराया जाता है। सभी की स्वीकृति होने पर एक-एक प्रकरण आगे पढ़े जाते हैं। इसी तरह भिक्षुणियाँ भिक्खुनी पातिमोक्ख का वाचन करती हैं। यह सत्य है कि दोनों ही परम्पराओं की प्रायश्चित्त विधियाँ पृथक्-पृथक् हैं। पर दोनों में मनोवैज्ञानिकता है। दोनों ही परम्पराओं में प्रायश्चित्त करने वाले साधक के हृदय की पवित्रता, विचारों की सरलता अपेक्षित मानी है।

प्रथम उद्देशक में प्रतिसेवना के मूलप्रतिसेवना और उत्तरप्रतिसेवना ये दो प्रकार बताये हैं। मूल गुण अतिचार प्रतिसेवना प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह रूप पाँच प्रकार की है। उत्तर गुणातिचार प्रतिसेवना दस प्रकार की है। उत्तरगुण, अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक और अद्धा प्रत्याख्यान के रूप में हैं। अपर शब्दों में

---

1 विनयपिटक निदान

उत्तर गुणों के पिण्डविशुद्धि, पांच समिति, वाह्यतप, आभ्यन्तर तप, भिक्षु, प्रतिमा और अभिग्रह इस तरह दस प्रकार हैं। मूलगुणातिचार प्रतिसेवना और उत्तर गुणातिचार प्रतिसेवना इनके भी दर्प्य और कल्प्य ये दो प्रकार हैं। विना कारण प्रतिसेवना दर्पिका है और कारणयुक्त प्रतिसेवना कल्पिका है। वृत्तिकार ने विपय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक प्रमाण है।

वृत्ति के पश्चात् जनभाषा में सरल और सुवोध शैली में आगमों के शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएँ लिखी गई हैं जिनकी भाषा प्राचीन गुजराती-राजस्थानी मिश्रित है। यह वालाववोध व टब्बा के नाम से विश्रुत हैं। स्थानकवासी परम्परा के धर्मसिंह मुनि ने व्यवहार सूत्र पर भी टब्बा लिखा है। पर अभी तक वह अप्रकाशित ही है। आचार्य अमोलक ऋषिजी महाराज द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित व्यवहार सूत्र प्रकाशित हुआ है। जीवराज घेलाभाई दोशी ने गुजराती में अनुवाद भी प्रकाशित किया है। शुब्रिंग लिपजिंग ने जर्मन टिप्पणी के साथ सन् १९१८ में लिखा जिसको जैन साहित्य समिति, पूना से १९२३ में प्रकाशित किया है।

पूज्य घासीलाल जी महाराज ने छेदसूत्रों का प्रकाशन केवल संस्कृत टीका के साथ करवाया है।

हिन्दी भाषा में व्यवहार पर और अन्य छेदसूत्रों पर नवीन शैली से प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ। पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी कमल ने इस महान् कार्य की पूर्ति की है अतः वे साधुवाद के पात्र हैं।

०

के व्यवहार को करण कहा है। भाष्यकार ने सूत्र, अर्थ, जीतकल्प, मार्ग, न्याय, एप्सितव्य आचरित और व्यवहार इनको एकार्थक माना है।

जो स्वयं व्यवहार के मर्म को जनता हो, अन्य व्यक्तियों को व्यवहार के स्वरूप को समझाने की क्षमता रखता हो वह गीतार्थ है। जो गीतार्थ हैं उनके लिए व्यवहार का उपयोग है। प्रायश्चित्त प्रदाता और प्रायश्चित्त संग्रहण करने वाला दोनों गीतार्थ होने चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रतिसेवना, संयोजना, आरोपणा और परिकुंचना ये चार अर्थ है। प्रतिसेवना रूप प्रायश्चित्त के दस भेद हैं—१. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. तदुभय ४. विवेक ५. उत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. अनवस्थाप्य और १० पारांचिक। इन दसों प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में विशेष रूप से विवेचन किया गया है। यदि हम इन प्रायश्चित्त के प्रकारों की तुलना विनयपिटक[1] में आये हुए प्रायश्चित्त विधि के साथ करें तो आश्चर्यजनक समानता मिलेगी। प्रायश्चित्त प्रदान करनेवाला अधिकारी या आचार्य बहुश्रुत व गम्भीर हो, यह आवश्यक है। प्रत्येक के सामने आलोचना का निषेध किया गया है। आलोचना और प्रायश्चित्त दोनों ही योग्य व्यक्ति के समक्ष होने चाहिए जिससे कि वह गोपनीय रह सके।

बौद्ध परम्परा में साधु समुदाय के सामने प्रायश्चित्त ग्रहण का विधान है। विनयपिटक में लिखा है—प्रत्येक महीने की कृष्ण चतुर्दशी और पूर्णमासी को सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्रित हो। तथागत बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी संघ को बताया है। अतः किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त कर पातिमोक्ख का वाचन किया जाता है और प्रत्येक प्रकरण के उपसंहार में यह जिज्ञासा व्यक्त की जाती है कि उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातों में शुद्ध हैं? यदि कोई भिक्षु तत्सम्बन्धी अपने दोष की आलोचना करना चाहता है तो संघ उस पर चिन्तन करता है और उसकी शुद्धि करवाता है। द्वितीय और तृतीय बार भी उसी प्रश्न को दुहराया जाता है। सभी की स्वीकृति होने पर एक-एक प्रकरण आगे पढ़े जाते हैं। इसी तरह भिक्षुणियाँ भिक्खुनी पातिमोक्ख का वाचन करती हैं। यह सत्य है कि दोनों ही परम्पराओं की प्रायश्चित्त विधियाँ पृथक्-पृथक् हैं। पर दोनों में मनोवैज्ञानिकता है। दोनों ही परम्पराओं में प्रायश्चित्त करने वाले साधक के हृदय की पवित्रता, विचारों की सरलता अपेक्षित मानी है।

प्रथम उद्देशक में प्रतिसेवना के मूलप्रतिसेवना और उत्तरप्रतिसेवना ये दो प्रकार बताये हैं। मूल गुण अतिचार प्रतिसेवना प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह रूप पाँच प्रकार की है। उत्तर गुणातिचार प्रतिसेवना दस प्रकार की है। उत्तरगुण, अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक और अद्धा प्रत्याख्यान के रूप में हैं। अपर शब्दों में

---

1 विनयपिटक निदान

उत्तर गुणों के पिण्डविशुद्धि, पांच समिति, वाह्यतप, आभ्यन्तर तप, भिक्षु, प्रतिमा और अभिग्रह इस तरह दस प्रकार हैं। मूलगुणातिचार प्रतिसेवना और उत्तर गुणातिचार प्रतिसेवना इनके भी दर्प्य और कल्प्य ये दो प्रकार हैं। विना कारण प्रतिसेवना दर्पिका है और कारणयुक्त प्रतिसेवना कल्पिका है। वृत्तिकार ने विपय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक प्रमाण है।

वृत्ति के पश्चात् जनभाषा में सरल और सुवोध शैली में आगमों के शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएँ लिखी गई हैं जिनकी भाषा प्राचीन गुजराती-राजस्थानी मिश्रित है। यह वालाववोध व टब्वा के नाम से विश्रुत हैं। स्थानकवासी परम्परा के धर्मसिंह मुनि ने व्यवहार सूत्र पर भी टब्वा लिखा है। पर अभी तक वह अप्रकाशित ही है। आचार्य अमोलक ऋषिजी महाराज द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित व्यवहार सूत्र प्रकाशित हुआ है। जीवराज घेलाभाई दोशी ने गुजराती में अनुवाद भी प्रकाशित किया है। शुब्रिंग लिपजिंग ने जर्मन टिप्पणी के साथ सन् १९१८ में लिखा जिसको जैन साहित्य समिति, पूना से १९२३ में प्रकाशित किया है।

पूज्य घासीलाल जी महाराज ने छेदसूत्रों का प्रकाशन केवल संस्कृत टीका के साथ करवाया है।

हिन्दी भाषा में व्यवहार पर और अन्य छेदसूत्रों पर नवीन शैली से प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ। पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी कमल ने इस महान् कार्य की पूर्ति की है अतः वे साधुवाद के पात्र हैं।

६

म्यग्द न : ए नात्मक चि न

सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व और सम्यग्दृष्टित्व शब्दों का प्रयोग समान अर्थ को लिये हुए है। विशेषावश्यकभाष्य में[1] सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ निर्दिष्ट हैं। सम्यक्त्व वह है, जिससे श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं। सम्यक् या सम्यक्त्व शब्द का सामान्य अर्थ सत्यता व यथार्थता है। सम्यक्त्व का अर्थ तत्त्व रुचि भी है। सत्य की अभीप्सा है। सत्य के प्रति जिज्ञासा वृत्ति या मुमुक्षुत्व ही सम्यग्दर्शन है। सत्य की चाह ऐसा तत्त्व है जो साधक को साधना मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। जिस व्यक्ति को प्यास नहीं वह व्यक्ति पानी को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता, वैसे ही तत्त्व-रुचि या अभीप्सा से युक्त व्यक्ति ही साधना के महामार्ग पर आरूढ़ होता है।

जैन आगम साहित्य में 'दर्शन' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जीव आदि पदार्थों के स्वरूप को जानना, देखना, उस पर निष्ठा करना दर्शन कहा[2] गया है।

सामान्य रूप से दर्शन देखने के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, किन्तु यहाँ पर दर्शन शब्द का अर्थ केवल नेत्रजन्य बोध ही नहीं है, अपितु उसमें इन्द्रियबोध, मनबोध और आत्मबोध आदि सभी आ जाते हैं। जैन परम्परा में दर्शन शब्द को लेकर चिन्तकों में परस्पर विवाद रहा है। दर्शन अन्तर्बोध है तो ज्ञान बौद्धिक है। नैतिक दृष्टि से दर्शन का अर्थ दृष्टिकोण है। दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है जो दृष्टिकोणपरक अर्थ को लिये हुए है। तत्त्वार्थ सूत्र[3] और उत्तराध्ययन[4] में दर्शन शब्द का अर्थ तत्त्वश्रद्धा है। उसके बाद दर्शन शब्द देव, गुरु और धर्म की श्रद्धा, भक्ति के अर्थ में भी आया है।[5] इस

---

1 विशेषावश्यकभाष्य।

2 अभिधान राजेन्द्र कोश, भा० ५, पृ० २४२५।

3 तत्त्वार्थ सूत्र १-२।

4 उत्तराध्ययन २८-३५।

5 आवश्यक सूत्र, सम्यक्त्व पाठ।

तरह सम्यग्दर्शन तत्त्वसाक्षात्कार, आत्मसाक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा तथा भक्ति आदि अर्थों को लिये हुए हैं।

भगवान महावीर तथा तथागत बुद्ध के युग में प्रत्येक धर्म प्रवर्तक अपने सिद्धान्त को सम्यग्दृष्टि और दूसरे के सिद्धान्त को मिथ्यादृष्टि कहता था। बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में बासठ मिथ्यादृष्टियों का वर्णन है और सूत्रकृतांग आदि में तीन सौ तिरसठ मिथ्यादृष्टियों का विवेचन है। यहाँ पर मिथ्यादृष्टि शब्द अश्रद्धा और मिथ्या शब्द के अर्थ में नहीं किन्तु गलत दृष्टिकोण के अर्थ में है। जब यह प्रश्न उठा—गलत दृष्टिकोण क्या है तब कहा गया—आत्मा और जगत के सम्बन्ध में जो गलत दृष्टिकोण है, वही मिथ्या दर्शन है। अतः प्रत्येक धर्मप्रवर्तक ने आत्मा और जगत का प्रतिपादन किया और अपने दृष्टिकोण पर विश्वास करने को सम्यग्दर्शन और दूसरों के दृष्टिकोण पर विश्वास करना मिथ्यादर्शन मान लिया है।

इस तरह सम्यग्दर्शन तत्त्व श्रद्धान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। किन्तु उसकी भावना में परिवर्तन हो चुका था। उसमें श्रद्धा तत्त्वस्वरूप की मान्यता के सम्बन्ध में थी। उसके पश्चात् श्रद्धा विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध में केन्द्रित हुई। भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से सम्यग्दर्शन का अर्थ है यथार्थ दृष्टिकोण। यथार्थ दृष्टिकोण प्रत्येक सामान्य व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। सत्य की स्वानुभूति का मार्ग कठिन है। पर जिन्होंने अपनी अनुभूति से सत्य को जाना है और उसका जो स्वरूप बताया है उस यथार्थ दृष्टिकोण को स्वीकार करना सम्यग्दर्शन है। चाहे सम्यग्दर्शन को यथार्थ दृष्टि कहें या तत्त्वार्थ श्रद्धान उसमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है उसको प्राप्त करने की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वयं प्रयोगशाला में बैठकर प्रयोग कर सत्य का उद्घाटन करता है। दूसरा व्यक्ति उस वैज्ञानिक के कथन पर विश्वास करके यथार्थ स्वरूप को जानता है। दोनों ही स्थितियों में यथार्थ स्वरूप को जाना जाता है, पर विधि में अन्तर होता है। एक ने स्वयं की अनुभूति से सत्य का साक्षात्कार किया है तो दूसरे व्यक्ति ने श्रद्धा के द्वारा सत्य को जाना है। या तो स्वयं साक्षात्कार करे या जिन मूर्धन्य मनीषियों ने तत्त्व को साक्षात्कार किया है उनकी बात को स्वीकार करे।

जैन तत्त्व मनीषियों ने जैन आचार का आधार सम्यग्दर्शन को माना है। आचार्य देववाचक ने[1] सम्यग्दर्शन को संघ रूपी सुमेरु पर्वत की अत्यन्त सुदृढ़ और गहन भू-पीठिका (आधार शिला) कहा है जिस पर ज्ञान और चारित्र रूपी श्रेष्ठ धन की पर्वतमाला स्थिर रही हुई है। जैन आचार शास्त्र की दृष्टि से सम्यग्दर्शन को मोक्ष को प्रवेश-पत्र कहा है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्-ज्ञान के बिना आचरण में निर्मलता नहीं आती और बिना आचरण की निर्मलता के कर्म नष्ट नहीं होते। और बिना कर्म नष्ट हुए निर्वाण प्राप्त नहीं होता।[2]

---

1 नन्दी सूत्र १-१२।

2 उत्तराध्ययन २८-३०।

सम्यग्दृष्टि साधक पाप का आचरण नहीं करता ।[1] क्योंकि आचरण का सही और गलत होना व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। जो सम्यग्दृष्टि होता है उसका आचरण हमेशा नही होता है, सत् होता है और मिथ्यादृष्टि वाले का आचरण असत् होता है। इसीलिए कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि कितना भी दान और पुरुषार्थ करे किन्तु यथार्थ दृष्टि के अभाव में उसका वह पुरुषार्थ मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। वह तो कर्म वन्धन के कारण होंगे। मिथ्यादृष्टि का सारा पुरुषार्थ अशुद्ध ही होगा। किन्तु सम्यग्दृष्टि में फल की आकांक्षा न होने से उसका सभी पुरुषार्थ विशुद्ध होता है।[2]

वैदिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन

वैदिक परम्परा में भी सम्यग्दर्शन का विशिष्ट स्थान रहा है। आचार्य मनु ने[3] आचारांग की तरह ही कहा है—सम्यग्दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति कर्म का बन्धन नहीं करता। जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से रहित है वही व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता आदि में 'सम्यग्दर्शन' शब्द नहीं मिलता। किन्तु सम्यग्दर्शन का जो पर्यायवाची शब्द श्रद्धा है[4] उसका विस्तार से विश्लेषण है। गीताकार ने कहा—कि वही ज्ञान का अधिकारी है जिसके जीवन में श्रद्धा का आलोक है। जिस व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होगी, जैसा जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण होगा, वैसा ही उसका जीवन बनता है।[5]

श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन के कुरुक्षेत्र से मैदान में कहा[6] यदि कोई दुराचारी व्यक्ति है उसकी मुझ पर दृढ़ निष्ठा है और मुझे स्मरण करता है तो वह चिर शांति को प्राप्त कर सकता है।

आचार्य शंकर ने सम्यग्दर्शन का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा[7] है—सम्यग्दर्शननिष्ठ पुरुष संसार के बीज रूप अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन अवश्य करता है और निर्वाण लाभ प्राप्त करता है।

तो स्पष्ट है, जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता वहाँ तक राग का उच्छेद नहीं होता और बिना राग के उच्छेद के मुक्ति नहीं होती। जिस व्यक्ति की जैसे श्रद्धा होगी वैसा

---

1 आचारांग १।३।२।
2 सूत्रकृतांग १-८-२२।२३।
3 मनुस्मृति ६-७४।
4 "श्रद्धावान् लभते ज्ञानं"।
5 गीता।
6 गीता १७-३।
7 गीता भाष्य ६-३०/३१, १८-१२।

ही व्यक्ति का निर्माण होगा।[1] असम्यक् जीवन दृष्टि पतन का मार्ग है। तो सम्यक् जीवन दृष्टि उत्थान का मार्ग है।

यह सत्य है कि जैन दर्शन में श्रद्धा का अर्थ तत्त्वश्रद्धा के अर्थ में है तो गीता में श्रद्धा ईश्वर के प्रति है। गीता का यह अभिमत है 'जीवन के विकास के लिए संशय रहित होना आवश्यक है। यदि मन में श्रद्धा नहीं है तो चाहे आप कितना भी तर्क कीजिए, दान दीजिए या यज्ञ कीजिए, सभी निरर्थक है।[2] श्रद्धा के भी गीताकार ने तीन भेद किये हैं—सात्विक, राजस और तामस।[3] सात्विक श्रद्धा वह जिसमें सतोगुण प्रधान होता है। वह श्रद्धा देवताओं के प्रति होती है। राजस श्रद्धा में रजोगुण की प्रधानता होती है, वह श्रद्धा यक्ष-राक्षसों प्रति होती है। तामस श्रद्धा में तमोगुण की प्रधानता है। यह श्रद्धा भूत और प्रेतों की ओर होती है।

श्रीमद्‌भगवद् गीता में श्रद्धा और भक्ति के विभिन्न आधार माने गये हैं। उस दृष्टि से श्रद्धा के चार प्रकार होते[4] हैं—

(१) जो श्रद्धा ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात होती है, जो साधक परमात्म-तत्त्व का सही साक्षात्कार कर लेता है उस ज्ञान के आधार पर जो श्रद्धा उद्‌बुद्ध होती है वह ज्ञानी की श्रद्धा मानी जाती है। इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं होता।

(२) द्वितीय श्रद्धा में जिज्ञासा होती है, वह जिज्ञासा भक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। इस श्रद्धा में कभी-कभी संशय भी होता है, क्योंकि वह जिज्ञासा पर आधृत है।

(३) तृतीय प्रकार की श्रद्धा वह है जिसमें कष्ट की प्रधानता होती है; संकटों से ग्रसित व्यक्ति सोचता है कि मुझे कोई शक्ति इन कष्टों से मुक्त कर दे। उसकी श्रद्धा में दैन्यवृत्ति होती है।

(४) चतुर्थ श्रद्धा में स्वार्थ भावना होती है। अपने आराध्य देव से कुछ प्राप्त हो इस दृष्टि से वह भक्ति करता है और श्रद्धा रखता है। वह सोचता है मुझे इस कार्य में सफलता मिल जाय। उसकी श्रद्धा स्वार्थ पर आधृत होने से वास्तविक श्रद्धा नहीं होती। वह अभिनय तो वास्तविक श्रद्धा का करता है किन्तु उसमें वास्तविक श्रद्धा का अभाव होता है।

गीता में श्रीकृष्ण ने भक्तों को यह आश्वासन[5] दिया है कि तुम मेरे पर पूर्ण

---

1 गीता १७-३।
2 गीता १७-१५।
3 वही० १७-२/४।
4 वही० ७-१६।
5 गीता १८/६५-६६।

निष्ठा रखो, तुम अपने जीवन की बागडोर मेरे को सँभला दो। मैं तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। पर, जैन और बौद्ध वाङ्मय में इस प्रकार का आश्वासन महावीर और बुद्ध ने कहीं पर भी नहीं दिया है।

जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन के अतिचार बताये हैं। उसमें संशय अतिचार है, तो गीताकार ने भी संशय को जीवन का दोष माना है।[1] फल-आकांक्षा को जैन दर्शन में अतिचार माना है। साधक को एकान्त निर्जरा के लिए साधना करनी चाहिए। वैसे ही गीताकार ने भी फल की आकांक्षा से जो भक्ति करता है उसकी भक्ति श्रेष्ठ कोटि में नहीं मानी है। वह भक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से हेय है। वह साधक को साधना के पथ पर आगे नहीं बढ़ाती। जो साधक विवेक को विस्मृत होकर, भोगों के प्रति आसक्त होकर, परमात्म तत्त्व को विस्मृत होकर देवताओं की शरण को ग्रहण करते हैं; उन देवताओं की साधना-आराधना के द्वारा अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हैं वे देवताओं को प्राप्त होते हैं, पर मुझे वही प्राप्त होता है जिसकी मेरे पर गहरी निष्ठा होती है।[2]

इस तरह हम देखते हैं कि श्रद्धा के रूप में सम्यग्दर्शन की व्याख्या गीता में की गई है और उसे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। गीता की श्रद्धा भी अनासक्त जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करती है तो सम्यग्दर्शन में भी वही विचारधारा है। तुलनात्मक दृष्टि से; समन्वय की भावना से चिन्तन करने पर बहुत कुछ समानता प्राप्त होती है।

---

1 गीता ४-४०।

2 गीता ७-२१/२३।

चिन्तन के विविध आयाम

द्वितीय खण्ड

संस्कृति - साहित्य - चिन्तन

१

सांस्कृतिक परम्परा : तुलनात्मक अध्ययन

आध्यात्मिक विजय

जैन धर्म एक महान विजेता का धर्म है। सुनहरे अतीत का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि मानव सदा से ही विजेता का उपासक रहा है। विजेता के चरणों में उसका सिर नत होता रहा है, उसकी वह अर्चना व अभ्यर्थना करता रहा है। 'इन्द्र' और 'जिन' ये दोनों ही विजेता रहे हैं, पर दोनों की विजय में दिन-रात की तरह अन्तर है। इन्द्र ने अपनी भौतिक शक्ति से विरोधी शक्तियों को नष्ट कर दिया था जिससे कि वे पुनः अपना सिर न उठा सकें और वह विजेता के गौरवपूर्ण पद को सदा अलंकृत करता रहे। उसकी वह विजय भौतिक शक्तियों पर थी। उसने विरोधियों के अन्तर्मानस में एक भयंकर आतंक पैदा किया था, उसकी विजय तन पर थी, मन पर नहीं; किन्तु जिन की विजय आध्यात्मिक थी, वह दूसरों पर नहीं अपने ही विकारों पर थी, वासना पर थी। उन्होंने मोह राजा की विराट् सेना को पराजित किया, क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के सेनापतियों को परास्त किया, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को नष्ट कर वे जिन बने, यह उनकी आध्यात्मिक विजय थी।

इन्द्र और जिन

भारत की पावन पुण्य धरा पर दो प्रमुख संस्कृतियों ने जन्म लिया, वे यहाँ पर खूब फली-फूलीं और विकसित हुई हैं। उन दो संस्कृतियों में एक इन्द्र की उपासना करती रही है तो दूसरी जिन की। इन्द्र की उपासना करने वाली संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है तो जिन की उपासना करने वाली संस्कृति श्रमण संस्कृति है। ब्राह्मण संस्कृति बाह्य विजेताओं की संस्कृति है। उसने बाह्य शक्ति की अभिवृद्धि के लिए अथक प्रयास किया है। उसकी सतत् यही भावना रही है[1] कि मैं सौ वर्ष

---

1 (क) ऋग्वेद ७।६—६।१६।
(ख) यजुर्वेद ३६।२४।
(ग) पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्॥

[क्रमशः]

तक अच्छी तरह से जीऊं। सौ वर्ष तक मेरी भुजाओं में अपार बल रहे। सौ वर्ष तक मेरे पैरों में अंगद की तरह शक्ति रहे। सौ वर्ष तक मेरी नेत्र ज्योति पूर्ण निर्मल और तेजस्वी रहे। प्रभृति उद्‌गारों से यह स्पष्ट है कि उसका लक्ष्य तन को सुदृढ़ बनाने का था। भौतिक वैभव को प्राप्त करने का था। भौतिक वैभव को प्राप्त करने के लिए अहर्निश प्रबल प्रयास भी करते रहे।

किन्तु श्रमण संस्कृति आत्म-विजेता की संस्कृति है। उसने तन की अपेक्षा आत्मा को पुष्ट बनाने पर अत्यधिक बल दिया है। आत्मा किस तरह विकारों से मुक्त हो इसके लिए तप, जप और संयम साधना को अपनाने के लिए उत्प्रेरित किया। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त ध्वंसावशेषों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि श्रमण संस्कृति के उपासक आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए सतत तत्पर रहे हैं। ध्यान मुद्रा में अवस्थित उनकी वे मुद्राएँ इस बात का ज्वलंत प्रमाण हैं।

ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या

भारतीय साहित्य के मूर्धन्य मनीषियों का यह अभिमत है कि उपनिषद् युग में जिस ब्रह्मविद्या का विस्तार से विश्लेषण हुआ है वह ब्रह्मविद्या पहले यज्ञविद्या थी फिर आत्म-विद्या के रूप में विश्रुत हुई। आत्म-विद्या के पुरस्कर्ता क्षत्रिय थे जो श्रमण संस्कृति के उपासक थे। आत्म-विद्या को प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण भी क्षत्रियों के पास पहुँचे थे, और उन्होंने उनसे आत्म-विद्या प्राप्त की थी।[1]

श्रमण संस्कृति ने आत्म-बल से ही ब्राह्मण संस्कृति पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराई। वैदिक काल में आत्मा, कर्म आदि की गम्भीर चर्चाएँ नहीं के समान हैं पर उपनिषद् युग में उन विषयों पर चर्चाएँ जमकर हुई हैं। पहले ब्रह्म का अर्थ यज्ञ, उसके मंत्र व स्तोत्र आदि थे पर श्रमण संस्कृति के प्रबल प्रभाव से ब्रह्म का अर्थ आत्मा व परमात्मा हो गया।

संस्कृतियों का परस्पर प्रभाव

ऐतिहासिक विज्ञों का यह मन्तव्य है कि प्राचीन उपनिषदों का रचना काल वही है जो भगवान पार्श्व और महावीर का है।[2] अतः उस काल में एक

[क्रमशः]
पूषेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।
भूषेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतम् ॥—अथर्व० १९।६७।१-८ ।

1 छान्दोग्य उपनिषद् ५।३, ५।११।

2 (क) देखिए—लेखक का 'भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन', पृष्ठ १८-१९। [क्रमशः]

संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर प्रभाव पड़ा। एक दूसरे ने एक दूसरे की विचार-धारा को व शब्दों को ग्रहण किया। ब्राह्मण संस्कृति के उपासक अपने आप को आर्य मानते थे[1], और श्रमण संस्कृति के उपासकों को आर्येतर मानते थे। श्रमण संस्कृति ने आर्य शब्द को अपनाया। जो ज्येष्ठ व श्रेष्ठ व्यक्ति थे उनके लिए 'आर्य' शब्द व्यवहृत होने लगा। आगम साहित्य में अनेकों स्थलों पर आर्य शब्द आया है। नन्दीसूत्र[2] व कल्पसूत्र[3] की स्थविरावली में 'अज्ज' शब्द आचार्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण शब्द पहले केवल वैदिक परम्परा के एक समुदाय विशेष के लिए ही प्रयुक्त होता था, पर श्रमण संस्कृति ने 'ब्राह्मण' शब्द को भी अपनाया। उत्तराध्ययन[4] के पच्चीसवें अध्ययन में ब्राह्मण शब्द की विस्तार से व्याख्या की कि 'ब्राह्मण' वह है जिसका जीवन सद्‌गुणों से लहलहा रहा है जो उत्कृष्ट चारित्र सम्पन्न श्रमण है, वह ब्राह्मण है। ब्राह्मण शब्द भी श्रमण संस्कृति में श्रमण के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जैन संस्कृति की भाँति बौद्ध संस्कृति में भी वह श्रमण के अर्थ में आया है। धम्मपद[5] का ब्राह्मणवर्ग और सुत्तनिपात[6] का वासेट्‌ठसुत्त इस कथन के साक्ष्य हैं। ब्राह्मण साहित्य में ब्रह्मचर्य का अर्थ वेदों के पठन के अर्थ में रहा है। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रम उसे कहा गया है। श्रमण परम्परा में 'ब्रह्मचर्य' आचार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के अध्ययनों को इसीलिए ब्रह्मचर्य अध्ययन[7] कहा है और बौद्ध परम्परा में वही ब्रह्मविहार के रूप में विश्रुत रहा है। ब्रह्मचर्य से लौकिक आचार-विचार नहीं किन्तु आध्यात्मिक समुत्कर्ष करने वाला आचार लिया है। ब्राह्मण संस्कृति में पहले तीन ही आश्रम थे किन्तु श्रमण संस्कृति के प्रभाव से

[क्रमशः]

(ख) दी वेदाज पृ. १४६-१४८, एफ० मेक्समूलर।

(ग) पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया, पृष्ठ ५२, एच. सी. रायचौधरी।

(घ) इण्डियन फिलोसफी, भाग १, पृ. १४२, डा. राधाकृष्णन्।

1 (क) शतपथ ब्राह्मण (काण्व शाखा ४।१।६)।

(ख) ऋग्वेद (१।५१, ६।२०।१, २५।१।२।

(ग) अथर्ववेद ४।२०।४, ८।

2 नन्दी, स्थविरावली २६-२९।

3 कल्पसूत्र-स्थविरावली, सूत्र २०२-२२२।

4 उत्तराध्ययन २५।१९-२९।

5 धम्मपद, ब्राह्मण वर्ग ३६।

6 सुत्तनिपात वासेट्‌ठसुत्त ३५; २४५ अध्याय।

7 (क) समवायांग प्रकीर्णक ९, सूत्र ३।

(ख) आचारांगनिर्युक्ति, गाथा ११।

संन्यासाश्रम ने स्थान पाया और संन्यासियों की आचार संहिता भी जैन श्रमणों की भाँति ही मिलती-जुलती रखी गई। आत्मा, कर्म, व्रत आदि आध्यात्मिक विषयों को भी ब्राह्मण संस्कृति ने अच्छी तरह से अपनाया।

संस्कृतियों में मतभेद

श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति में जहाँ पर अनेक बातों में परस्पर समन्वय हुआ है, एक संस्कृति दूसरी संस्कृति से प्रभावित हुई है वहाँ पर दोनों ही संस्कृतियों में अनेक बातों में मतभेद भी रहा है। जैन संस्कृति न एकान्त रूप से ज्ञानप्रधान है, न एकान्त रूप से चारित्रप्रधान है उसने ज्ञान और क्रिया इन दोनों पर बल दिया है[1] जबकि ब्राह्मण संस्कृति में 'ज्ञान' पर अत्यधिक बल दिया गया। उसका यह बज्र आघोष रहा '**ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः** ज्ञान के अभाव में मुक्ति नहीं होती; **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**[2] ज्ञान के समान कोई पवित्र नहीं है। यही कारण है कि ब्राह्मण संस्कृति के दिव्य आलोक में पनपने वाले दर्शनों ने भी ज्ञान पर अत्यधिक बल दिया और उसी से मोक्ष माना है।

न्यायदर्शन का अभिमत है कि कारण की निवृत्ति होने पर ही कार्य की निवृत्ति होती है। संसार का कारण मिथ्याज्ञान है। जब मिथ्याज्ञान रूप कारण नष्ट हो जाता है तब दुःख, जन्म, प्रवृत्ति दोष, प्रभृति कार्य भी स्वत नष्ट हो जाते हैं अतः तत्वज्ञान ही दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष का कारण है।

सांख्यदर्शन का मन्तव्य है कि प्रकृति और पुरुष का जहाँ तक विवेक ज्ञान नहीं होता वहाँ तक मुक्ति नहीं हो सकती। जब प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान होता है तब पुरुष स्वयं को नि.संग, निर्लेप, और पृथक मानने लगता है, यह विवेक ख्याति ही मोक्ष का कारण है।

वैशेषिक दर्शन का कहना है—इच्छा और द्वेष ही धर्म-अधर्म, सुख-दुःख के कारण हैं। तत्वज्ञानी इच्छा और द्वेष से रहित होता है अतः उसे सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। वह अनागत कर्मों का निरुन्धन कर संचित कर्मों को ज्ञानाग्नि से विनष्ट कर मोक्ष प्राप्त करता है अतः तत्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। इस तरह ज्ञान को प्रमुखता देकर चारित्र की उपेक्षा की गई, जिसके फलस्वरूप हम देखते हैं याज्ञवल्क्य ब्रह्मर्षि जैसे पहुँचे हुए ऋषिगण भी गायों के परिग्रह को परिग्रह में नहीं गिनते। उनके मैत्रेयी और कात्यायनी ये दो पत्नियाँ हैं। संपत्ति के विभाजन की गंभीर समस्या है।[3] अनेक ऋषियों के विराट् आश्रम हैं जहाँ सहस्राधिक गायें भी हैं। ज्ञान के क्षेत्र में ऋषिगण जहाँ ऊँची उड़ानें भरते रहे हैं वहाँ आचरण के क्षेत्र में

---

1 आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं—सूत्रकृतांग १।१२।११।
2 श्रीमद्भागवद् गीता ४।३८।
3 बृहदारण्यकोपनिषद्।

उनके कदम कुछ शिथिल प्रतीत होते हैं। वैदिक परम्परा में ही मीमांसक दर्शन आदि की कुछ ऐसी विचारधारा भी रही है कि उन्होंने ज्ञान की सर्वथा उपेक्षा भी की है। उनका मन्तव्य है कि ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है, क्रिया की आवश्यकता है। बिना क्रिया के ज्ञान भार रूप है 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' अतः वेदोक्त क्रियाकाण्ड विधि-विधान करते रहना चाहिए। जानना मुख्य नहीं है, आचरण मुख्य है।

ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष

जैन संस्कृति ने न केवल ज्ञान को महत्व दिया है और न केवल क्रिया को ही। उसका यह स्पष्ट अभिमत है कि ज्ञान के अभाव की केवल क्रिया थोथी है, निष्प्राण है, अंधी है। विचाररहित कोरा आचरण भव-भ्रमण का कारण है, इसी तरह कोरा ज्ञान या विचार लंगड़ा है, गतिहीन है, आध्यात्मिक प्रगति का बाधक है। जब तक ज्ञान और क्रिया, विचार और आचार दोनों पृथक्-पृथक् रहते हैं वहाँ तक अपूर्ण हैं। दोनों का समन्वय होने पर ही वे पूर्ण होते हैं। उच्च विचार के साथ उच्च आचार की भी आवश्यकता है। अनन्त गगन में ऊँची उड़ान भरने के लिए पक्षी को स्वस्थ और अविकल दोनों पाँखें अपेक्षित हैं वैसे ही साधना के अनन्त आकाश में आध्यात्मिक उड़ान भरने के लिए ज्ञान और क्रिया, आचार और विचार की स्वस्थ पाँखें परमावश्यक हैं। यदि एक ही पाँख स्वस्थ है और दूसरी पाँख सड़ चुकी है, या नष्ट हो चुकी है, तो वह पक्षी अनन्त आकाश में उड़ नहीं सकता, वह चाहे कितना भी प्रयास कर ले सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए उसने ज्ञान और क्रिया इन दोनों का समन्वय किया।

जैन संस्कृति ने जितना ज्ञान पर बल दिया है उतना ही चारित्र पर भी दिया है। यही कारण है कि जैन संस्कृति का श्रमण पूर्ण अपरिग्रही होता है। न उसके स्वयं का कोई आवास होता है और न स्त्री आदि ही। स्त्री आदि के स्पर्श आदि का भी स्पष्ट रूप से निषेध है। वह कनक और कांता दोनों का त्यागी होता है।

श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति में दूसरा मुख्य अन्तर यह है कि श्रमण संस्कृति के प्रभाव से ब्राह्मण संस्कृति ने 'संन्यास' को तो स्वीकार किया पर संन्यास को वह उतनी प्रमुखता नहीं दे सका, जितनी गृहस्थाश्रम को दी। गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का मूल है। स्मृतिकारों ने उसे सर्वाधिक महत्व दिया है। उसे ही सब आश्रमों में मुख्य माना। श्राद्ध आदि के लिए सन्तान आवश्यक मानी गई जबकि श्रमण संस्कृति में श्रमण ही प्रमुख रहा। वही पूर्ण आध्यात्मिक उत्कर्ष कर सकता है। श्रमण संस्कृति ने किसी वर्ण विशेष को प्रमुखता नहीं दी। यद्यपि सभी तीर्थंकर क्षत्रिय वर्ण में ही हुए; पर क्षत्रिय वर्ण ही सर्वश्रेष्ठ है यह बात नहीं है। शूद्र भी यदि चारित्रनिष्ठ है तो वह क्षत्रियों के द्वारा पूज्य है, अर्चनीय है। हरिकेशी[1] और मेतार्य[2] इसके ज्वलंत

---

1 उत्तराध्ययन १२वाँ अध्ययन।
2 आवश्यक मलयगिरिवृत्ति पत्र ४७७-४७८।

उदाहरण हैं। जाति-पाँति, भेद-भाव की दीवारों को तोड़ने में श्रमण संस्कृति का प्रमुख हाथ रहा है। 'मनुष्य जाति एक है' एक ऊँचा और एक नीचा मानना मानवता का अपमान है।

ब्राह्मण संस्कृति में ब्राह्मण की प्रमुखता रही है। वह सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उसके सामने अन्य वर्ण हीन माने गये। शूद्रों को तो वेद पढ़ने का अधिकार ही नहीं दिया गया।[1] यहाँ तक कि शूद्र के कान में वेद की ऋचाएँ गिर जातीं तो उनके कर्ण-कुहरों में गर्मागर्म शीशा उड़ेल कर प्राणदण्ड दिया जाता था।[2] उनके साथ दानवतापूर्ण व्यवहार किया जाता। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का उन्हें कोई अधिकार नहीं था। इसी तरह ब्राह्मण संस्कृति ने महिला वर्ग को भी अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा। उनके लिए भी वेदों का अध्ययन निषिद्ध माना गया जबकि जैन संस्कृति ने स्पष्ट उद्घोष किया कि महिलाएँ भी केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर सकती हैं और मुक्ति को वरण कर सकती हैं। इस तरह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' 'विश्वं भवत्येक नीडम्'' का उद्घोष करके भी ब्राह्मण संस्कृति ने जाति-पाँति, ऊँच-नीच की स्थिति समाज में उत्पन्न की। ब्राह्मण वर्ण की ही महत्ता रही, और उसमें भी पुरुष वर्ग की ही।

निवृत्ति और प्रवृत्ति

श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति में मुख्य अन्तर यह भी रहा है कि श्रमण संस्कृति निवृत्तिप्रधान है, उसकी सम्पूर्ण आचार संहिता निवृत्तिपरक है। उसने मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को रोकने पर बल दिया। यहाँ तक कि कोई भी पापकारी कार्य न स्वयं करना, न दूसरों को उस कार्य को करने के लिए उत्प्रेरित करना और न करने वाले का अनुमोदन करना, मन से, वचन से और काया से। इस तरह श्रमण के नव कोटि का प्रत्याख्यान होता है। उसकी प्रवृत्ति केवल संयम साधना, तपः आराधना के लिए ही होती है, शेष कार्य के लिए नहीं। जबकि ब्राह्मण संस्कृति प्रवृत्ति-प्रधान है। यज्ञ, याग, कर्मकाण्ड उसके फलाफल की जो भी चर्चाएँ हैं वे सभी प्रवृत्ति की दृष्टि से ही हैं। श्रमण संस्कृति की जो भी धार्मिक साधनाएँ हैं वे सभी साधनाएँ व्यक्तिपरक हैं जबकि ब्राह्मण धर्म की साधनाएँ समाजपरक रही हैं। समाज को संलक्ष्य में रखकर ही वहाँ साधनाएँ चली हैं। यह सत्य है कि श्रमण संस्कृति ने बाद में चलकर समाज व्यवस्था अपनाई और सामूहिक साधना पर उसने भी बल दिया।

जनभाषा

श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति में यह भी एक मुख्य अन्तर रहा है कि

---

1 न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम्।

2 वेदमुपश्रृण्वतस्तस्य जतुभ्यां श्रोत्रः प्रतिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।
—गौतम धर्मसूत्र पृ० १६५।

श्रमण संकृति ने जनभाषा का उपयोग किया है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य था कि भाषा एक दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित करने का एक सशक्त माध्यम है। उसका उद्देश्य है अपने भीतर के जगत् को दूसरों के भीतरी जगत में उतारना। यही भाषा की उपयोगिता है। भाषा बड़प्पन का मापदण्ड नहीं है। अतः महावीर ने अभिजात्य भाषा या पण्डितों की भाषा न अपना कर उस समय की जनभाषा प्राकृत को अपनाया। वह भाषा मगध के आधे भाग में बोली जाती थी अतः वह अर्धमागधी कहलाती थी।[1] अर्धमागधी उस समय की एक प्रतिष्ठित लोकभाषा थी। प्राकृत का अर्थ है--प्रकृति जनता की भाषा। इसी तरह तथागत बुद्ध ने भी जन बोली पाली को अपनाया था। पर ब्राह्मण संस्कृति ने जन-भाषा की उपेक्षा की, उसने सालंकृत संस्कृत भाषा को अपनाया और उसी भाषा का प्रयोग करने में बड़प्पन का अनुभव किया। उन्होंने प्राकृत और पाली भाषा के विरोध में भी अपना स्वर बुलन्द किया और कहा— ये भाषाएँ मूर्खों की भाषाएँ हैं, और कम पढ़ी-लिखी स्त्रियों की भाषाएँ हैं। प्राचीन नाटकों में शूद्र और महिला पात्रों के मुँह से उन भाषाओं का प्रयोग कराकर ब्राह्मण विज्ञों ने उन भाषाओं के प्रति अपने हृदय का आक्रोश भी व्यक्त किया है। श्रमण संस्कृति में 'देवाणुप्पिया' यह शब्द देवताओं के वल्लभ यानि अत्यन्त आदर का सूचक रहा है जबकि ब्राह्मण संस्कृति में 'देवानां प्रिय' यह शब्द मूर्ख के लिए व्यवहृत हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है एक संस्कृति के अनुयायी दूसरी संस्कृति का विरोध करने में अपना गौरव अनुभव करते रहे हैं।

सृष्टि अनादि है

श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति में एक मुख्य अन्तर यह भी रहा है कि श्रमण संस्कृति ने किसी एक परम तत्व की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है, जो सृष्टि का निर्माण संरक्षण और संहार करती हो। श्रमण संस्कृति का यह दृढ़ मंतव्य है कि यह सृष्टि अनादि है, इसका निर्माता कोई ईश्वर नहीं है। संसार, चक्र की भाँति अनादि काल से चल रहा है। व्यक्ति जिस प्रकार के कर्म करता है उसी प्रकार वह चार गतियों में परिभ्रमण करता है। अशुभ कर्मों की प्रबलता होने पर उसे नरक गति की भयंकर यातनाएँ मिलती हैं, शुभ कर्मों की प्रबलता होने पर स्वर्ग के रंगीन सुख प्राप्त होते हैं और शुद्ध की प्रबलता होने पर मुक्त होता है। संसार चक्र से मुक्त होने के लिए ही साधनाएं हैं। साधना के लिए प्रबल पुरुषार्थ अपेक्षित है। साधक को ही सब कुछ करना है। ब्राह्मण संस्कृति ने एक परम सत्ता को स्वीकार किया है वही

---

1 (क) अद्धमागहाए भासाए भासइ अरिहा धम्मं।

—औपपातिक सूत्र ५६

(ख) मगद्धविसय भासाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारस देसी भासाणिमयं वा अद्धमागहं।

—निशीथचूर्णि

सृष्टि का निर्माण करती है, सृष्टि का संरक्षण और संहार करती है। वह सत्ता, ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के रूप में विश्रुत है। यदि परमात्मा की कृपा हो जाये तो पापी से पापी जीव भी स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है। उसकी प्रसन्नता से ही जीवन में सुख-शान्ति की बंशी बजने लगती है, आनन्द का सरसब्ज बाग लहराने लगता है। यदि भगवान किंचित् मात्र भी अप्रसन्न हो जाते हैं तो नरक की दारुण वेदनाएं मिलती हैं। कष्टों की काली कजराली घटाएं उमड़-घुमड़ कर मंडराने लगती हैं। वह चाहे जिसे तिरा सकता है और चाहे जिसे डुबा सकता है। तिराना और डुबाना उसी परम सत्ता के हाथ में है। उसकी विना इच्छा के पेड़ का एक पत्ता भी हिल नहीं सकता।[1]

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं

श्रमण संस्कृति ने ईश्वर को जगत का कर्ता व संहर्ता नहीं माना है। पाश्चात्य चिन्तक जब तक श्रमण संस्कृति के सम्पर्क में नहीं आये तब तक उनका यह मानना था कि विना ईश्वर के कोई भी धर्म नहीं हो सकता क्योंकि इस्लाम, ईसाई, पारसी आदि भारतीयेतर धर्मों में भी ईश्वर को प्रमुख स्थान दिया गया था, अतः उन्हें अपनी मान्यताओं व परिभाषाओं में परिवर्तन करना पड़ा। जैन धर्म ने सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर के स्थान पर कर्म की संस्थापना की। उसका अभिमत है कि अनादि काल से जो यह संसार चक्र चल रहा है वह कर्म के कारण है। कर्म के कारण ही सुख और दुःख उपलब्ध होता है। जब तक जीव के साथ कर्म है तब तक संसार है। भव-भ्रमण है। कर्म नष्ट होते ही संसार भी नष्ट हो जाता है। कर्म ही संसार की व्यवस्था करता है। जैन धर्म के प्रस्तुत कर्मवाद सिद्धान्त का भारतीय अन्य दर्शनों पर भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने वाले उन दर्शनों ने भी कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होंने यह कहा कि ईश्वर अपनी इच्छा से किसी भी प्राणी को सुख-दुःख प्रदान नहीं करता। वह तो उस प्राणी के कर्म के आधार से ही सुख-दुःख आदि फल प्रदान करता है। जैन संस्कृति ने कर्म की महत्ता को स्वीकार करके भी यह स्पष्ट किया कि आत्मा अपने पुरुषार्थ से कर्म को नष्ट कर सकता है। आत्मा अलग है और कर्म अलग है। कर्म जड़ है और आत्मा चेतन है, यों कर्म अत्यधिक बलवान है किन्तु आत्मा की शक्ति उससे बढ़कर है वह चाहे तो प्रबल प्रयास से कर्म शत्रुओं को नष्ट कर पूर्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र बन सकता है।

जैनाचार की मूलभित्ति : अहिंसा

जैन दृष्टि से जीव की दो स्थितियाँ हैं—एक अशुद्ध है और दूसरी शुद्ध है।

---

1 ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
अन्यो जन्तुरमीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥

—स्याद्वाद्‌मंजरी, पृष्ठ ३०।

संसार अवस्था अशुद्ध अवस्था है और सिद्ध अवस्था पूर्ण शुद्ध अवस्था है। संसार अवस्था में कितने ही जीव बहिर्मुखी हैं जो राग-द्वेष में तल्लीन होकर प्रतिपल-प्रतिक्षण नित-नूतन कर्म बाँधते रहते हैं। उन्हें विषय वासना में राग-द्वेष में आनन्द की अनुभूति होती है पर जब भेद-विज्ञान के द्वारा विवेक दृष्टि प्राप्त होती है तब उसे यह परिज्ञात होता है कि आत्मा और कर्म ये पृथक्-पृथक् हैं। मैं जड़ स्वरूप नहीं चेतन स्वरूप हूँ। मेरा स्वभाव वर्ण, गंध, रस, युक्त नहीं अरूपी है। प्रस्तुत विश्वास ही जैन दर्शन की परिभाषा में सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर साधक विशुद्ध आध्यात्मिक साधना की ओर अग्रसर होता है। वह अहिंसा आदि महाव्रतों को धारण कर जीवन को चमकाता है। ब्राह्मण संस्कृति के मूर्धन्य मनीषीगण अपने सुख और शान्ति के लिए यज्ञ करते थे और उस यज्ञ में बत्तीस लक्षण वाले मानवों की तथा पशुओं की बलि देते थे। भगवान महावीर ने उस घोर हिंसा का विरोध किया। अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या की।

ब्राह्मण परम्परा के तपस्वीगण पंचाग्नि तप तपते थे। नदी, समुद्र, तालाब, कुण्ड व वाटिकाओं में स्नान करने में धर्म मानते थे। भगवान पार्श्व और महावीर ने उसका भी विरोध किया और कहा कि अग्नि और पानी में जीव है[1] अतः उनकी विराधना करने में धर्म कदापि नहीं हो सकता। धर्म हिंसा में नहीं, अहिंसा में है। द्रव्य-शुचि प्रमुख नहीं, भाव-शुचि प्रमुख है। यदि स्नान से ही मुक्ति होती हो तो फिर मछलियाँ जो रात-दिन पानी में ही रहती हैं उनकी मुक्ति हो जायेगी। ब्राह्मण परम्परा के ऋषियों ने कन्द-मूल आदि के आहार पर बल दिया।[2] जैन परम्परा ने उसे भी अहिंसा की दृष्टि से अनुचित माना। उन्होंने कहा कन्द-मूल में अनन्त जीव होते हैं। अनन्तकाय का उपयोग करना साधकों के लिए अनुचित है।

आचारांग सूत्र में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति मे भी जीव है इस बात को स्पष्ट किया है। अहिंसा का जो सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है वह अपूर्व है। जैन आचार का भव्य प्रासाद अहिंसा की इसी मूल भित्ति पर अवस्थित है। जैन संस्कृति ने प्रत्येक क्रिया में अहिंसा को स्थान दिया है। चलना, उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना प्रभृति जीवन सम्बन्धी कोई भी क्रिया क्यों न हो यदि उसमें अहिंसा का आलोक जगमगा रहा है तो वह क्रिया पाप का अनुबन्धन करने वाली नहीं होगी।[3] वाणी और व्यवहार में सर्वत्र अहिंसा की उपयोगिता स्वीकार की गई है। श्रमण के

---

1 (क) आचारांग १।१।
(ख) दशवैकालिक ४ अध्ययन

2 औपपातिक सूत्र ३८, पृ. १७०-१७१

3 जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥

—दशवैकालिक ४।८।

महाव्रत, समिति, गुप्ति, यतिधर्म, द्वादश अनुप्रेक्षाएँ, बाईस परीषह, षडावश्यक, चारित्र और तप आदि की जो भी साधनाएँ हैं उनमें अहिंसा का ही प्रमुख स्थान है। अहिंसा को केन्द्रविन्दु मानकर ही अन्य व्रतों का विकास हुआ।[1]

अहिंसा वाणी का विलास नहीं, जीवन का वास्तविक तथ्य है। वह तर्क का नहीं, व्यवहार का सिद्धान्त है, आचरण का मार्ग है। श्रमणाचार में ही नहीं अपितु गृहस्थ के आचार में भी अहिंसा ही प्रमुख है। उसके द्वादशव्रतों का आधार भी अहिंसा ही है। यह स्मरण रखना होगा कि अहिंसा की नहीं जाती वह फलित होती है। हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। हिंसा का निषेध केवल आचार में ही नहीं विचार में भी किया गया है। विचारगत हिंसा ही एकान्त दर्शन है और अहिंसा अनेकान्त दर्शन है।

आत्मा सम्बन्धी दृष्टिकोण

ब्राह्मण परम्परा के कितने ही दार्शनिकों का यह मन्तव्य था कि आत्मा व्यापक है। सम्पूर्ण विश्व में केवल एक ही आत्मा है तो कितने ही दार्शनिक आत्मा को चांवल के जितना, जौ के दाने के जितना और अंगुष्ठ के जितना मानते रहे[2] तो कितने ही व्यापक मानते रहे[3] पर जैन संस्कृति का यह मन्तव्य है कि आत्मा शरीर परिमाण वाला है। यदि आत्मा को व्यापक माना जायेगा तो पुनर्जन्म आदि नहीं हो सकेगा। चूंकि व्यापक वस्तु में गति संभव नहीं है। यदि जौ, तिल, और तन्दुल जितना ही आत्मा को माना जाय तो शरीर में उतने ही स्थान पर कष्ट का अनुभव होना चाहिए। सम्पूर्ण शरीर में नहीं, पर ऐसा होता नहीं है। सम्पूर्ण शरीर में ही सुख और दुःख की अनुभूति होती है।

जैन संस्कृति का मानना है आत्मा एक गति से दूसरी गति में जाता है। उस गमन में धर्मास्तिकाय सहायक बनता है और अवस्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक होता है। गति सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय कहलाता है और स्थिति सहायक द्रव्य अधर्मास्तिकाय है। इन दोनों द्रव्यों की चर्चा जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन में नहीं आई है। जीव का स्वभाव गमन करने का है। जब जीव कर्ममुक्त होता है उस समय उसकी गति ऊर्ध्व होती है। मिट्टी का लेप हटने से जैसे तुम्बा पानी के ऊपर आता है वैसे ही कर्म का लेप हटते ही जीव ऊर्ध्वगति करता है।

---

1 अहिंसा-गहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवंति।

—दशवैकालिक चूर्णि प्र. अ.

2 (क) छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।३
(ख) कठोपनिषद २।४।१२

3 (क) मुण्डकोपनिषद १।१।६
(ख) छान्दोग्योपनिषद ३।१४।३

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये केवल लोक में ही हैं अतः जीव लोकाग्रभाग पर अवस्थित हो जाता है। अलोक में केवल आकाश ही है, अन्य कोई भी द्रव्य नहीं है। कर्मों की अधिकता के कारण ही जीव इस विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। कर्म आत्मा से पृथक है। संसार में जो विविधता दृष्टिगोचर हो रही है उसका मूल कारण कर्म है। कर्म से ही पुनर्जन्म है। प्रवाह की दृष्टि से कर्म जीव के साथ अनादि-अनन्त काल से है। आयु पूर्ण होने पर गतिनामकर्म के अनुसार जीव चार गतियों में से किसी एक गति में जन्म ग्रहण करता है और एक शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण करता है। आनुपूर्वी नामकर्म के कारण वह जीव उस स्थान पर जाता है। गत्यन्तर के समय तेजस और कार्मण ये दो शरीर उसके साथ रहते हैं। वह जहाँ पर जन्म ग्रहण करता है वहाँ पर यदि वह मनुष्य और तिर्यंच बनता है तो औदारिक शरीर को धारण करता है और यदि नरक व देवगति में जाता है तो वैक्रिय शरीर धारण करता है। कर्मबंध के मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय व योग ये पाँच कारण हैं जिनसे कर्म वर्गणा के पुद्गल खिंचे चले आते हैं। जितने कारण कम होते जायेंगे उतनी ही कर्मबंधन में शिथिलता आयेगी। मुक्त होने के लिए कर्मों के प्रवाह को रोकना होगा और पूर्वोपार्जित कर्मों को नष्ट करने के लिए साधना में प्रबल पुरुषार्थ करना होगा। अन्य दार्शनिकों का यह मन्तव्य है कि जीव और शरीर का सम्बन्ध होने पर भी जीव में किसी भी प्रकार का विकार नहीं आता। जीव तो शाश्वत है। जो कुछ भी विकार दृग्गोचर होता है वह जीव सम्बन्धी अचेतन प्रकृति का है। ज्ञान आदि जितने भी गुण हैं वे जीव के नहीं, प्रकृति के हैं। पुरुष और प्रकृति में भेदज्ञान होने से प्रकृति अलग हो जाती है। वही मोक्ष है अर्थात् संसार और मोक्ष ये जड़ तत्व के हैं और पुरुष में आरोपित हैं, पुरुष तो अपरिणामी नित्य है। चार्वाक दर्शन का मन्तव्य है कि पाँच महाभूतों से जीव की उत्पत्ति होती है और उनके नष्ट हो जाने से मृत्यु होती है। अतः पुनर्जन्म और मोक्ष का कोई प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत दोनों विचारधारा के लिए जैन मनीषियों ने गहराई से चिन्तन किया है और अनेकान्त दृष्टि से उसका समाधान किया है कि द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। कर्मजन्य पर्याय को नष्टकर जीव मुक्त होता है। द्रव्य और पर्याय की मान्यता भी जैन दर्शन की अपनी मान्यता है। द्रव्य और पर्याय को क्रमशः नित्य और अनित्य मान कर उसने संसारावस्था और मुक्तावस्था का समाधान किया है। जैन दर्शन ने आत्मा को शरीर प्रमाण माना है[1] जिससे पुनर्जन्म में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती और शरीरव्यापी होने से शरीर के प्रत्येक कण-कण में उसे सुख व दुःख की अनुभूति होती है।

---

1 स देह परिणामो—द्रव्यसंग्रह।

इस प्रकार दर्शन एवं धर्म की सांस्कृतिक परम्पराओं का पर्यवेक्षण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन मनीषियों ने अहिंसा, अनेकान्त, सर्वभूत समानता (अत्त समे मन्निज्ज छप्पिकाए) ईश्वरकर्तृत्व का अस्वीकार करके भी कर्म सिद्धान्त को जगत् व्यवस्था का नियन्ता तथा नैतिक जीवन का मूलाधार माना है। जीवन में ज्ञान का महत्व स्वीकार किया है, ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है, किन्तु आचार की कतई उपेक्षा नहीं की है। बल्कि दोनों ज्ञान-क्रिया को जीवन-शरीर के दो चरण स्वीकार कर समान महत्व दिया है। अथवा चक्षु और चरण के रूप में दोनों को ही अत्यावश्यक माना है। अतः हम कह सकते हैं, भारतीय चिन्तन की सांस्कृतिक धारा को जैन मनीषियों ने सतत् प्रवहमान और निर्मल निर्दोष रखने का प्रयत्न किया है।

२

कर्मयोगी श्रीकृष्ण के आगामी भव—एक अनुचिंतन

वासुदेव श्रीकृष्ण आगामी चौबीसी में कौन से तीर्थंकर होंगे ? इसके सम्बन्ध में आगम-साहित्य में दो मान्यताएँ हैं। अन्तकृत्दशांग के अनुसार श्रीकृष्ण आगामी चौबीसी में बारहवें 'अमम' नामक तीर्थंकर होंगे।[1] समवायाङ्ग के अनुसार वासुदेव श्रीकृष्ण तेरहवें निष्कषाय नामक तीर्थंकर होंगे।[2] मेरे सामने आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित समावायाङ्ग[3], पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी द्वारा सम्पादित समवायाङ्ग[4], पण्डित श्री दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित ठाणाङ्ग-समवायाङ्ग[5], सुत्तागमे[6], पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी द्वारा सम्पादित समवायाङ्ग[7] आदि सभी समवायाङ्ग की प्रतियों में वासुदेव (का जीव) तेरहवें निष्कषाय नामक तीर्थंकर होंगे, यह स्पष्ट उल्लेख है। सत्यकी का जीव बारहवाँ अमम नामक तीर्थंकर होगा, यह लिखा है पर पूज्य श्री घासीलालजी म० सम्पादित समवायाङ्ग में पाठ ही परिवर्तित कर दिया है। उन्होंने वासुदेव को अमम बारहवें तीर्थंकर होना लिखा है और सत्यकी को तेरहवाँ सर्वभावित् नामक तीर्थंकर होना लिखा है।[8] पूज्य श्री ने सम्भव है अन्तकृत्दशांग के पाठ से मेल बिठाने के लिए ही यह पाठ परिवर्तन किया हो, पर इस प्रकार आगमों के पाठों में परिवर्तन करना अनुचित है, अस्तु !

श्रीकृष्ण के आगामी भवों के सम्बन्ध में भी एकमत नहीं है। वासुदेव कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भगवान श्री अरिष्टनेमि के अठारह हजार श्रमणों को एक साथ

---

1 अन्तकृत्दशांग, ५।१ पृ० २३० (आचार्य श्री आत्माराम जी म० द्वारा सम्पादित)
2 समवायाङ्ग (आगमोदय समिति), पृ० १५३.
3 समवायाङ्ग अभयदेववृत्ति (आगमोदय समिति), पृ० १५३।
4 प्रथम संस्करण, पृ० ३२५।
5 पृ० ७२५, ७२६; प्रकाशक—गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण।
6 सुत्तागमे, प्रथम भाग, पृ० ३८१-३८२।
7 पृ० १५४।
8 समवायाङ्ग, पृ० ११२४, ११२७ (पूज्य श्री घासीलालजी द्वारा सम्पादित)।

विधियुक्त नमस्कार किया ।[1] भावों की विशुद्धि से उनको एक समय क्षायिक-सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई, जिननाम पुण्यबन्ध के दलिक उन्होंने एकत्र किये ।[2]

अन्तकृत्दशांग के अनुसार श्रीकृष्ण के तीन भव होते हैं। एक भव कृष्ण का, दूसरा भव तृतीय पृथ्वी का और तीसरा भव बारहवाँ अमम नामक तीर्थंकर का है ।[3]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में आयु, अवगाहना, गण, गणधर-परिवार, एक दूसरे तीर्थंकर का अन्तर आदि सभी बातें जैसी अन्तिम तीर्थंकर की होती है वैसी ही उत्सर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर की होती हैं। जैसे गत चौबीसी में पार्श्वनाथ का वर्णन था वैसे ही आगामी उत्सर्पिणी में दूसरे तीर्थंकर सूरदेव का वर्णन होगा। अनुक्रम से गत चौबीसी के ऋषभदेव के वर्णन के

---

1 (क) द्वारकाधिपतिः कृष्ण-वासुदेवो महर्द्धिकः ।
भक्त श्रीनेमिनाथस्य सद्धर्मः श्रावकोऽभवत् ॥
अष्टादशसहस्राणि वंदमानोऽन्यदामुनीन् ।
—काललोक प्रकाश, सर्ग ३४, श्लो० ५७-५८ ।

(ख) अन्यदा सर्वसाधूनां द्वादशावर्तवन्दनम् ।
कृष्णो ददौ नृपास्त्वन्ये निर्वीर्यास्त्ववतस्थिरे ॥
—त्रिषष्टि०, ८।१०।२४० ।

2 (क) स वंदनेन गुरुणा सम्यक्त्वं क्षायिकं दधौ ।
सत्यमक्षितियोग्यानि दुःकृतान्यपवर्त्तयन् ॥
चक्रे तृतीयक्ष्माहार्णि तीर्थकृन्नाम् चार्जयत् ।
तथोक्तं-तित्थरयत्तं सम्मत्त खाइयं सत्तमीइ तइयाए
वंदणएणं विहिणा वद्धं च दसारसीहेण !
—काललोकप्रकाश, सर्ग ३४, श्लो० ५८, ६०, पृ० ६३४ ।

(ख) सर्वज्ञोऽप्यवदत् कृष्ण बद्धय भवतार्जितम् ।
पुण्यं क्षायिकसम्यक्त्वं तीर्थकृन्नाम कर्म च ।
उद्धृत्य सप्तमावन्यास्तृतीयनरकोचितम् ॥
—त्रिषष्टि०, ८।१०।२४३-२४४ ।

3 एवं खलु तुमं देवाणुप्पिया ! तच्चाओ पुढवीओ उज्जतियाओ अणंतरं उवट्टित्ता इहेव जम्बूदीवे भारहे वासे आगमेसाए उस्साप्पिणीए पुंडेसु जणवतेसु सयदुवारे बारसमे अममे नामं अरहा भविस्ससि तत्थ तुमं बहूइं वासाइं केवलपरियायं पाउणित्ता सिज्झिहिसि ।
—अन्तकृत्दशांग, ५।१, पृ० २३०.

समान ही आगामी चौवीसी के चौवीसवें तीर्थकर अनन्तविजय का वर्णन होगा।[1] जब इस नियम के प्रकाश में हम भगवान् अरिष्टनेमि से लेकर आगामी चौवीसी के वारहवें अमम नामक तीर्थकर का अन्तर काल मिलाते हैं तो सत्रह सागरोपम के लगभग अन्तर काल होता है। तीन भव मानने पर सात सागर से कुछ अधिक समय होता है क्योंकि तृतीय पृथ्वी में श्रीकृष्ण सात सागर रहते हैं। तीन भव मानने से काल गणना फिट नहीं बैठती है।

अन्तकृत्‌दशांग की तरह वसुदेवहिण्डी, कम्मपयडी-टीका, अममस्वामी-चरित्र, लोकप्रकाश[2] दीपावलीकल्प आदि में श्रीकृष्ण के वारहवें अमम तीर्थकर होने का उल्लेख है किन्तु उन ग्रन्थकारों ने अन्तकृत्‌दशांग की तरह तीन न मानकर पाँच भव माने हैं। उनके अभिमतानुसार श्रीकृष्ण का जीव तृतीय पृथ्वी से निकलकर शतद्वार नगर में जितशत्रु राजा का पुत्र वनेगा। मांडलिक राजा होकर चारित्र को स्वीकार करेगा। वहाँ पर वह तीर्थंकर नामकर्म का अनुवन्ध करेगा, वहाँ से आयु पूर्णकर पाँचवें ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न होगा, जहाँ पर दस सागर की स्थिति भोगकर वहाँ से वह च्युत होकर अमम नाम का तीर्थकर होगा।[3]

पाँच भव मानने से काल गणना भी ठीक वैठती है, क्योंकि तृतीय पृथ्वी की सात सागर और पाँचवें ब्रह्मदेवलोक की दस सागर इस प्रकार सत्रह सागरोपम का कालप्रमाण होता है। आगामी चौवीसी के नौवें तीर्थंकर पोट्टिल का तीर्थकाल पौन पल्योपम न्यून तीन सागर है। दसवें (शतक) तीर्थकर का तीर्थकाल चार सागर है।

---

1 स्थानांग-समवायांग, टिप्पणी, पृ० ७३४।

2 कृष्ण जीवोऽममाख्यः स द्वादशो भविता जिनः सुरासुरनराधीश प्रणतक्रमपंकजः।
—काललोकप्रकाश, ३४।६१, पृ० ६३५।

3 (क) कन्हा तइयाए पुढवीए उवट्टित्ता इहेव भारहे वासे सयदुवारे नयरे जियसत्तुस्स रन्नोपुत्तताए उववज्जिऊण पत्तमण्डलि अभावो पव्वज्जं पडिवज्जिअ तित्थयरनाम-कम्मं समुज्जणित्ता बंभलोए कप्पे दससागरोवमाऊ होऊण तओ चुओ वारसमो अममो नाम अरहा भविस्ससि। —वसुदेवहिण्डी।

(ख) निरयाओ नरभवंमि देवो, होऊण पंचमे कप्पे। —रत्नसंचय।

(ग) क्षीण सप्तकस्य कृष्णस्य पंचमे भवेऽपि मोक्षगमनं श्रूयते उक्तं च—
नरयाओ नरभवंमि, देवो होउण पंचमे कप्पे।
तत्तो चुओ समाणो, वारसमो अममतित्थयरो॥
—कम्मपयडी-टीका।

(घ) गच्छंत्यवश्यं ते ऽधस्ता-त्वं गामी बालुकाप्रभाम्।
श्रुत्वेति कृष्णः सद्योपि नितांतविधुरोऽभवत्॥

[क्रमशः]

ग्यारहवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत सर्वविद् का तीर्थकाल नौ सागर है। अरिष्टनेमि से लेकर अन्य तीर्थंकरों का अन्तरकाल मिलाने पर सत्रह सागरोपम का काल पूर्ण रूप से बैठ जाता है।

अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्षायिक सम्यक्त्वी के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि यह अधिक से अधिक तीन भव करता है।[1] फिर पाँच भव मानने से प्रस्तुत विधान की संगति किस प्रकार बैठ सकती है?[2]

विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने, कर्मग्रन्थ में[3] देवेन्द्रसूरि

[क्रमशः]

भूयोऽभ्युधत्तः सर्वज्ञो मा विषीद जनार्दन,
तत उद्धृत्य मर्त्यस्त्वं भावी वैमानिकस्ततः।
उत्सर्पिण्यां प्रसर्पत्यां शतद्वारपुरेशितः।
जितशत्रोः सुतोऽर्हंस्त्वं द्वादशो नामतोऽममः॥

—काललोकप्रकाश, ३४।६३-६५ पृ० ६३६।

(ङ) जीवस्तु वासुदेवस्य तीर्थकृतद्वादशोऽमम।

— दीपावलीकल्प—जिनसुन्दर, श्लो०, ३३५, पृ० १३।

(च) बारसमो कण्हजीवो अममो।—दीआलिकप्पं—श्री जिनप्रभसूरि, पृ० ६।

1 अणंताणुबंधिकोहमाणमायालोभे खवेइ। नवं च कम्मं न बंधइ।
तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ।
दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ।
विसोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ॥

—उत्तराध्ययन, २६।५।

2 तम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झंति खइय सम्मत्ते।
सुरवरयजुगसुगई इमं तु जिणकालियनराणं॥

—विशेषावश्यकभाष्य, गा० १३१४।

3 अथ क्षीणसप्तको गत्यन्तरं संक्रामन् कतितमे भवे मोक्ष मुपयाति? उच्यते—तृतीये चतुर्थे वा। तथाहि यदि स्वर्गे नरके वा गच्छति तदा स्वर्गभवान्तरितो नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति, यदि चासौ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते तदाऽवश्यमसंख्येयवर्षायुष्केष्वेव न संख्येयवर्षायुष्केषु ततस्तद् भवानन्तरं देवभवं, तस्माच्च देवभवाच्च्युत्वा मनुष्यभवं ततोमोक्षं यातीति। चतुर्थभवे मोक्षगमनं, उक्तं च पंचसंग्रहे—

तइय चउत्थे तम्मि व भवम्मि सिज्झन्ति दंसणे खीणे।
जं देवणिरयसंखाउचरमदेहेसु ते हुंति॥ गा० ७७६.

[क्रमशः]

ने और गुणस्थानक्रमारोह[1] की स्वोपज्ञवृत्ति में रत्नशेखरसूरि ने लिखा है कि यदि पूर्वबंध नहीं हुआ है तो क्षायिक सम्यक्त्वी को उसी भव में मोक्ष होता है, यदि आयुष्य का पूर्वबंध हो चुका है तो तृतीय भव में मोक्ष होता है। प्रायोग्यबद्ध असंख्यात वर्ष के आयुष्यवाले की चतुर्थभव में मुक्ति होती है अर्थात् कोई जीव यौगलिक में उत्पन्न हुआ है तो वह वहाँ से आयु पूर्णकर देवलोक में ही जाता है इसलिए चार भव बतलाए हैं। क्योंकि कहा भी है—मिथ्यात्व आदि सातों प्रकृतियों के क्षीण होने पर जो पूर्वबद्ध आयुष्यवाला है उसका तीन या चार भव में मोक्ष होता है।

उत्तराध्ययन आदि आगमसाहित्य में क्षायिक सम्यक्त्वी के उत्कृष्ट तीन भव बताये हैं। विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थों के अनुसार चार भव भी हो सकते हैं। वसुदेवहिण्डी, कर्मप्रकृति और कर्मग्रन्थ आदि के अनुसार कृष्ण के पाँच भव हैं और उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व था। श्रीकृष्ण को क्षायिक सम्यक्त्व था ऐसा स्पष्ट उल्लेख आगम साहित्य में कहीं पर भी मेरे देखने में नहीं आया है किन्तु कर्म-ग्रन्थ, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र आदि में क्षायिक सम्यक्त्व का स्पष्ट उल्लेख है।

कितने ही लेखकों ने कृष्ण को क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी माना है और उनके भवों के प्रश्न का सामाधान करने का प्रयास किया है, पर इसके लिए उन्होंने किसी

[क्रमशः]

अथ तृतीयभवे मोक्षगमनेऽसंख्येयवर्षायुष्केपूत्पत्तिस्तद्भवमोक्षगमनं च चरमदेहत्वमिति क्रमेण योजनीयम्। इदं च प्रायोवृत्त्योक्तमिति संभाव्यते यतः क्षीणसप्तकस्य कृष्णस्य पंचमे भवेऽपि मोक्षगमनं श्रूयते। उक्तं च—

नरयाउ नरभवम्मि देवो होऊण पंचमे कप्पे।
तत्तो चुओ समाणो बारसमो अममतित्थयरो॥

इत्थमेव दुःप्रसहादीनामपि क्षायिकसम्यक्त्वमागमोक्तं युज्यत इति यथागमं विभावनीयं।

—कर्मग्रन्थ, ५-६, पृ० ३५६, कर्मप्रकृति, उपशमनामप्रकरणम् पृ० २६।

1 यथाऽपूर्वकरणेनैव कृतत्रिपुञ्जस्य जीवस्य चतुर्थगुणस्थानादारभ्य क्षपकत्वे प्रारब्धेऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वरूपपुञ्जत्रयस्य च क्षये क्षायिकं सम्यक्त्वं भवति, ततोऽसौ क्षायिकी दृष्टिस्तु पुनरबद्धायुष्कस्य तु जीवस्य तृतीये भवे असंख्यात जीविनां प्रायोग्यबद्धायुष्कस्य चतुर्थे भवे मुक्तये स्यात् तथा चाह—

मिच्छाइखए खइओ, सो सत्ताणि खीणि ठाइ बद्धाऊ।
चउति भव भाविमुक्खो, तब्भवसिद्धि अ इअरो अ॥

गुणस्थान क्रमारोह, २२ वृत्ति, पृ० १६.

भी प्राचीन ग्रन्थ के प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये हैं अतः उनकी बात केवल कल्पना पर ही आधृत है। आज के युग में ऐसी बातें प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती हैं।[1]

अब रहा प्रश्न समवायांग का। समवायांग के अनुसार श्रीकृष्ण तेरहवें निष्कषाय नामक तीर्थंकर होंगे। इस बात को मानने पर भगवान् अरिष्टनेमि से लेकर निष्कषाय नामक तीर्थंकर का अन्तरकाल ४७ सागर का है और बारहवें अमम नामक तीर्थंकर का तीर्थकाल ३० सागर का है, इस प्रकार ४७ सागर का अन्तर होता है, इसके अनुसार श्रीकृष्ण के पाँच भव से भी अधिक भव मानने होंगे।

कुछ आगमप्रेमी चिन्तकों का यह कथन है कि अन्तकृत्दशांग में बारहवें अमम नामक तीर्थंकर का उल्लेख है, वह पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा से है। जैसे १-२-३-४ इस प्रकार परिगणना करने से अमम बारहवें तीर्थंकर होते हैं और समवायाङ्ग में जो वर्णन है वह पश्चानुपूर्वी की दृष्टि से है जैसे २४, २३, २२; २१ इस प्रकार परिगणना करने से अमम तेरहवें तीर्थंकर होंगे। यह गणना के प्रकार का ही अन्तर है किन्तु दोनों शास्त्रों के कथन में विरोध नहीं है। परिगणना तो पश्चानुपूर्वी की दृष्टि से ही करनी चाहिए और अन्तर पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा से है।

उपर्युक्त कथन जो समन्वय की दृष्टि से कहा जाता है वह भी ठीक नहीं बैठता है क्योंकि समवायांग में वासुदेव श्रीकृष्ण का जीव जो तीर्थंकर होगा उसका नाम अमम न होकर तेरहवां तीर्थंकर निष्कषाय दिया है, जो पूर्वानुपूर्वी की दृष्टि से तेरहवें आते हैं और पश्चानुपूर्वी की दृष्टि से बारहवें आते हैं।

"भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन" ग्रन्थ के परिशिष्ट विभाग में मेरा विचार प्रस्तुत प्रश्न पर विचारचर्चा करने का था, पर मैं किसी निश्चित निर्णय पर न पहुँच सका एतदर्थ मैंने इस प्रश्न को छूआ नहीं। मेरी उक्त चर्चा का सार यही है कि गीतार्थ इस प्रश्न को सुलझाने के लिए प्रमाण पुरस्सर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करें।

३

पट्टावली-पर्यवेक्षण

हमारा सुनहरा अतीत कितना उज्ज्वल है ! उस गम्भीर रहस्य को जानने की जिज्ञासा मानव-मन में सदा ही अठखेलियाँ करती रही है। इसी जिज्ञासा से उत्प्रेरित होकर मानव ने उसे द्योतित करने के लिए समय-समय पर प्रयास किया है। उसी लड़ी की कड़ी में प्रस्तुत ग्रन्थ भी है। इस ग्रन्थ में विभिन्न भण्डारों की तह में दबी हुई, इधर-उधर बिखरी हुई अस्त-व्यस्त पट्टावलियों को समुचित रूप से संकलित व सम्पादित कर प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष रखा गया है। वे पट्टावलियाँ अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हैं, अतीत की सुमधुर स्मृतियों को वर्तमान में साकार करती हैं, पूर्वजों की गौरव-गाथाओं को प्रकट करती हैं और यथार्थ का चित्रण कर भावी गति-प्रगति की हिमगिरियों की गगनचुम्बी शिखरावलियों को छूने की प्रबल प्रेरणा देती है।

जैन साहित्य में पट्टावली-लेखन का युग चतुर्दश पूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु स्वामी[1] से प्रारम्भ होता है। उन्होंने दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्याय—कल्पसूत्र में स्थविरावली का अंकन कर[2] गौरवमयी परम्परा का श्रीगणेश किया। उसके पश्चात्

---

1 (क) वंदामि भद्दबाहुं,
पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं
दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

—दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, गा० १।

(ख) पंचकल्प महाभाष्य, गाथा १ से ११ तक।

(ग) तेण भगवता आधारपकप्प-दस्त-कप्प-ववहाराय नवमपुव्वनी संदभूता निज्जूढा।

—पंचकल्प चूर्णी पत्र १ लिखित।

2 लेखक ने अहमदाबाद के लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर

[क्रमशः]

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने अनुयोगधरों की पट्टावली (स्थविरावली) अंकित की।[1] स्पष्ट है आगम साहित्य में इन्हीं आगमों में स्थविरावलियाँ आई हैं। कल्पसूत्र में स्थविरावली पट्टानुक्रम से है तो नन्दीसूत्र में अनुयोगधरों की दृष्टि से है। पट्टानुक्रम (गुरु-शिष्य क्रम) से देवर्द्धिगणी का क्रम चौंतीसवाँ और युगप्रधान (अनुयोगधर) के रूप में सत्ताइसवाँ है।[2]

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कल्पसूत्र की स्थविरावली भी एक समय में और एक साथ नहीं लिखी गई है अपितु उसका संकलन भी आगम वाचना की तरह तीन बार हुआ है। प्रथम आर्य यशोभद्र तक स्थविरों की एक परम्परा निरूपित है जो पाटलीपुत्र की प्रथम वाचना के पूर्व की है। इस वाचना में पूर्ववर्ती स्थविरों की नामावली सूत्र के साथ संकलित की गई है। उसके पश्चात् उसमें दो धाराएँ प्रकट हुई हैं। एक संक्षिप्त और दूसरी विस्तृत, जिनकी क्रमशः परिसमाप्ति आर्य तापस और आर्य फग्गुमित्र (फलगुमित्र) तक होती है, वे द्वितीय वाचना के समय संलग्न की गई हैं और उसके पश्चात् की स्थविरावली देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने अन्तिम वाचना में गुम्फित की है। संक्षिप्त स्थविरावली में मुख्यतः प्रमुख स्थविरों का निर्देश है तो विस्तृत स्थविरावली में मुख्य स्थविरों के अतिरिक्त उनके गुरु-भ्राता और उनसे विस्तृत गण-कुल प्रभृति शाखाओं का भी उल्लेख है।[3] जहाँ संक्षिप्त स्थविरावली में आर्य वज्र के चार शिष्य निरूपित किये गये हैं।[4] वहाँ विस्तृत स्थविरावली में तीन शिष्य बताये हैं। उनके नामों में भी अन्तर है, प्रथम में आर्य नागिल,

---

[क्रमशः]
में दशाश्रुतस्कंध की प्राचीन एक हस्तलिखित प्रति देखी है जिसमें आठवें अध्ययन में संपूर्ण कल्पसूत्र है। इस प्रति का उल्लेख श्री पुण्यविजयजी ने कल्पसूत्र की भूमिका में किया है।

1 जे अन्ते भगवन्ते,
कालिअ सुय आणुओगिए धीरे।
ते पणमिऊण सिरसा,
नाणस्स परूवणं वोच्छं॥

—नन्दी स्थविरावली, गा० ४३

2 देखिए—पट्टावली पराग संग्रह, कल्याणविजय गणी, पृ० ५३।

3 देखिए—लेखक द्वारा सम्पादित कल्पसूत्र-स्थविरावली-वर्णन।

4 थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयम गोत्तस्स अंतेवासी चत्तारि थेरा—थेरे अज्जनाइले, थेरे अज्जपोमिले, थेरे अज्जजयंत, थेरे अज्जतावसे।

—कल्पसूत्र, सू० २०६।

आर्य पढिमल, आर्य जयन्त और आर्य तापस हैं तो द्वितीय में आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ ।[1]

इस अन्तर का मूल कारण यह है कि श्रमण भगवान् महावीर के पश्चात् अनेक बार भारत भूमि में दुष्काल पड़े, जिसमें उत्तर भारत में जो श्रमण संघ विचरण कर रहा था उसे विवश होकर समुद्र तटवर्ती प्रदेश की ओर बढ़ना पड़ा, पर जो वृद्ध थे तथा शारीरिक दृष्टि से चलने में असमर्थ थे वहीं पर विचरते रहे, जिससे श्रमण संघ दो भागों में विभक्त हुआ। प्रथम दुष्काल की परिसमाप्ति पर वे सभी पुनः सम्मिलित हुए किन्तु सम्प्रति मौर्य के समय और आर्य वज्र के समय दुर्भिक्ष के कारण जो श्रमण संघ दक्षिण, मध्य भारत व पश्चिम भारत में आया था वह दीर्घकाल तक उत्तर भारत में विचरने वाले श्रमण संघ से न मिल सका, जिसके फलस्वरूप उत्तर में विचरण करने वालों का पृथक् संघ स्थविर हुआ और दक्षिण तथा पश्चिम प्रान्त में विचरण करने वालों का दूसरा स्थविर हुआ। इस कारण स्थविरावली में नामों में पृथकता आई है। दाक्षिणात्य श्रमण संघ १७० वर्ष तक अपनी स्वतन्त्र शासन पद्धति चलाता रहा, उसके पश्चात् विक्रम की द्वितीय शताब्दी के मध्य में पुनः वह उत्तरीय श्रमण संघ में सम्मिलित हो गया।

यह पहले लिखा जा चुका है कि आगमों की तीन वाचनाएँ हुई।

प्रथम वाचना आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में हुई थी और इस वाचना में उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में विचरण करने वाले श्रमण ही एकत्र हुए थे। यह वाचना माथुरी वाचना के रूप से विश्रुत हुई।

दूसरी वाचना आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में दाक्षिणात्य प्रदेश में विचरण करने वाले श्रमणों की वल्लभी में हुई थी। पर दोनों वाचना में एक दूसरे से, एक दूसरे नहीं मिले।

तीसरी वाचना में दोनों ही वाचना के प्रतिनिधि उपस्थित हुए। माथुरी वाचना के प्रतिनिधि देवर्द्धिगणी थे और वालभी वाचना के प्रतिनिधि कालकाचार्य थे। जिन पाठों के सम्बन्ध में दोनों शंका रहित थे वे पाठ एकमत से स्वीकार कर लिये गये और जिनमें मतभेद था, उन्हें उस रूप में स्वीकार कर लिया गया।

माथुरी वाचना के अनुसार स्थविर-क्रम इस प्रकार है :

१. सुधर्मा	२. जम्बू
३. प्रभव	४. शय्यम्भव

---

1 थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोतम सगोत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तंजहा—थेरे अज्जवइरसेणे, थेरे अज्ज पउमे, थेरे अज्जरहे।
—कल्प० स्थविरावली सू० २२१।

५. यशोभद्र — ६. सम्भूतविजय
७. भद्रबाहु — ८. स्थूलभद्र
९. महागिरि — १०. सुहस्ती
११. बलिस्सह — १२. स्वाति
१३. श्यामार्य — १४. शाण्डिल्य
१५. समुद्र — १६. मंगू
१७. नन्दिल — १८. नागहस्ती
१९. रेवति नक्षत्र — २०. ब्रह्मद्वीपिकसिंह
२१. स्कन्दिलाचार्य — २२. हिमवन्त
२३. नागार्जुन वाचक — २४. भूतदिन्न
२५. लोहित्य — २६. दुष्यगणी
२७. देवर्द्धिगणी

वालभी वाचना के अनुसार स्थविर-क्रम इस प्रकार है :

१. सुधर्मा — २. जम्बू
३. प्रभव — ४. शय्यंभव
५. यशोभद्र — ६. सम्भूतविजय
७. भद्रबाहु — ८. स्थूलभद्र
९. महागिरि — १०. सुहस्ती
११. कालकाचार्य — १२. रेवतीमित्र
१३. आर्य समुद्र — १४. आर्य मंगू
१५. आर्य धर्म — १६. भद्रगुप्त
१७. श्रीगुप्त — १८. आर्य वज्र
१९. आर्यरक्षित — २०. पुष्पमित्र
२१. वज्रसेन — २२. नागहस्ती
२३. रेवतिमित्र — २४. ब्रह्मदीपिकसिंह सूरि
२५. नागार्जुन — २६. भूलदिन्न
२७. कालकाचार्य

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की गुरु परम्परा

१. सुधर्मा — २. जम्बू
३. प्रभव — ४. शय्यंभव
५. यशोभद्र — ६. संभूतविजय-भद्रबाहु
७. स्थूलभद्र — ८. महागिरि-सुहस्ती
९. सुस्थित सुप्रतिबुद्ध — १०. आर्य इन्द्रदिन्न
११. आर्य दिन्न — १२. आर्य सिंहगिरि

१३. आर्य वज्र	१४. आर्य रथ
१५. आर्य पुष्पगिरि	१६. आर्य फल्गुमित्र
१७. आर्य धनगिरि	१८. आर्य शिवभूति
१९. आर्य भद्र	२०. आर्य नक्षत्र
२१. आर्य रक्ष	२२. आर्य नाग
२३. जेष्ठिल	२४. आर्य विष्णु
२५. आर्य कालक	२६. संपलित तथा आर्य भद्र
२७. आर्य वृद्ध	२८. आर्य संघपालित
२९. आर्य हस्ती	३०. आर्य धर्म
३१. आर्य सिंह	३२. आर्य धर्म
३३. आर्य शांडिल्य	३४. देवर्द्धिगणी

तात्पर्य यह है कि स्थविरावलियों में पृथकता रही है इसलिए प्रबुद्ध पाठक "पट्टावली प्रबन्ध संग्रह" का पारायण करते समय एक ही विषय में और एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न पट्टावलियों में विभिन्न मत देख कर भ्रमित न हों किन्तु समन्वय की दृष्टि से, तटस्थ बुद्धि से सत्य-तथ्य को समझने का प्रयास करें।

यह पूर्ण सत्य है कि श्रमण भगवान महावीर से देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक एक विशुद्ध परम्परा रही है। उसके पश्चात् चैत्यवासियों का प्रभुत्व जैन परम्परा पर छा जाने से परम्परा का गौरव अक्षुण्ण न रह सका। आचार्य अभयदेव ने उस स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया है [1]—

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा को मैं भाव परम्परा मानता हूँ। इसके पश्चात् शिथिलाचारियों ने अनेक द्रव्य परम्पराओं का प्रवर्तन किया और वे द्रव्य परम्पराएँ द्रौपदी के दुकूल की तरह निरन्तर बढ़ती रहीं। धर्म के मौलिक तत्वों के नाम पर विकार, असंगतियाँ और साम्प्रदायिक कलहमूलक धारणाएँ पनपती रहीं।

सोलहवीं शती वैचारिक क्रान्तिकारियों का स्वर्ण युग है। इस काल में भारत की प्रत्येक परम्परा में अनेक क्रांतिकारी नर-रत्न पैदा हुए जिन्होंने क्रांति की शंख-ध्वनि से जन-जीवन को नवजागरण का दिव्य संदेश दिया। कबीर, धर्मदास, नानक, संत रविदास, तरणतारण स्वामी और वीर लोंकाशाह ऐसे ही क्रांतिकारी थे। यह

---

1 देवड्ढि खमासमणजा
परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया,
दव्वेण परंपरा बहुहा॥
—आगम अट्ठुत्तरी, गा. १४

स्वाभाविक था कि अप्रत्याशित और आकस्मिक क्रांतिकारी विचारों से स्थितिपालक समाज में हलचल पैदा हुई और परिणामस्वरूप प्रतिक्रियावादी भावनाएँ उभरीं, किन्तु वे उसे समाप्त नहीं कर सकीं पर पूरी शक्ति के साथ पाशविकता से लड़ती रहीं। उसका आदर्श व्यक्ति न होकर गुण था, समष्टि न होकर सम्यग्दृष्टि थी। समीचीन तत्वों पर आधृत होने के कारण वह एक सुदृढ़ और सौन्दर्य सम्पन्न परम्परा निर्मित कर सकी जिस पर शताब्दियों से मानवता गर्व कर रही है।

श्री लोंकाशाह तथा स्थानकवासी समाज के महापुरुष क्रियोद्धारक (१) श्री जीवराज जी महाराज, (२) श्री लवजी ऋषि जी म० (३) श्री धर्मसिंह जी महाराज (४) श्री धर्मदास जी म० और (५) श्री हरजी ऋषि जी म० किन-किन परिस्थितियों में उठे, उभरे, उन्होंने मानव-चेतना के किन निगूढ़ गह्वरों में क्रांति के स्वरों को मुखरित किया? उनका कहाँ और कब, कितना और कैसा प्रभाव पड़ा? क्या-क्या कार्य हुआ? आदि की संक्षिप्त जानकारी संकलित पट्टावलियों की पंक्तियों में समुपलब्ध होगी। पाठक उन्हीं के शब्दों में रसास्वादन करें।

पट्टावलियों के अब तक अनेक संग्रह विविध स्थलों से प्रकाशित हुए हैं उनमें से कितने ही संग्रह अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। किन्तु उन संग्रहों में लोंकागच्छ की और स्थानकवासी परम्परा की विश्वस्त पट्टावलियाँ सामान्यत: नहीं दी गई हैं। यदि कहीं पर दी भी गई हैं तो इतने विकृत रूप से दी गई हैं कि उनके असली रूप का पता लगाना ही कठिन है। इतिहासकार को इतिहास लिखते समय तटस्थ दृष्टि रखनी चाहिए। जो इतिहासकार इस नियम का उल्लंघन करता है उसका इतिहास सत्य से परे हो जाता है। अभी कुछ समय पहले ऐसा एक ग्रन्थ "पट्टावली पराग संग्रह" नाम से देखने में आया। इसके सम्पादक मुनिश्री कल्याणविजय जी अच्छे विद्वान और इतिहासवेत्ता हैं। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि "पट्टावली पराग संग्रह" (पट्टावलियों का पराग) में पट्टावली पराग के वदले निम्नस्तरीय आलोचना हैं। स्था० सम्प्रदाय के दो-तीन मुनियों के लिए तो नाम निर्देशपूर्वक आक्षेप किये हैं जो इतिहास-लेखन में अवांछनीय है। इतिहास-लेखक इस प्रकार व्यक्तिगत आक्षेप से बच-कर तुलनात्मक समीक्षा तो कर सकता है, ऐसी आलोचना नहीं।

मुझे परम आह्लाद है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के संकलयिता व सम्पादक ने इतिहास-कार के मूल भाव की रक्षा की है। उन्होंने जो पट्टावलियाँ जहाँ से जिस रूप में उपलब्ध हुईं, उन्हें उसी रूप में प्रकाशित की हैं, कहीं पर भी किसी सम्प्रदाय विशेष को श्रेष्ठ या कनिष्ठ वताने का प्रयास नहीं किया है।

इस प्रकार के पट्टावलियों के संग्रह की चिरकाल से प्रतीक्षा की जा रही थी, वह इस ग्रन्थ के द्वारा पूरी हो रही है। यों इसमें भी अभी तक सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज की पट्टावलियाँ नहीं आ पाई हैं। ज्ञात से भी अज्ञात अधिक है। मुझे आशा

ही नहीं, अपितु दृढ़ विश्वास है कि जैन इतिहास निर्माण समिति का सतत प्रयास इस दिशा में चालू रहेगा और जहाँ से भी पट्टावलियाँ तथा प्रशस्तियाँ उपलब्ध होंगी, उनका प्रकाशन होता रहेगा।

मैं ग्रन्थ का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ कि उन्होंने माँ भारती के भव्य भण्डार में ऐसी अनमोल कृति समर्पित की है। जैन इतिहास निर्माण समिति पण्डित प्रवर श्रद्धेय मुनिश्री हस्तीमल जी म० सा० से दिशा-निर्देश प्राप्त कर ऐसी और भी महत्वपूर्ण अन्वेषण प्रधान कृतियाँ समर्पित करेंगी, ऐसी आशा है।

(पट्टावली प्रबन्ध संग्रह—प्रस्तावना)

४

जैन शा -प्रभाविका अमर साध्विकाएँ

भगवान महावीर ने केवलज्ञान होने के पश्चात् चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की। साधुओं में गणधर गौतम प्रमुख थे तो साध्वियों में चन्दनबाला मुख्य थीं। किन्तु उनके पश्चात् कौन प्रमुख साध्वियाँ हुई, इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है। यों आर्या चन्दनबाला के पश्चात् आर्या सुव्रता, आर्या धर्मी, आर्य जम्बू की पद्मावती, कमलभाल, विजयश्री, जयश्री, कमलावती, सुसेणा, वीरमती, अजयसेना इन आठ सासुओं के प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख है और जम्बू की समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, रूपश्री, जयश्री, इन आठ पत्नियों के भी आर्हती दीक्षा लेने का वर्णन है। वीर निर्वाण सं० २० में अवन्ती के राजा पालक ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अवन्तीवर्धन को राज्य तथा लघु पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद पर आसीन कर स्वयं ने आर्य सुधर्मा के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। राष्ट्रवर्धन की पत्नी का नाम धारिणी था। धारिणी के दिव्य रूप पर अवन्तीवर्धन मुग्ध हो गया। अतः धारिणी अर्धरात्रि में ही पुत्र और पति को छोड़कर अपने शील की रक्षा हेतु महल का परित्याग कर चल दी और कौशांबी की यानशाला में ठहरी हुई साध्वियों के पास पहुँची। उसे संसार से विरक्ति हो चुकी थी। वह सगर्भा थी। किन्तु उसने यह रहस्य साध्वियों को न बताकर साध्वी बनी। कुछ समय के पश्चात् गर्भसूचक स्पष्ट चिन्हों को देखकर साध्वी प्रमुखा ने पूछा तब उसने सही स्थिति बतायी। गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र को जन्म दिया और रात्रि के गहन अंधकार में नवजात शिशु को उसके पिता के आभूषणों के साथ कोशांबी नरेश के राजप्रासाद में रख दिया। राजा ने उस शिशु को ले लिया और उसका नाम मणिप्रभ रखा, और पुनः धारिणी प्रायश्चित्त ले आत्मशुद्धि के पथ पर बढ़ गयी। अवन्तीवर्धन को भी जब धारिणी न मिली तो अपने भाई की हत्या से उसे भी विरक्ति हुई। और धारिणी के पुत्र अवन्तीसेन को राज्य दे उसने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। जब मणिप्रभ और अवन्तीसेन ये दोनों भाई युद्ध के मैदान में पहुँचे तब साध्वी धारिणी ने दोनों भाइयों को सत्य-तथ्य बताकर युद्ध का निवारण किया।

वीरनिर्वाण की दूसरी-तीसरी सदी में महामन्त्री शकडाल की पुत्रियाँ और

आर्य स्थूलभद्र की बहनें यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा इन सातों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। वे अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न थीं। क्रमशः एक बार, दो बार यावत् सात बार सुनकर वे कठिन से कठिन विषयों को भी याद कर लेती थीं। उन्होंने अन्तिम नन्द की राजसभा में अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति के चमत्कार से वररुचि जैसे मूर्धन्य विज्ञ के अहं को नष्ट किया था। सातों बहिनों के तथा भाई स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने के पश्चात् उनके लघु भ्राता श्रीयक ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की जो अत्यन्त सुकोमल प्रकृति के थे। भूख और प्यास को सहन करने में अक्षम थे। साध्वी यक्षा की प्रबल प्रेरणा से श्रीयक ने उपवास किया और उसका रात्रि में प्राणान्त हो गया जिससे यक्षा ने मुनि की मृत्यु का कारण अपने आपको माना। दुःख, पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से अपने आपको दुःखी अनुभव करने लगी। कई दिनों तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। संघ के अत्यधिक आग्रह पर उसने कहा कि केवलज्ञानी मुझे कह दें कि मैं निर्दोष हूँ तो अन्न-जल ग्रहण करूँगी, अन्यथा नहीं। संघ ने शासनाधिष्ठात्री देवी की आराधना की। देवी की सहायता से आर्या यक्षा महाविदेह क्षेत्र में भगवान श्री सीमान्धरस्वामी की सेवा में पहुँची। भगवान ने उसे निर्दोष बताया और चार अध्ययन प्रदान किये। देवी की सहायता से वह पुनः लौट आयीं। उन्होंने चारों अध्ययन संघ के समक्ष प्रस्तुत किये जो आज चूलिकाओं के रूप में विद्यमान हैं। इन सभी साध्वियों का साध्वी संघ में विशिष्ट स्थान था पर ये प्रवर्तिनी आदि पद पर रहीं या नहीं इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

इनके पश्चात् कौन साध्वियाँ उनके पट्ट पर आसीन हुईं यह जानकारी प्राप्त नहीं होती है। वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह के समय हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार विदुषी आर्या पोइणी तथा अन्य तीनसौ साध्वियाँ विद्यमान थीं। कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल द्वारा वीर निर्वाण चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण में कुमारगिरि पर आगम परिषद हुई थी, जिसमें वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह और गणाचार्य सुस्थित सुप्रतिबद्ध की परम्पराओं के पाँच सौ श्रमण उपस्थित हुए थे। वहाँ आर्या पोइणी भी तीनसौ श्रमणियों के साथ उपस्थित हुई थीं। इससे स्पष्ट है कि आर्या पोइणी महान प्रतिभाशाली और आगम रहस्य को जानने वाली थीं। उनके कुल, वय, दीक्षा, शिक्षा, साधना सम्बन्धी अन्य परिचय प्राप्त नहीं है। हिमवन्त स्थविरावली से स्पष्ट है कि पोइणी का चतुर्विध संघ में गौरवपूर्ण स्थान था।

वीरनिर्वाण की पाँचवीं शती में द्वितीय कालकाचार्य की भगिनी सरस्वती थी। उनके पिता का नाम वैरसिंह और माता का नाम सुरसुन्दरी था। राजकुमार कालक का अपनी बहन सरस्वती पर अपार स्नेह था। गुणाकर मुनि के उपदेश से दोनों ने जैन दीक्षा ग्रहण की। एक बार आर्य कालक के दर्शन हेतु साध्वी सरस्वती उज्जयिनी पहुँची। राजा गर्दभिल्ल ने उसके अनुपम लावण्य को देखा तो वह उस पर मुग्ध हो गया। उसने अपने राजपुरुषों द्वारा साध्वी सरस्वती का अपहरण

करवाया। आर्य कलक को गर्दभिल्ल के घोर अनाचार का पता लगा। राजा को समझाने का प्रयास किया, किन्तु राजा न समझा। अतः आर्य कालक ने शकों की सहायता प्राप्त की एवं अपने भानजे भड़ौंच के राजा भानुमित्र को लेकर युद्ध किया, साध्वी सरस्वती को मुक्त करवाया और पुनः अपनी बहन सरस्वती को दीक्षा प्रदान की। साध्वी सरस्वती अनेक कष्टों का सामना करके भी अपने पथ से च्युत नहीं हुई।

वीरनिर्वाण की पाँचवीं शती में आर्य वज्र की माता सुनन्दा ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। उन्होंने किस श्रमणी के पास श्रमणधर्म स्वीकार किया इसके नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। यह सत्य है कि उस युग में साध्वियों का विराट समुदाय होगा, क्योंकि बालक वज्र ने साध्वियों से ही सुनकर एकादश अंगों का अध्ययन किया था।

वीरनिर्वाण की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में साध्वी रुक्मिणी का वर्णन मिलता है। वह पाटलीपुत्र के कोट्याधीश श्रेष्ठी धन की एकलौती पुत्री थी। आर्य वज्र के अनुपम रूप को निहार कर मुग्ध हो गयी। उसने अपने हृदय की बात पिता से कही। वह एक अरब मुद्राएँ तथा दिव्य वस्त्राभूषणों को लेकर वज्रस्वामी के पास पहुँचा। किन्तु रुक्मिणी ने वज्रस्वामी के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की। और रुक्मिणी तथा वज्रस्वामी के अपूर्व त्याग को देखकर सभी का सिर श्रद्धा से नत हो गया।

वीरनिर्वाण की पाँचवीं-छठी शती में एक विदेशी महिला के द्वारा आर्हती दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। विशेषावश्यकभाष्य तथा निशीथचूर्णि में वर्णन है कि मुरुण्डराज की विधवा बहिन प्रव्रज्या लेना चाहती थी। मुरुण्डराज ने साध्वियों की परीक्षा लेने हेतु एक आयोजन किया कि कौन साध्वी कैसी है। एक भीमकाय हाथी पर महावत बैठ गया और चौराहे पर वह खड़ा हो गया। जब कोई भी साध्वी उधर से निकलती तब महावत हाथी को साध्वी की ओर बढ़ाते हुए साध्वी को चेतावनी देता कि सभी वस्त्रों का परित्याग कर निर्वसना हो जाय, नहीं तो यह हाथी तुम्हें अपने पाँवों से कुचल डालेगा। अनेक साध्वियाँ, परिव्राजिकाएँ, भिक्षुणियाँ उधर निकलीं। भयभीत होकर उन्होंने वस्त्र का परित्याग किया। अन्त में एक जैन श्रमणी उधर आयी। हाथी ज्यों ही उसकी ओर बढ़ने लगा त्यों ही उसने क्रमशः अपने धर्मोपकरण उधर फेंक दिये, उसके पश्चात् साध्वी हाथी के इधर-उधर घूमने लगी। किन्तु उसने अपना वस्त्र-त्याग नहीं किया। जब जनसमूह ने यह दृश्य देखा तो उनका आक्रोश उभर आया। मुरुण्डराज ने भी संकेत कर हाथी को हस्तीशाला में भिजवाया और उसी साध्वी के पास अपनी बहिन को प्रव्रजित कराया। साहस, सहनशीलता, शान्ति और साधना की प्रतिमूर्ति उस साध्वी का तथा मुरुण्ड राजकुमारी इन दोनों का नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है।

वीरनिर्वाण की छठी शती में आर्यरक्षित की माता साध्वी रुद्रसोमा का नाम

भी भुलाया नहीं जा सकता जिसने अपने प्यारे पुत्र को जो गम्भीर अध्ययन कर लौटा था, उसे पूर्वों का अध्ययन करने हेतु आचार्य तोसलीपुत्र के पास प्रेषित किया और सार्द्ध नौ पूर्व का आर्यरक्षित ने अध्ययन किया। रुद्रसोमा की प्रेरणा से ही राज पुरोहित सोमदेव तथा उसके परिवार के अनेकों व्यक्तियों ने आर्हती दीक्षा स्वीकार की और स्वयं उसने भी। उसका यशस्वी जीवन इतिहास की अनमोल सम्पदा है।

वीरनिर्वाण की छठी शती के अन्तिम दशक में साध्वी ईश्वरी का नाम आता है। भीषण दुष्काल से छटपटाते हुए सोपारकनगर का इभ्भ श्रेष्ठी जिनदत्त था। उसकी पत्नी का नाम ईश्वरी था। बहुत प्रयत्न करने पर भी अन्न प्राप्त नहीं हुआ, अन्त में एक लाख मुद्रा से अंजली भर अन्न प्राप्त किया। उसमें विष मिलाकर सभी ने मरने का निश्चय किया। उस समय मुनि भिक्षा के लिए आये। ईश्वरी मुनि को देखकर अत्यन्त आह्लादित हुई। आर्य वज्रसेन ने ईश्वरी को बताया कि विष मिलाने की आवश्यकता नहीं है। कल से सुकाल होगा। उसी रात्रि में अन्न के जहाज आ गये जिससे सभी के जीवन में सुख-शान्ति की बंशी बजने लगी। ईश्वरी की प्रेरणा से सेठ जिनदत्त ने अपने नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर इन चारों पुत्रों के साथ आर्हती दीक्षा ग्रहण की। और उनके नामों से गच्छ और कुल परम्परा प्रारम्भ हुई। साध्वी ईश्वरी ने भी उत्कृष्ट साधना कर अपने जीवन को चमकाया।

इसके पश्चात् भी अनेक साध्वियाँ हुईं, किन्तु क्रमवार उनका उल्लेख या परिचय नहीं मिलता, जिन्होंने अपनी आत्म ऊर्जा, बौद्धिक चातुर्य, नीति-कौशल एवं प्रखर प्रतिभा से जैन शासन की महनीय सेवा की। मैं यह मानता हूँ कि ऐसी अनेक दिव्य प्रतिभाओं ने जन्म लिया है, किन्तु उनके कर्तृत्व का सही मूल्यांकन नहीं हो सका।

हम यहाँ अठारहवीं सदी की एक तेजस्वी स्थानकवासी साध्वी का परिचय दे रहे हैं जिनका जन्म देहली में हुआ था। उनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं है और उनका सांसारिक नाम भी क्या था यह भी पता नहीं है। पर उन्होंने आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के समुदाय में किसी साध्वी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। ये महान प्रतिभासम्पन्न थीं। इनका श्रमणी जीवन का नाम महासती भागाजी था। इनके द्वारा लिखे हुए अनेकों शास्त्र, रास तथा अन्य ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ श्री अमर जैन ज्ञान भण्डार, जोधपुर में तथा अन्यत्र संग्रहीत हैं। लिपि उतनी सुन्दर नहीं है, पर प्रायः शुद्ध है। और लिपि को देखकर ऐसा ज्ञात होता है लेखिका ने सैकड़ों ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की होंगी। आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के नेतृत्व में पंचेवर ग्राम में जो सन्त सम्मेलन हुआ था उसमें उन्होंने भी भाग लिया था। और जो प्रस्ताव पारित हुए उनमें उनके हस्ताक्षर भी हैं।

अनश्रुति है कि उन्हें बत्तीस आगम कण्ठस्थ थे। एक बार वे देहली में विराज रही थीं। शौच के लिए वे अपनी शिष्याओं के साथ जंगल में पधारीं। वहाँ से लौटने

करवाया। आर्य कलक को गर्दभिल्ल के घोर अनाचार का पता लगा। राजा को समझाने का प्रयास किया, किन्तु राजा न समझा। अतः आर्य कालक ने शकों की सहायता प्राप्त की एवं अपने भानजे भड़ौंच के राजा भानुमित्र को लेकर युद्ध किया, साध्वी सरस्वती को मुक्त करवाया और पुनः अपनी बहन सरस्वती को दीक्षा प्रदान की। साध्वी सरस्वती अनेक कष्टों का सामना करके भी अपने पथ से च्युत नहीं हुई।

वीरनिर्वाण की पाँचवीं शती में आर्य वज्र की माता सुनन्दा ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। उन्होंने किस श्रमणी के पास श्रमणधर्म स्वीकार किया इसके नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। यह सत्य है कि उस युग में साध्वियों का विराट समुदाय होगा, क्योंकि बालक वज्र ने साध्वियों से ही सुनकर एकादश अंगों का अध्ययन किया था।

वीरनिर्वाण की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में साध्वी रुक्मिणी का वर्णन मिलता है। वह पाटलीपुत्र के कोट्याधीश श्रेष्ठी धन की एकलौती पुत्री थी। आर्य वज्र के अनुपम रूप को निहार कर मुग्ध हो गयी। उसने अपने हृदय की बात पिता से कही। वह एक अरब मुद्राएँ तथा दिव्य वस्त्राभूषणों को लेकर वज्रस्वामी के पास पहुँचा। किन्तु रुक्मिणी ने वज्रस्वामी के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की। और रुक्मिणी तथा वज्रस्वामी के अपूर्व त्याग को देखकर सभी का सिर श्रद्धा से नत हो गया।

वीरनिर्वाण की पाँचवीं-छठी शती में एक विदेशी महिला के द्वारा आर्हती दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। विशेषावश्यकभाष्य तथा निशीथचूर्णि में वर्णन है कि मुरुण्डराज की विधवा बहिन प्रव्रज्या लेना चाहती थी। मुरुण्डराज ने साध्वियों की परीक्षा लेने हेतु एक आयोजन किया कि कौन साध्वी कैसी है। एक भीमकाय हाथी पर महावत बैठ गया और चौराहे पर वह खड़ा हो गया। जब कोई भी साध्वी उधर से निकलती तब महावत हाथी को साध्वी की ओर बढ़ाते हुए साध्वी को चेतावनी देता कि सभी वस्त्रों का परित्याग कर निर्वसना हो जाय, नहीं तो यह हाथी तुम्हें अपने पाँवों से कुचल डालेगा। अनेक साध्वियाँ, परिव्राजिकाएँ, भिक्षुणियाँ उधर निकलीं। भयभीत होकर उन्होंने वस्त्र का परित्याग किया। अन्त में एक जैन श्रमणी उधर आयी। हाथी ज्यों ही उसकी ओर बढ़ने लगा त्यों ही उसने क्रमशः अपने धर्मोपकरण उधर फेंक दिये, उसके पश्चात् साध्वी हाथी के इधर-उधर घूमने लगी। किन्तु उसने अपना वस्त्र-त्याग नहीं किया। जब जनसमूह ने यह दृश्य देखा तो उनका आक्रोश उभर आया। मुरुण्डराज ने भी संकेत कर हाथी को हस्तीशाला में भिजवाया और उसी साध्वी के पास अपनी बहिन को प्रव्रजित कराया। साहस, सहनशीलता, शान्ति और साधना की प्रतिमूर्ति उस साध्वी का तथा मुरुण्ड राजकुमारी इन दोनों का नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है।

वीरनिर्वाण की छठी शती में आर्यरक्षित की माता साध्वी रुद्रसोमा का नाम

एक रुक जाने से उनका प्राणान्त हो गया है। उन्होंने सदा के लिए आँखें मूँद ली हैं। यह सुनते ही सद्दाजी ने तीन दिन का उपवास कर लिया और दूध, दही, घी, तेल और मिष्ठान इन पाँचों विगय का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर दिया। भोजन में केवल रोटी और छाछ आदि का उपयोग करना ही रखकर शेष सभी वस्तुओं का त्याग कर दिया। पति मर गया, किन्तु उन्होंने रोने का भी त्याग कर दिया। सास-ससुर दोनों आकर फूट-फूट कर रोने लगे, सद्दाजी ने उन्हें समझाया—अब रोने से कोई फायदा नहीं है। केवल कर्म-बन्धन होगा। इसलिए रोना छोड़ दें। आपका पुत्र आपको छोड़कर संसार से विदा हो चुका है। ऐसी स्थिति में मैं भी अब संसार में नहीं रहूंगी और श्रमणधर्म को स्वीकार करूँगी। सास और ससूर ने विविध दृष्टियों से समझाने का प्रयास किया किन्तु सद्दाजी की वैराग्य भावना इतनी दृढ़ थी कि वे विचलित नहीं हुई। देवर रामलाल ने भी सद्दाजी से कहा कि आप संसार का परित्याग न करें। पुत्र को दत्तक लेकर आराम से अपना जीवन यापन करें। किन्तु सद्दाजी इसके लिए प्रस्तुत नहीं थीं। उनके भ्राता मालचन्दजी और बालचन्दजी ने भी आकर बहन को संयम साधना की अतिदुष्करता बतायी। किन्तु सद्दाजी अपने मन्तव्य पर दृढ़ रहीं।

उस समय आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की आज्ञानुवर्तिनी महासती भागाजी की शिष्या महासती वीराजी जोधपुर में विराज रही थी। मेहता परिवार भी महासतीजी के निर्मल चरित्र से प्रभावित था। उन्होंने कहा—तुम महासतीजी के पास सहर्ष प्रव्रज्या ग्रहण कर सकती हो किन्तु हम तुम्हें जोधपुर में कभी भी दीक्षा नहीं लेने दे सकते। यदि तुम्हें दीक्षा ही लेनी है तो जोधपुर के अतिरिक्त कहीं भी ले सकती हो। सद्दाजी ने बाड़मेर जिले के जसोल ग्राम में वि० सं० १८७७ में महासती वीराजी के पास संयमधर्म स्वीकार किया। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने विनयपूर्वक अठारह शास्त्र कण्ठस्थ किये, सैकड़ों थोकड़े और अन्य दार्शनिक धार्मिक ग्रन्थ भी। इसके बाद देश के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर धर्म की अत्यधिक प्रभावना की।

सद्दाजी की अनेक शिष्याएँ हुई। उनमें फत्तूजी, रत्नाजी, चैनाजी और लाधाजी ये चार मुख्य थी। चारों में विशिष्ट विशेषताएँ थीं। महासती फत्तूजी का विहार-क्षेत्र मुख्य रूप से मारवाड़ रहा और उनकी शिष्याएँ भी मारवाड़ में ही विचरण करती रहीं। आज पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज की सम्प्रदाय की मारवाड़ में जो साध्वियाँ हैं, वे सभी फत्तूजी के परिवार की हैं। महासती रत्नाजी का विचरण क्षेत्र मेवाड़ में रहा। इसलिए मेवाड़ में जितनी भी साध्वियाँ हैं वे रत्नाजी के परिवार की हैं। महासती चैनाजी में सेवा का अपूर्व गुण था तथा महासती लाधाजी उग्र तपस्विनी थीं। इन दोनों की शिष्या-परम्परा उपलब्ध नहीं होती है।

के पश्चात् रास्ते में एक उपवन था उसमें एक बहुत रमणीय स्थान था जो एकान्त था वहाँ पर बैठकर महासती जी स्वाध्याय करने लगीं। स्वाध्याय चल रही थी, इधर वृहद् नौ तत्व के रचयिता श्रावक दलपतसिहजी उधर आ निकले। उन्होंने देखा कि उपवन के वृक्षों के पत्ते दनादन गिर रहे हैं। फूल मुरझा रहे हैं। असमय में पतझड़ को आया हुआ देखकर उन्होंने सोचा इसका क्या कारण है ? इधर-उधर देखा तो उन्हें महासती जी एकान्त में बैठी हुई दिखायी दीं। श्रावकजी उनकी सेवा में पहुंचे। नमन कर उन्होंने महासती से पूछा—आप क्या कर रही हैं ? महासती ने बताया कि मैं स्वाध्याय कर रही हूँ। इस समय चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति की स्वाध्याय चल रही है। श्रावकजी ने नम्रता से निवेदन किया—सद्गुरुणीजी, देखिए कि वृक्ष के पत्ते असमय में गिर रहे हैं, फूल मुरझा रहे हैं। लगता है स्वाध्याय करते समय कहीं असावधानी से स्खलना हो गई है। कृपाकर आपश्री पुनः स्वाध्याय करें। लाला दलपतसिह जी भी आगम के मर्मज्ञ विद्वान थे। स्वाध्याय की गयी। जहाँ पर स्खलना हुई थी श्रावकजी ने उन्हें बताया। स्खलना का परिष्कार करने पर वृक्षों के पत्ते गिरने बन्द हो गये और फूल मुस्कराने लगे।

महासतीजी का विहार क्षेत्र दिल्ली, पंजाब, जयपुर, जोधपुर, मेड़ता और उदयपुर रहा है—ऐसा प्रशस्तियों के आधार से ज्ञात होता है। महासती भागाजी की अनेक विदुषी शिष्याएं थीं। उनमें वीराजी प्रमुख थीं। वे भी आगमों के रहस्यों की ज्ञाता और चारित्रनिष्ठा थीं। उनकी जन्मस्थली आदि के सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त नहीं है। महासती वीराजी की मुख्य शिष्या सद्दाजी थीं जिनका परिचय इस प्रकार है।

राजस्थान के साम्भर ग्राम में वि० सं० १८५७ के पौष कृष्ण दशम को महासती सद्दाजी का जन्म हुआ। उनकी माता का नाम पाटनदे था और पिता का नाम पीथाजी मोदी था। और दो ज्येष्ठ भ्राता थे। उनका नाम मालचन्द और बालचन्द था। सद्दाजी का रूप अत्यन्त सुन्दर था तथा माता-पिता का अपूर्व प्यार भी उन्हें प्राप्त हुआ था। उस समय जोधपुर के महाराजा अभयसिहजी थे। सुमेरसिहजी मेहता महाराजा अभयसिह के मनोनीत अधिकारी थे। उन्होंने चारण के द्वारा सद्दाजी के अपूर्व रूप की प्रशंसा सुनकर उनके पिता के सामने प्रस्ताव रखा अन्त में सद्दाजी का पाणिग्रहण उनके साथ सम्पन्न हुआ। विराट वैभव और मनोनुकूल पत्नी को पाकर मेहताजी भोगों में तल्लीन थे। सद्दाजी को बाल्यकाल से ही धार्मिक संस्कार मिले थे। इस कारण वे प्रतिदिन सामायिक करती थीं और प्रातःकाल व सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण भी करती थीं।

एक बार सद्दाजी एक प्रहर तक संवर की मर्यादा लेकर नमस्कार महामन्त्र का जाप कर रही थीं, उसी समय दासियाँ घबरायी हुई और आँखों से आँसू बरसाती हुई दौड़ी आयीं और कहा मालकिन, गजब हो गया। मेहताजी की हृदय गति एका-

एक रुक जाने से उनका प्राणान्त हो गया है। उन्होंने सदा के लिए आँखें मूँद ली हैं। यह सुनते ही सद्दाजी ने तीन दिन का उपवास कर लिया और दूध, दही, घी, तेल और मिष्ठान इन पाँचों विगय का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर दिया। भोजन में केवल रोटी और छाछ आदि का उपयोग करना ही रखकर शेष सभी वस्तुओं का त्याग कर दिया। पति मर गया, किन्तु उन्होंने रोने का भी त्याग कर दिया। सास-ससुर दोनों आकर फूट-फूट कर रोने लगे, सद्दाजी ने उन्हें समझाया—अब रोने से कोई फायदा नहीं है। केवल कर्म-बन्धन होगा। इसलिए रोना छोड़ दें। आपका पुत्र आपको छोड़कर संसार से बिदा हो चुका है। ऐसी स्थिति में मैं भी अब संसार में नहीं रहूंगी और श्रमणधर्म को स्वीकार करूँगी। सास और ससुर ने विविध दृष्टियों से समझाने का प्रयास किया किन्तु सद्दाजी की वैराग्य भावना इतनी दृढ़ थी कि वे विचलित नहीं हुईं। देवर रामलाल ने भी सद्दाजी से कहा कि आप संसार का परित्याग न करें। पुत्र को दत्तक लेकर आराम से अपना जीवन यापन करें। किन्तु सद्दाजी इसके लिए प्रस्तुत नहीं थीं। उनके भ्राता मालचन्दजी और बालचन्दजी ने भी आकर बहन को संयम साधना की अतिदुष्करता बतायी। किन्तु सद्दाजी अपने मन्तव्य पर दृढ़ रहीं।

उस समय आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की आज्ञानुवर्तिनी महासती भागाजी की शिष्या महासती वीराजी जोधपुर में विराज रही थी। मेहता परिवार भी महासतीजी के निर्मल चरित्र से प्रभावित था। उन्होंने कहा—तुम महासतीजी के पास सहर्ष प्रव्रज्या ग्रहण कर सकती हो किन्तु हम तुम्हें जोधपुर में कभी भी दीक्षा नही लेने दे सकते। यदि तुम्हें दीक्षा ही लेनी है तो जोधपुर के अतिरिक्त कहीं भी ले सकती हो। सद्दाजी ने बाड़मेर जिले के जसोल ग्राम में वि० सं० १८७७ में महासती वीराजी के पास संयमधर्म स्वीकार किया। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने विनयपूर्वक अठारह शास्त्र कण्ठस्थ किये, सैकड़ों थोकड़े और अन्य दार्शनिक धार्मिक ग्रन्थ भी। इसके बाद देश के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर धर्म की अत्यधिक प्रभावना की।

सद्दाजी की अनेक शिष्याएँ हुईं। उनमें फत्तूजी, रत्नाजी, चेनाजी और लाधाजी ये चार मुख्य थीं। चारों में विशिष्ट विशेषताएँ थीं। महासती फत्तूजी का विहार-क्षेत्र मुख्य रूप से मारवाड़ रहा और उनकी शिष्याएँ भी मारवाड़ में ही विचरण करती रहीं। आज पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज की सम्प्रदाय की मारवाड़ में जो साध्वियाँ हैं, वे सभी फत्तूजी के परिवार की हैं। महासती रत्नाजी का विचरण क्षेत्र मेवाड़ में रहा। इसलिए मेवाड़ में जितनी भी साध्वियाँ हैं वे रत्नाजी के परिवार की हैं। महासती चेनाजी में सेवा का अपूर्व गुण था तथा महासती लाधाजी उग्र तपस्विनी थीं। इन दोनों की शिष्या-परम्परा उपलब्ध नहीं होती है।

महासती श्री सद्दाजी ने अनेक मासखमण तथा कर्मचूर और विविध प्रकार के तप किये। तप आदि के कारण शारीरिक शक्ति विहार के लिए उपयुक्त न रहने पर वि० सं० १६०१ में वे जोधपुर में स्थिरवास ठहरीं। महासती फत्तू जी और रत्ना जी को उन्होंने आदेश दिया कि वे घूम-घूम कर अत्यधिक धर्मप्रचार करें। उन्होंने राजस्थान के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर अनेकों बहनों को प्रव्रज्या दी। सं० १६२१ में महासती फत्तूजी और रत्नाजी के विचार किया कि इस वर्ष हम सब गुरुणीजी की सेवा में ही वर्षावास करेंगी। सभी महासती सद्दाजी की सेवा में पहुँच गयीं। आषाढ़ शुक्ला पंचमी के दिन महासती सद्दाजी ने तिविहार संथारा धारण किया। सद्गुरुणीजी को संथारा धारण किया हुआ देखकर उनकी शिष्या महासती लाधाजी ने भी संथारा कर लिया और सद्गुरुणी जी से कुछ दिनों के पूर्व ही स्वर्ग पहुँच गई। संथारा चल रहा था, महासतीजी ने अपनी शिष्याओं को बुलाकर अंतिम शिक्षा देते हुए कहा—"अपनी परम्परा में ब्राह्मण और वैश्य के अतिरिक्त अन्य वर्णवाली महिलाओं को दीक्षा नहीं देना, तथा मैंने अन्य जो समाचारी बनायी है, उसका पूर्णरूप से पालन करना। तुम वीरांगना हो। संयम के पथ पर निरन्तर बढ़ती रहना। चाहे कितने भी कष्ट आवें उन कष्टों से घबराना नहीं।" सद्गुरुणीजी की शिक्षा को सुनकर सभी साध्वियाँ गद्गद हो गयीं। उन्हें लगा कि अब सद्गुरुणीजी लम्बे समय की मेहमान नहीं हैं। हमें उनकी आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करना ही चाहिए। भाद्रपद सुदी एकम के दिन पचपन दिन का संथारा कर वे स्वर्ग पधारीं। इस प्रकार पैंतालीस वर्ष तक महासती सद्दाजी ने संयम की साधना, तप की आराधना की। आज भी महासती सद्दाजी की शिक्षा-परिवार में पचास से भी अधिक साध्वियाँ हैं।

महासती रत्नाजी की शिष्या-परिवार में शासन-प्रभाविका लछमाजी का नाम विस्मृत नहीं किया जा सकता। इनका जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम में सं० १६१० में हुआ था। आपके पिता का नाम रिखबचन्दजी माण्डोत और माता का नाम नन्दूबाई था। आपके दो भ्राता थे—किसनाजी और बच्छराज जी। आपका पाणिग्रहण मादडा गाँव के साँकलचन्दजी चौधरी के साथ हुआ। कुछ समय के पश्चात् साँकलचन्दजी के शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हुई और उन्होंने सदा के लिए आँख मूँद ली। उस समय महासती रत्नाजी की शिष्या गुलाबकुँवरजी मादडा पधारीं। वे महान तपस्विनी थीं, उन्होंने अपने जीवन में अनेकों मासखमण किये थे। उनके उपदेश को सुनकर लछमाजी के मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। और वि० सं० १६२८ में भागवती दीक्षा ग्रहण की। वे प्रकृति से भद्र, विनीत और सरल मानसवाली थीं।

एक बार वे अपनी सद्गुरुणीजी के साथ बड़ी सादडी में विराज रही थीं। सती-वृन्द कमरे में आहार कर रही थीं कि एक बालक आँखों से आँसू बरसाता हुआ

आया। बालक को रोते हुए देखकर लछमाजी ने पूछा—तू क्यों रो रहा है ? बालक ने रोते हुए कहा—मैं गट्टूलालजी मेहता के यहाँ नौकरी करता हूँ। मेरा नाम वछराज है। आज सेठ के यहाँ मेहमान आये हैं और सभी मिष्ठान खा रहे हैं। पर मेरे नसीब में रूखी-सूखी रोटी भी कहाँ है ? क्षुधा से छटपटाते हुए मैंने भोजन की याचना की। किन्तु उन्होंने मुझे दुत्कार कर घर से निकाल दिया कि तुझे माल खाना है या नौकरी करनी है। मैं अपने भाग्य पर पश्चात्ताप कर रहा हूँ। लछमाजी ने बालक की ओर देखा। उसके चेहरे पर अपूर्व तेज था। उन्होंने उसे आश्वासन देते हुए कहा—रोओ मत। कल से तेरे सभी दुःख मिट जायेंगे। बालक हँसता और नाचता हुआ चल दिया।

छोटी सादडी में नागोरी श्रेष्ठी के लड़का नहीं था। पास में लाखों की सम्पत्ति थी। सेठानी के कहने से सेठ जी बालक वछराज को दत्तक लेने के लिए बड़ी सादडी पहुँचे और उसको अपना दत्तक पुत्र घोषित कर दिया। बालक ने महासती के चरणों में गिरकर कहा—सद्गुरुणीजी, आपका ही पुण्य प्रताप है कि मुझे यह विराट सम्पत्ति प्राप्त हो रही है। आपकी भविष्यवाणी पूर्ण सत्य सिद्ध हुई। महासती लछमाजी के सहज रूप से निकले हुए शब्द सत्य सिद्ध होते थे। उनको वाचा सिद्धि थी। उनके जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिसमें उनकी चमत्कारपूर्ण जीवन-झाँकियाँ हैं। विस्तारभय से मैं उसे यहाँ नहीं दे रहा हूँ।

महासती लछमाजी सं० १९५५ में गोगुन्दा पधारीं। मन्द ज्वर के कारण शरीर शिथिल हो चुका था। अतः चैत्र वदी अष्टमी के दिन उन्होंने संथारा ग्रहण किया। तीन दिन के पश्चात् रात्रि में एक देव ने प्रकट होकर उन्हें नाना प्रकार के कष्ट दिये और विविध प्रकार के सुगंधित भोजन से भरा हुआ थाल सामने रखकर कहा कि भोजन कर लो। किन्तु सती जी ने कहा—मैं भोजन नहीं कर सकती। पहला कारण यह है कि देवों का आहार हमें कल्पता नहीं है। दूसरा कारण यह है कि रात्रि है। तीसरा कारण यह है कि मेरे संथारा है। इसलिए मैं आहार ग्रहण नहीं कर सकती। देव ने कहा—जब तक तुम आहार ग्रहण नहीं करोगी तब तक हम तुम्हें कष्ट देंगे। आपने कहा—मैं कष्ट से नहीं घबराती। एक क्षण भी प्रकाश करते हुए जीना श्रेयस्कर है किन्तु पथ-भ्रष्ट होकर जीना उपयुक्त नहीं है। तुम मेरे तन को कष्ट दे सकते हो, किन्तु आत्मा को नहीं। आत्मा तो अजर-अमर है। अन्त में देवशक्ति पराजित हो गयी। उसने उनकी दृढ़ता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। संथारे के समय अनेकों बार देव ने केशर की और सूखे गुलाब के पुष्पों की वृष्टि की। दीवालों पर केशर और चन्दन की छाप लग जाती थी। संगीत की मधुर स्वर लहरियाँ सुनायी देती थीं और देवियों की पायल ध्वनि सुनकर जनमानस को आश्चर्य होता था कि ये अदृश्य ध्वनियाँ कहाँ से आ रही हैं।

इस प्रकार ६७ दिन तक संथारा चला। ज्येष्ठ वदी अमावस्या वि० सं० १९५६ के दिन उनका संथारा पूर्ण हुआ और वे स्वर्ग पधारीं।

परम विदुषी महासती श्री सद्दाजी की शिष्याओं में महासती श्री रत्नाजी परम विदुषी सती थीं। उनकी एक शिष्या महासती रंभाजी हुईं। रंभाजी प्रतिभा की धनी थीं। उनकी सुशिष्या महासती श्री नवलाजी हुईं। नवलाजी परम विदुषी साध्वी थीं। उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जो एक बार आपके प्रवचन को सुन लेता वह आपकी त्याग, वैराग्ययुक्त वाणी से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। आपकी अनेक शिष्याएँ हुईं। उनमें से पाँच शिष्याओं के नाम और उनकी परम्परा उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम महासती नवलाजी की सुशिष्या कंसुवाजी थीं। उनकी एक शिष्या हुई। उनका नाम सिरेकुँवरजी था और उनकी दो शिष्याएँ हुईं। एक का नाम साकरकुंवरजी और दूसरी का नाम नजरकुंवरजी था। महासती साकरकुंवरजी की कितनी शिष्याएँ हुई यह प्राचीन साक्ष्यों के अभाव में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु महासती नजरकुंवरजी की पाँच शिष्याएँ हुई। महासती नजरकुँवरजी एक विदुषी साध्वी थीं। इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के वल्लभ नगर के सन्निकट मेनार गाँव थी। आप जाति से ब्राह्मण थीं। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण आप में स्वाभाविक प्रतिभा थी। आगम साहित्य का अच्छा परिज्ञान था। आपकी पाँच शिष्याओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) महासती रूपकुँवरजी—यह उदयपुर के सन्निकट देलवाड़ा ग्राम की निवासिनी थीं। (२) महासती प्रतापकुँवरजी—यह भी उदयपुर राज्य के वीरपुरा ग्राम की थीं। (३) महासती पाटूजी—ये समदड़ी (राजस्थान) की थीं। इनके पति का नाम गोडाजी लुंकड था। वि० सं० १९७८ में इनकी दीक्षा हुई। (४) महासती चौथाजी—इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के बंबोरा ग्राम में थी और इनकी ससुराल वाटी ग्राम में थी। (५) महासती एजाजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के शिशोदे ग्राम में हुआ, आपके पिता का नाम भेरूलालजी और माता का नाम कस्तूबाई था। आपका पाणिग्रहण वारी (मेवाड़) में हुआ और वहीं पर महासती के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की। वर्तमान में इनमें से चार साध्वियों का स्वर्गवास हो चुका है केवल महासती एजाजी इस समय विद्यमान हैं। उनकी कोई शिष्याएं नहीं हैं। इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक रही है।

महासती श्री नवलाजी की द्वितीय शिष्या गुमानाजी थीं। उनकी शिष्या-परम्पराओं में बड़े आनन्दकुँवरजी एक विदुषी महासती हुई। वे बहुत ही प्रभावशाली थीं। उनकी सुशिष्याएँ अनेक हुई, पर उन सभी के नाम मुझे उपलब्ध नहीं हुए। उनकी प्रधान शिष्या महासती श्री बालब्रह्मचारिणी अभयकुँवरजी हुईं। आपका जन्म वि० सं० १९५२ फाल्गुन वदी १२ मंगलवार को राजवी के वाटेला गाँव (मेवाड़) में हुआ। आपने अपनी मातेश्वरी श्री हेमकुँवरजी के साथ महासती आनन्दकुँवरजी के

उपदेश से प्रभावित होकर वि० सं० १९६० मृगशिर सुदी १३ को पाली-मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की। आपको शास्त्रों का गहरा अभ्यास था। आपका प्रवचन श्रोताओं के दिल को आकर्षित करने वाला होता था। जीवन की सान्ध्यवेला में नेत्र-ज्योति चली जाने से आप भीम (मेवाड़) में स्थिरवास रहीं और वि० सं० २०३३ के माघ में आपश्री का संथारा सहित स्वर्गवास हुआ। आपश्री की दो शिष्याएँ हुई—महासती बदामकुँवरजी तथा महासती जसकुँवरजी। महासती बदामकुँवरजी का जन्म वि० सं० १९६१ बसन्त पंचमी को भीम गाँव में हुआ। आपका पाणिग्रहण भी वहीं हुआ और वि० संवत् १९७८ में विदुषी महासती अभयकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आप सेवाभावी महासती थीं। सं० २०३३ में आपका भीम में स्वर्गवास हुआ। महासती श्री जसकुँवरजी का जन्म १९५३ में पदराडा ग्राम में हुआ। आपने महासती श्री आनन्दकुँवरजी के पास सं० १९८५ में कम्बोल ग्राम में दीक्षा ग्रहण की और महासती श्री अभयकुँवरजी की सेवा में रहने से वे उन्हें अपनी गुरुणी की तरह पूजनीय मानती थीं। आप में सेवा की भावना अत्यधिक थी। सं० २०३३ में भीम में स्वर्गवास हुआ। इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक चली।

महासती श्री नवलाजी की तृतीय शिष्या केसरकुँवरजी थीं। उनकी सुशिष्या छगनकुँवरजी हुई।

महासती छगनकुँवरजी—आप कुशलगढ़ के सन्निकट केलवाड़े ग्राम की निवासिनी थीं। लघुवय में ही आपका पाणिग्रहण हो गया था। किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से आपके अन्तर्मानस में धार्मिक साधना के प्रति विशेष रुचि जागृत हुई। आपका ससुर पक्ष मूर्तिपूजक आम्नाय के प्रति विशिष्ट रूप से आकर्षित था। आप तीर्थयात्रा की दृष्टि से उदयपुर आयीं। कुछ बहिनें प्रवचन सुनने हेतु महासती गुलाबकुँवरजी के पास जा रही थीं। आपने उनसे पूछा कि कहाँ जा रही हैं। उन्होंने बताया कि हम महासतीजी के प्रवचन सुनने जा रही हैं। उनके साथ आप भी प्रवचन सुनने हेतु पहुँचीं। महासतीजी के वैराग्यपूर्ण प्रवचन को सुनकर अन्तर्मानस में तीव्र वैराग्य भावना जाग्रत हुई। आपने महासतीजी से निवेदन किया कि मेरी भावना त्याग-मार्ग को ग्रहण करने की है। महासतीजी ने कहा—कुछ समय तक धार्मिक अध्ययन कर, फिर अन्तिम निर्णय लेना अधिक उपयुक्त रहेगा। बुद्धि तीक्ष्ण थी। अतः कुछ ही दिनों में काफी थोकड़े, बोल, प्रतिक्रमण व आगमों को कण्ठस्थ कर लिया। परिवार वालों ने आपकी उत्कृष्ट भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान की। आप अपने साथ तीर्थयात्रा करने हेतु विराट् सम्पत्ति भी लायी थीं। परिवार वालों ने कहा—हम इस सम्पत्ति को नहीं लेंगे। अतः सारी सम्पत्ति का उन्होंने दान कर दिया। आपका प्रवचन बहुत ही मधुर होता था। आपकी अनेक शिष्याएँ थीं। उनमें महासती फूलकुँवरजी मुख्य थीं। वि० सं० १९६५ में संथारे के साथ आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

महासती ज्ञानकुँवरजी—महासती छगनकुँवरजी की एक शिष्या विदुषी महासती ज्ञानकुँवरजी थीं। आपका जन्म वि० सं० १६०५ उम्मड ग्राम में हुआ और भम्बोरा के शिवलालजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ था। सं० १६४० मे आपके एक पुत्र हुआ जिसका नाम हजारीमल रखा गया। आचार्यप्रवर पूज्यश्री पूनमचन्दजी महाराज तथा महासती छगनकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने १६५० में महासती श्रीछगनकुँवरजी के पास जालोट में दीक्षा ग्रहण की। आपके पुत्र ने ज्येष्ठ शुक्ला १३ रविवार के दिन समदड़ी में दीक्षा ग्रहण को। उनका नाम ताराचन्दजी महाराज रखा गया। वे ही आगे चलकर उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के गुरु बने। महासती ज्ञानकुँवरजी महाराज बहुत ही सेवाभावी तथा तपोनिष्ठा साध्वी थीं। महासती श्री गुलाबकुँवरजी के उदयपुर स्थानापन्न विराजने पर आपश्री ने वहाँ वर्षों तक रहकर सेवा की और वि० सं० १६८७ में उदयपुर में संथारा सहित उनका स्वर्गवास हुआ।

महासती फूलकुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के दुलावतों के गुढ़े में वि० सं० १६२१ में हुआ। आपके पिता का नाम भगवानचन्दजी और माता का नाम चुन्नीबाई था। लघुवय में आपका पाणिग्रहण तीरपाल में हुआ। किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से महासती छगनकुँवरजी के उपदेश को सुनकर विरक्ति हुई और १७ वर्ष की उम्र में आपने प्रव्रज्या ग्रहण की। आपकी वुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। आपने अनेकों शास्त्र कंठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली भी अत्यन्त मधुर थी। आपके प्रवचन से प्रभावित होकर निम्न शिष्याएँ बनीं—(१) महासती माणककुँवरजी, (२) महासती धूलकुँवरजी, (३) महासती आनन्दकुँवरजी, (४) महासती लाभकुँवरजी, (५) महासती सोहनकुँवरजी, (६) महासती प्रेमकुँवरजी और (७) महासती मोहनकुँवरजी। आपने पचास वर्ष तक संयम की उत्कृष्ट साधना की। वि० सं० १६८६ में आपको ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा शरीर लम्बे समय तक नहीं रहेगा। आपने अपनी शिष्याओं को कहा कि मुझे अब संथारा करना है। किन्तु शिष्याओं ने निवेदन किया कि अभी आप पूर्ण स्वस्थ हैं, ऐसी स्थिति में संथारा करना उचित नहीं है। उस समय आपने शिष्याओं के मन को दुःखाना उचित नहीं समझा। आपने अपने मन से ही फाल्गुन शुक्ला बारस के दिन संथारा कर लिया। दूसरे दिन जब साध्वियाँ भिक्षा के लिए जाने लगीं, तब उन्होंने आपसे निवेदन किया कि हम आपके लिए भिक्षा में क्या लावें तब आपने कहा कि मुझे आहार नहीं करना है। तीन दिन तक यही क्रम चला। चौथे दिन साध्वियों के आग्रह पर आपने स्पष्ट किया कि मैंने संथारा कर लिया है। चैत्र वदी अष्टमी को बारह दिन का संथारा पूर्ण कर आप स्वर्ग पधारीं।

महासती माणककुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के कानोड ग्राम में वि०सं० १६१० में हुआ। आपकी प्रकृति सरल, सरस थी। सेवा की भावना अत्यधिक

थी। ७५ वर्ष की उम्र में वि० सं० १९८५ के आसोज महीने में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

महासती धूल कुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के मादड़ा ग्राम में वि० सं० १९३५ माघ वदी अमावस्या को हुआ। आपके पिताश्री पन्नालाल जी चौधरी और माता का नाम नाथीबाई था। माता-पिता ने दीर्घकाल के पश्चात् सन्तान होने से आपका नाम धूलकुँवर रखा। तेरह वर्ष की लघुवय में वास निवासी चिमनलाल जी ओरडिया के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। कुछ समय के पश्चात् ही पति का देहान्त होने पर, आपकी भावना महासती फूलकुँवर जी के उपदेश को सुनकर संयम ग्रहण करने की हुई। किन्तु पारिवारिक जनों के अत्याग्रह के कारण आप संयम न ले सकीं और वि० सं० १९५६ में फाल्गुन बदी तेरस को वास ग्राम में महासती फूलकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। विनय, वैयावृत्य और सरलता आपके जीवन की मुख्य विशेषताएँ थीं। आपने अनेक शास्त्रों को भी कण्ठस्थ किया था। लगभग ३०० थोकड़े आपको कण्ठस्थ थे। आपके महासती आनन्दकुँवरजी, महासती सौभाग्यकुँवरजी, महासती शम्भुकुँवरजी, बालब्रह्मचारिणी शीलकंवरजी, महासती मोहनकुँवरजी, महासती कंचनकुँवरजी, महासती सुमनवतीजी, महासती दयाकुँवरजी, आदि शिष्याएँ थीं। श्रद्धेय सगुद्रुवर्य पुष्करमुनिजी महाराज को भी प्रथम आपके उपदेश से ही वैराग्य भावना जागृत हुई थी। आपका विहार क्षेत्र मेवाड़, मारवाड़, मध्यप्रदेश, अजमेर, ब्यावर था। वि० सं० २००३ में आप गोगुन्दा ग्राम में स्थानापन्न विराजीं और वि० २०१३ में कार्तिक शुक्ला ग्यारस को २४ घंटे के संथारे के पश्चात् आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती लाभकुँवरजी—आपका जन्म वि० सं० १९३३ में उदयपुर राज्य के ढोल ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम मोतीलालजी ढालावत और माता का नाम तीजबाई था। आपका पाणिग्रहण सायरा के कावेडिया परिवार में हुआ था। लघुवय में ही पति का देहान्त हो जाने पर महासती फूलकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर वि० सं० १९५९ में सादडी मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की। आपका कण्ठ बहुत मधुर था। व्याख्यान-कला सुन्दर थी। आपकी दो शिष्याएँ हुईं—महासती लहरकुँवरजी और दाखकुँवरजी। आपका स्वर्गवास २००३ में श्रावण में यशवंतगढ़ में हुआ।

महासती लहरकुँवरजी—आपका जन्म नान्देशमा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम सूरजमलजी सिंघवी और माता का नाम फूलकुँवर बाई था। आपका पाणिग्रहण ढोल निवासी गेगराजजी ढालावत के साथ हुआ। पति का देहान्त होने पर कुछ समय के पश्चात् एक पुत्री का भी देहावसान हो गया। एक पुत्री जिसकी उम्र सात वर्ष की थी उसे उसकी दादी को सौंपकर वि० सं० १९८१ में ज्येष्ठ सुदी बारस को नान्देशमा ग्राम में दीक्षा ग्रहण की। आपकी प्रकृति मधुर व मिलनसार

थी । स्तोक साहित्य का आपने अच्छा अभ्यास किया । आपकी एक शिष्या बनी जिनका नाम खमानकुँवरजी है ।[1] आपका स्वर्गवास २०२६ माह बदी अष्टमी को १२ घंटे के संथारे से सायरा में हुआ ।

महासती प्रेम कुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के गोगुन्दा ग्राम में हुआ और आपका पणिग्रहण उदयपुर में हुआ था । पति का देहान्त होने पर महासती फूलकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की । आप प्रकृति से सरल, विनीत और क्षमाशील थीं । वि० सं० १९९४ में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ । आपकी एक शिष्या थी जिनका नाम विदुषी महासती पानकुँवरजी था, जो वहुत ही सेवाभाविनी थीं और जिनका स्वर्गवास वि० सं० २०२४ के पौष माह में गोगुन्दा ग्राम में हुआ ।

महासती मोहनकुँवर जी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के वाटी ग्राम में हुआ था । आप लोढा परिवार की थीं । आपका पाणिग्रहण मोलेरा ग्राम में हुआ था । महासती फूलकुँवरजी के उपदेश को श्रवण कर चारित्रधर्म ग्रहण किया । आपको थोकड़ों का अच्छा अभ्यास था और साथ ही मधुर व्याख्यानी भी थीं ।

महासती शौभाग्यकुँवरजी—आपका जन्म बड़ी सादड़ी नागोरी परिवार में हुआ था और बड़ी सादड़ी के निवासी प्रतापमल जी मेहता के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ । आपके एक पुत्र भी हुआ । महासती श्री धूल कुँवरजी के उपदेश को सुनकर आपने प्रव्रज्या ग्रहण की । आपकी प्रकृति भद्र थी । ज्ञानाभ्यास साधारण था । वि० सं० २०२७ आसोज सुदी तेरस को तीन घंटे संथारे के साथ गोगुन्दा में आपका स्वर्गवास हुआ ।

महासती शम्भुकुँवरजी—आपका जन्म वि० सं० १९५८ में वागपुरा ग्राम में हुआ । आपके पिता का नाम गेगराजजी धर्मावत और माता का नाम नाथीबाई था । खाखड़ निवासी अनोपचन्द जी वनोरिया के सुपुत्र धनराजजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ । आपके दो पुत्रियाँ हुईं । बड़ी पुत्री भूरबाई का पाणिग्रहण उदयपुर निवासी चन्दनमल जी कर्णपुरिया के साथ हुआ । कुछ समय पश्चात् पति का निधन होने पर आप उदयपुर में अपनी पुत्री के साथ रहने लगीं । महासती धूलकुँवरजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई । अपनी लघु पुत्री अचरज बाई के साथ वि० सं० १९८२ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को खाखड ग्राम में दीक्षा ग्रहण की । पुत्री का नाम शीलकुँवरजी रखा गया । आपको थोकड़ों का तथा आगम साहित्य का अच्छा परिज्ञान था । आपके प्रवचन वैराग्यवर्धक होते थे । वि० सं० २०१८ में आप गोगुन्दा में स्थिरवास विराजीं । वि० सं० २०२३ के आषाढ़ वदी तेरस को संथारापूर्वक

---

1 देखिए परिचय— वर्तमान परम्परा में साध्वियाँ—ले० राजेन्द्र मुनि साहित्यरत्न

स्वर्गवास हुआ। आपकी प्रकृति भद्र व सरल थी। सेवा का गुण आप में विशेप रूप से था।

इसी परम्परा में परम विदुपी महासती श्री शीलकुँवरजी महाराज वर्तमान में हैं। महासती शीलकुँवरजी की महासती मोहनकुँवरजी, महासती सायरकुँवरजी, विदुषी महासती श्री चन्दनबालाजी, महासती श्री चेलनाजी, महासती साधनाकुँवरजी और महासती विनयप्रभाजी आदि अनेक आपकी सुशिष्याएँ हैं जिनमें बहुत सी प्रभावशाली विचारक व वक्ता हैं।

महासती नवलाजी की चतुर्थ शिष्या जसाजी हुई। उनके जन्म आदि वृत्त के सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। उनकी शिष्या-परम्पराओं में महासती श्री लाभकुँवरजी थीं। इनका जन्म उदयपुर राज्य में कंबोल ग्राम में हुआ। इन्होंने लघुवय में दीक्षा ग्रहण की। ये बहुत ही निर्भीक वीरांगना थीं। एक बार अपनी शिष्याओं के साथ खमनोर (मेवाड़) ग्राम से सेमल गाँव जा रही थीं। उस समय साथ में अन्य कोई भी गृहस्थ श्रावक नहीं थे, केवल साध्वियाँ ही थीं। उस समय सशस्त्र चार डाकू आपको लूटने के लिए आ पहुँचे। अन्य साध्वियाँ डाकुओं के डरावने रूप को देखकर भयभीत हो गयीं। डाकू सामने आये। महासती जी ने आगे बढ़कर उन्हें कहा—तुम वीर हो, क्या अपनी बहू-बेटी साध्वियों पर हाथ उठाना तुम्हारी वीरता के अनुकूल है? तुम्हें शरम आनी चाहिए। इस वीरभूमि में तुम साध्वियों के वस्त्र आदि लेने पर उतारू हो रहे हो। क्या तुम्हारा क्षात्रतेज तुम्हें यही सिखाता है? इस प्रकार महासतीजी के निर्भीकतापूर्वक वचनों को सुनकर डाकुओं के दिल परिवर्तित हो गये। वे महासतीजी के चरणों में गिर पड़े और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि हम भविष्य में किसी बहन या माँ पर हाथ नहीं उठायेंगे और न बालकों पर ही। डाका डालना तो हम नहीं छोड़ सकते, पर इस नियम का हम दृढ़ता से पालन करेंगे।

एक बार महासती लाभकुँवरजी चार शिष्याओं के साथ देवरिया ग्राम में पधारीं। वहाँ पर एक बहुत ही सुन्दर मकान था। एक श्रावक ने कहा—महासतीजी यह मकान आप सतियों के ठहरने के लिए बहुत ही साताकारी रहेगा। अन्य श्रावकगण मौन रहे। महासतीजी वहाँ पर ठहर गयीं। महासतीजी ने देखा उस मकान में पलंग बिछा हुआ था। उस पर गादी-तकिये बिछाये हुए थे तथा इत्र और पुष्पों की मधुर सौरभ से मकान सुवासित था। रात्रि में कोई भी बहिन महासतीजी के दर्शन के लिए वहाँ उपस्थित नहीं हुई। महासतीजी को पता लग गया कि इस मकान में अवश्य ही भूत और प्रेत का कोई उपद्रव है। महासती लाभकुँवरजी ने सभी शिष्याओं को आदेश दिया कि सभी आकर मेरे पास पास बैठें। आज रात्रि भर हम अखण्ड नवकार मंत्र का जाप करेंगी। जाप चलने लगा। एक साध्वीजी को जरा नींद आने लगी। ज्यों ही वे सोई त्यों ही प्रेतात्मा उस महासती की छाती पर सवार हो गयी जिससे वह चिल्लाने लगी। महासती लाभकुँवरजी ने आगे बढ़कर उस प्रेत

को ललकारा—तुझे महासतियों को परेशान करते हुए लज्जा नहीं आती। हमने तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ा है। महासती की गंभीर गर्जना को सुनकर प्रेतात्मा एक ओर हो गया। महासती लाभकुँवरजी ने सभी साध्वियों से कहा जब तक—तुम जागती रहोगी तब तक प्रेतात्मा का किंचित् भी जोर न चलेगा। जागते समय जप चलता रहा। किन्तु लंबा विहार कर आने के कारण महासतियाँ थकी हुई थीं। अतः उन्हें नींद सताने लगी। ज्योंही दूसरी महासती नींद लेने लगीं त्यों ही प्रेतात्मा उन्हें घसीट कर एक ओर ले चला। गहरा अंधेरा था महासती लाभकुँवरजी ने ज्यों ही अन्धेरे में देखा कि प्रेतात्मा उनकी साध्वी को घसीट कर ले जा रहा है, नवकार मंत्र का जाप करती हुईं वे पहुँचीं और प्रेतात्मा के चंगुल से साध्वी को छुड़ाकर पुनः अपने स्थान पर लायीं और रात भर जाप करती हुईं पहरा देती रहीं। प्रातः होने पर उनके तप:तेज से प्रभावित होकर महासतीजी से क्षमा मांगकर प्रेतात्मा वहाँ से चला गया। महासतीजी ने श्रावकों को उपालंभ देते हुए कहा—इस प्रकार भयप्रद स्थान में साध्वियों को नहीं ठहराना चाहिए। श्रावकों ने कहा—हमने सोचा कि हमारी गुरुणीजी बड़ी ही चमत्कारी हैं, इसलिए इस मकान का सदा के लिए संकट मिट जायगा अत: उस श्रावक की प्रार्थना करने पर मौन रहे, अब क्षमा प्रार्थी हैं। महासतीजी ने कहा—संकट तो मिट गया पर हमें कितनी परेशानी हुई।

इस प्रकार महासतीजी के जीवन में अनेकों घटनाएं घटीं किन्तु उनके ब्रह्मचर्य के तेज व जप-साधना के कारण सभी उपद्रव शांत रहे। महासती श्री लाभकुँवरजी की अनेक शिष्याओं में एक शिष्या महासती **छोटे आनन्द कुँवरजी** थीं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के कमोल ग्राम में थी। ये बहुत ही मधुरभाषिणी थीं। उनके जीवन में त्याग की प्रधानता थी। इसलिए उनके प्रवचनों का असर जनता के अन्तर्मानस पर सीधा होता था। आप जहाँ भी पधारीं वहाँ आपके प्रवचनों से जनता मंत्रमुग्ध होती रही। आपकी अनेक शिष्यायें हुईं। उनमें महासती **मोहनकुँवरजी** महाराज और **लहरकुँवरजी** महाराज इन दो शिष्याओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

महासती **मोहनकुँवरजी** का जन्म उदयपुर राज्य के भूताला ग्राम मे हुआ। उनका गृहस्थाश्रम का नाम मोहनबाई था। जाति से आप ब्राह्मण थीं। नौ वर्ष की लघुवय में उनका पाणिग्रहण हो गया। वह पति के साथ एक बार तीर्थयात्रा के लिए गुजरात आयीं। भडोच ने सन्निकट नरमदा में स्नान कर रही थीं कि नदी में पानी का अचानक तीव्र प्रवाह आ गया जिससे अनेक व्यक्ति जो किनारे पर स्नान कर रहे थे पानी में बह गये। मोहनबाई का पति भी बह गया जिससे ये विधवा हो गयीं। उस समय महासती आनन्दकुँवरजी विहार करती हुईं भूताले पहुँचीं। उनके उपदेश से प्रभावित हुईं। मन में वैराग्य-भावना लहराने लगी। किन्तु उनके चाचा मोतीलाल ने अनेक प्रयास किये कि उनका वैराग्य रंग फीका पड़ जाय। अनेक बार उन्हें थाने के

अन्दर कोठरी में बन्द कर दिया, पर वे सभी परीक्षाओं में समुत्तीर्ण हुईं। अन्त में मोतीलालजी उन्हें महाराणा फतहसिंह के पास ले गये। महाराणाजी ने भी उनकी परीक्षा ली। किन्तु उनकी दृढ़ वैराग्य-भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी जिससे सोलह वर्ष की उम्र में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। खूब मन लगाकर अध्ययन किया। आपकी दीक्षा के सोलह वर्ष के पश्चात् आपका वर्षावास अपनी सद्गुरुणी के साथ उदयपुर में था। आश्विन शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि में वे सोयी हुई थीं। उन्होंने देखा एक दिव्य रूप सामने खड़ा है और वह आवाज दे रहा है कि जाग रही हैं या सो रही हैं? तत्क्षण वे उठकर बैठ गयीं और पूछा—आप कौन हैं? और क्यों आये हैं? देव ने कहा—यह न पूछो, देखो तुम्हारा अन्तिम समय आ चुका है। कार्तिक सुदी प्रतिपदा के दिन नौ बजे तुम अपनी नश्वर देह का परित्याग कर दोगी, अतः संथारा आदि कर अपने जीवन का उद्धार कर सकती हो। यह कह-कर देव अन्तर्धान हो गया। महासती आनन्दकुँवरजी जो सन्निकट ही सोयी हुई थीं, उन्होंने सुना और पूछा किससे बात कर रही हो? उन्होंने महासतीजी से निवेदन किया कि मेरा अन्तिम समय आ चुका है, इसलिए मुझे संथारा करा दें। महासतीजी ने कहा—अभी तेरी बत्तीस वर्ष की उम्र है, शरीर में किसी भी प्रकार की व्याधि नहीं है, अतः मैं संथारा नहीं करा सकती। उस समय उदयपुर में आचार्य श्रीलालजी महाराज का भी वर्षावास था; उन्होंने भी अपने शिष्यों को भेजकर महासती से संथारा न कराने का आग्रह किया और महाराणा फतहसिंहजी को ज्ञात हुआ तो उन्होंने भी पुछवाया कि असमय में संथारा क्यों कर रही हो; तब महासती ने कहा मैं स्वेच्छा से संथारा कर रही हूँ, मैं मेवाड़ की वीरांगना हूँ। स्वीकृत संकल्प से पीछे हटने वाली नहीं हूँ। अन्त में संथारा ग्रहण किया और गौतम प्रतिपदा के दिन निश्चित समय पर उनका स्वर्गवास हुआ।

महासती लहरकुँवरजी का जन्म उदयपुर राज्य के सलोदा ग्राम में हुआ और आपका पाणिग्रहण भी सरोदा में हुआ। किन्तु लघुवय में ही पति का देहान्त हो जाने से महासती श्री आनन्दकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आगम साहित्य का अच्छा अभ्यास किया। एक बार सायरा ग्राम में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक और तेरा-पंथ की सतियों के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ। आपने अपने अकाट्य तर्कों से उन्हें परास्त कर दिया। आपकी प्रकृति बहुत ही सरल थी। आपकी वाणी में मिश्री सा माधुर्य था। सं० २००७ मे आपका वर्षावास यशवन्तगढ़ (मेवाड़) में था। शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई और संथारे के साथ आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी दो शिष्याएँ हुई—महासती सज्जन कुँवरजी और महासती कंचनकुँवरजी।

महासती सज्जन कुँवरजी का जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम के बंबोरी परिवार में हुआ। आपके पिता का नाम भैरूलालजी और माता का नाम रंगूबाई था। १३ वर्ष की अवस्था में आपका पाणिग्रहण कमोल के ताराचन्दजी दोशी के साथ

को ललकारा—तुझे महासतियों को परेशान करते हुए लज्जा नहीं आती। हमने तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ा है। महासती की गंभीर गर्जना को सुनकर प्रेतात्मा एक ओर हो गया। महासती लाभकुँवरजी ने सभी साध्वियों से कहा जब तक—तुम जागती रहोगी तब तक प्रेतात्मा का किंचित् भी जोर न चलेगा। जागते समय जप चलता रहा। किन्तु लंबा विहार कर आने के कारण महासतियाँ थकी हुई थीं। अतः उन्हें नींद सताने लगी। ज्योंही दूसरी महासती नींद लेने लगीं त्यों ही प्रेतात्मा उन्हें घसीट कर एक ओर ले चला। गहरा अंधेरा था महासती लाभकुँवरजी ने ज्यों ही अन्धेरे में देखा कि प्रेतात्मा उनकी साध्वी को घसीट कर ले जा रहा है, नवकार मंत्र का जाप करती हुईं वे पहुँचीं और प्रेतात्मा के चंगुल से साध्वी को छुड़ाकर पुनः अपने स्थान पर लायीं और रात भर जाप करती हुईं पहरा देती रहीं। प्रातः होने पर उनके तपःतेज से प्रभावित होकर महासतीजी से क्षमा मांगकर प्रेतात्मा वहाँ से चला गया। महासतीजी ने श्रावकों को उपालंभ देते हुए कहा—इस प्रकार भयप्रद स्थान में साध्वियों को नहीं ठहराना चाहिए। श्रावकों ने कहा—हमने सोचा कि हमारी गुरुणीजी बड़ी ही चमत्कारी हैं, इसलिए इस मकान का सदा के लिए संकट मिट जायगा अतः उस श्रावक की प्रार्थना करने पर मौन रहे, अब क्षमा प्रार्थी हैं। महासतीजी ने कहा—संकट तो मिट गया पर हमें कितनी परेशानी हुई।

इस प्रकार महासतीजी के जीवन में अनेकों घटनाएं घटीं किन्तु उनके ब्रह्मचर्य के तेज व जप-साधना के कारण सभी उपद्रव शांत रहे। महासती श्री लाभकुँवरजी की अनेक शिष्याओं में एक शिष्या महासती **छोटे आनन्द कुँवरजी** थीं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के कमोल ग्राम में थी। ये बहुत ही मधुरभाषिणी थीं। उनके जीवन में त्याग की प्रधानता थी। इसलिए उनके प्रवचनों का असर जनता के अन्तर्मानस पर सीधा होता था। आप जहाँ भी पधारीं वहाँ आपके प्रवचनों से जनता मंत्रमुग्ध होती रही। आपकी अनेक शिष्यायें हुईं। उनमें महासती **मोहन-कुँवरजी** महाराज और **लहरकुँवरजी** महाराज इन दो शिष्याओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

महासती **मोहनकुँवरजी** का जन्म उदयपुर राज्य के भूताला ग्राम मे हुआ। उनका गृहस्थाश्रम का नाम मोहनबाई था। जाति से आप ब्राह्मण थीं। नौ वर्ष की लघुवय में उनका पाणिग्रहण हो गया। वह पति के साथ एक बार तीर्थयात्रा के लिए गुजरात आयीं। भडोच ने सन्निकट नरमदा में स्नान कर रही थीं कि नदी में पानी का अचानक तीव्र प्रवाह आ गया जिससे अनेक व्यक्ति जो किनारे पर स्नान कर रहे थे पानी में बह गये। मोहनबाई का पति भी बह गया जिससे ये विधवा हो गयीं। उस समय महासती आनन्दकुँवरजी विहार करती हुईं भूताले पहुँचीं। उनके उपदेश से प्रभावित हुईं। मन में वैराग्य-भावना लहराने लगी। किन्तु उनके चाचा मोतीलाल ने अनेक प्रयास किये कि उनका वैराग्य रंग फीका पड़ जाय। अनेक बार उन्हें थाने के

अन्दर कोठरी में बन्द कर दिया, पर वे सभी परीक्षाओं में समुत्तीर्ण हुई। अन्त में मोतीलालजी उन्हें महाराणा फतहसिंह के पास ले गये। महाराणाजी ने भी उनकी परीक्षा ली। किन्तु उनकी दृढ़ वैराग्य-भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी जिससे सोलह वर्ष की उम्र में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। खूब मन लगाकर अध्ययन किया। आपकी दीक्षा के सोलह वर्ष के पश्चात् आपका वर्षावास अपनी सद्गुरुणी के साथ उदयपुर में था। आश्विन शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि में वे सोयी हुई थीं। उन्होंने देखा एक दिव्य रूप सामने खड़ा है और वह आवाज दे रहा है कि जाग रही हैं या सो रही हैं? तत्क्षण वे उठकर बैठ गयीं और पूछा—आप कौन हैं? और क्यों आये हैं? देव ने कहा—यह न पूछो, देखो तुम्हारा अन्तिम समय आ चुका है। कार्तिक सुदी प्रतिपदा के दिन नौ बजे तुम अपनी नश्वर देह का परित्याग कर दोगी, अतः संथारा आदि कर अपने जीवन का उद्धार कर सकती हो। यह कह-कर देव अन्तर्धान हो गया। महासती आनन्दकुँवरजी जो सन्निकट ही सोयी हुई थीं, उन्होंने सुना और पूछा किससे बात कर रही हो? उन्होंने महासतीजी से निवेदन किया कि मेरा अन्तिम समय आ चुका है, इसलिए मुझे संथारा करा दें। महासतीजी ने कहा—अभी तेरी बत्तीस वर्ष की उम्र है, शरीर में किसी भी प्रकार की व्याधि नहीं है, अतः मैं संथारा नहीं करा सकती। उस समय उदयपुर में आचार्य श्रीलालजी महाराज का भी वर्षावास था; उन्होंने भी अपने शिष्यों को भेजकर महासती से संथारा न कराने का आग्रह किया और महाराणा फतहसिंहजी को ज्ञात हुआ तो उन्होंने भी पुछवाया कि असमय में संथारा क्यों कर रही हो; तब महासती ने कहा मैं स्वेच्छा से संथारा कर रही हूँ, मैं मेवाड़ की वीरांगना हूँ। स्वीकृत संकल्प से पीछे हटने वाली नहीं हूँ। अन्त में संथारा ग्रहण किया और गौतम प्रतिपदा के दिन निश्चित समय पर उनका स्वर्गवास हुआ।

महासती **लहरकुँवरजी** का जन्म उदयपुर राज्य के सलोदा ग्राम में हुआ और आपका पाणिग्रहण भी सरोदा में हुआ। किन्तु लघुवय में ही पति का देहान्त हो जाने से महासती श्री आनन्दकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आगम साहित्य का अच्छा अभ्यास किया। एक बार सायरा ग्राम में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक और तेरा-पंथ की सतियों के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ। आपने अपने अकाट्य तर्कों से उन्हें परास्त कर दिया। आपकी प्रकृति बहुत ही सरल थी। आपकी वाणी में मिश्री सा माधुर्य था। सं० २००७ मे आपका वर्षावास यशवन्तगढ़ (मेवाड़) में था। शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई और संथारे के साथ आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी दो शिष्याएँ हुई—महासती सज्जन कुँवरजी और महासती कंचनकुँवरजी।

महासती **सज्जन कुँवरजी** का जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम के बंबोरी परिवार में हुआ। आपके पिता का नाम भैरूलालजी और माता का नाम रंगूबाई था। १३ वर्ष की अवस्था में आपका पाणिग्रहण कमोल के ताराचन्दजी दोशी के साथ

सम्पन्न हुआ। आपका गृहस्थाश्रम का नाम जमुनाबाई था। सोलह वर्ष की उम्र में पति का देहान्त होने पर विदुषी महासती आनन्दकुँवरजी के उपदेश से सं० १९७६ में दीक्षा ग्रहण की। चौपन वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन कर सं० २०३० आसोज सुदी पूर्णिमा के दिन आपका यशवन्तगढ़ में स्वर्गवास हुआ। महासती सज्जनकुँवरजी की एक शिष्या हुई जिनका नाम बालब्रह्मचारिणी विदुषी महासती कौशल्याजी है। महासती कौशल्याजी की चार शिष्याएँ हैं—महासती विजयवतीजी, महासती हेमवतीजी, महासती दर्शनप्रभाजी और महासती सुदर्शनप्रभाजी।

महासती लहरकुँवरजी की दूसरी शिष्या महासती कंचनकुँवर जी का जन्म उदयपुर राज्य के कमोल गाँव के दोसी परिवार में हुआ। तेरह वर्ष की वय में आपका विवाह पदराडा में हुआ और चार महीने के पश्चात् ही पति के देहान्त हो जाने से लघुवय में विधवा हो गयीं। महासती श्री लहरकुँवरजी के उपदेश को सुनकर दीक्षा ग्रहण की। आपका नांदेशमा ग्राम में संथारे के साथ स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या है जिनका नाम महासती वल्लभकुँवरजी हैं—जो बहुत ही सेवापरायण है।

पूर्व पंक्तियों में हम बता चुके हैं कि महासती सद्दाजी की रत्नाजी, रंभाजी, नवलाजी की पाँच शिष्याएँ हुईं, उनमें से चार शिष्याओं के परिवार का परिचय दिया जा चुका है। उनकी पाँचवीं शिष्या अमृताजी हुईं। उनकी परम्परा में महासती श्री रायकुँवरजी हुईं जो महान प्रतिभासम्पन्न थीं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट कविता ग्राम में थी। आप ओसवाल तलेसरा वंश की थीं। उनके अन्य जीवनवृत्त के सम्बन्ध में मुझे विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। पर यह सत्य है कि वे एक प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं। जिनके पवित्र उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक शिष्याएँ बनीं। उनमें से दस शिष्याओं के नाम उपलब्ध होते हैं। अन्य शिष्याओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है।

(१) **महासती सूरजकुँवरजी**—इनकी जन्मस्थली उदयपुर थी और पाणिग्रहण साडोल (मेवाड़) के हनोत परिवार में हुआ था। महासती जी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने साधनामार्ग स्वीकार किया। आपकी कितनी शिष्याएँ हुईं, यह ज्ञात नहीं।

(२) **महासती फूलकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आँचालिया परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ। महासतीजी के पावन प्रवचनों से प्रभावित होकर श्रमणीधर्म स्वीकार किया। आपकी भी कितनी शिष्याएँ हुईं, यह ज्ञात नहीं।

(३) **महासती हुल्लासकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आपका पाणिग्रहण भी उदयपुर के हरखावत परिवार में हुआ था। आपने भी महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर संयम धर्म ग्रहण किया था। महासती हुल्लासकुँवरजी बहुत विलक्षण प्रतिभा की धनी थीं। आपके उपदेश से प्रभावित होकर पाँच शिष्याएँ

-बनीं—महासती देवकुँवरजी (जन्म कर्णपुर के पोरवाड परिवार मे तथा विवाह उदयपुर पोरवाड परिवार), महासती प्यारकुँवरजी (जन्म—वाठेडा, ससुराल—डबोक), महासती पदमकुँवरजी—इनका जन्म उदयपुर के सन्निकट थामला के सियार परिवार में हुआ और डबोक झगड़ावत परिवार में पाणिग्रहण हुआ। स्थविरा विदुषी महासती सौभाग्य कुंवरजी और सेवामूर्ति महासती चतुरकुंवरजी। इनमें महासती पदमकुंवरजी की महासती कैलासकुँवरजी शिष्या हुई। आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपके पिता का नाम हीरालालजी और माता का नाम इंदिराबाई था। आपका गणेशीलालजी से पाणिग्रहण हुआ था। सं० १९९३ फाल्गुन शुक्ला दसमी के दिन देलवाड़ा में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपको चरित्र बांचने की शैली बहुत ही सुन्दर थी, आपकी सेवाभावना प्रशंसनीय थी। सं० २०३२ में आपका अजमेर में संथारा सहित स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती रतनकुँवरजी है।

महासती हुल्लासकुँवरजी की चतुर्थ शिष्या सौभाग्यकुँवर जी हैं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर, पिता का नाम मोडीलालजी खोखावत और माता का नाम रूपाबाई था। आपश्री वर्तमान में विद्यमान हैं। आपका स्वभाव बहुत ही मधुर है। आपकी शिष्या हुई महासती मोहनकुँवरजी जिनका जन्म दरीबा (मेवाड़) में हुआ और उनका पाणिग्रहण दबोक ग्राम मे हुआ। वि० सं० २००६ में आपने दीक्षा ग्रहण की और सं० २०३१ में आपका स्वर्गवास उदयपुर में हुआ।

महासती हुल्लासकुँवरजी की पाँचवीं शिष्या महासती चतुरकुंवरजी है जो बहुत ही सेवापरायण साध्वीरत्न हैं।

(४) महासती रायकुँवरजी की चतुर्थ शिष्या हुकमकुँवरजी थीं। उनकी सात शिष्याएँ हुईं—महासती भूरकुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के कविता ग्राम में हुआ। आपको थोकड़े साहित्य का बहुत ही अच्छा परिज्ञान था। पचहत्तर वर्ष की उम्र में आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती प्रतापकुँवरजी था, जो प्रकृति से भद्र थीं। लखावली के भण्डारी के परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ था और लगभग सत्तर वर्ष की उम्र में आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती हुकुमकुँवरजी की दूसरी शिष्या रूपकुँवरजी थीं। आपकी जन्मस्थली देवास (मेवाड़) की थी। लोढा परिवार मे आपका पाणिग्रहण हुआ। आपने महासती जी के पास दीक्षा ग्रहण की। वर्षों तक संयम पालन कर अन्त में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

महासती हुकुमकुँवरजी की तृतीय शिष्या वल्लभकुँवरजी थीं। आपका जन्म उदयपुर के बाफना परिवार में हुआ था और आपका पाणिग्रहण उदयपुर के

गेलडा परिवार में हुआ। आपने दीक्षा ग्रहण कर आगम शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती **गुलाबकुंवरजी** था। आपका जन्म 'गुलंुडिया' परिवार में हुआ था और पाणिग्रहण 'वया' परिवार में हुआ था। आपको आगम व स्तोक साहित्य का सम्यक् परिज्ञान था। उदयपुर में ही संथारा सहित स्वर्गस्थ हुई।

महासती हुकुमकुँवरजी की चौथी शिष्या **सज्जनकुँवरजी** थीं। आपने उदयपुर के वाफना परिवार में जन्म लिया और दुगड़ों के वहाँ पर ससुराल था। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम **मोहनकुँवरजी** था जिनकी जन्मस्थली अलवर थी और ससुराल खण्डवा में था। वर्षों तक संयम साधना कर उदयपुर में आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती हुकुमकुँवरजी की पाँचवीं शिष्या छोटे **राजकुँवरजी** थीं। आप उदयपुर के माहेश्वरी वंश की थीं।

महासती हुकुमकुँवरजी की एक शिष्या **देवकुँवरजी** थीं जो उदयपुर के सन्निकट कर्णपुर ग्राम की निवासिनी थीं और पोरवाड वंश की थीं और सातवीं शिष्या महासती **गेंदकुँवरजी** थीं। आपका जन्म उदयपुर के सन्निकट भुआना के पगारिया कुल में हुआ। चन्देसरा गाँव के बोकड़िया परिवार में आपकी ससुराल थी। आपको सैंकड़ों थोकड़े कण्ठस्थ थे। आप सेवापरायण थीं। सं० २०१० में ब्यावर में आपका स्वर्गवास हुआ।

(५) **महासती मदनकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपकी प्रतिभा गजब की थी। आपने महासतीजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आपको आगम साहित्य का गम्भीर अध्ययन था और थोकड़ा साहित्य पर भी आपका पूर्ण अधिकार था। एक बार आचार्य श्रीमुन्नालालजी महाराज जो आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे, उन्होंने उदयपुर के जाहिर प्रवचन सभा में महासती मदनकुँवरजी को उन्नीस प्रश्न किये थे। वे प्रश्न आगम ज्ञान के साथ ही प्रतिभा से सम्बन्धित थे। उन्होंने पूछा—बताइये महासतीजी; सिद्ध भगवान कितना विहार करते हैं? उत्तर में महासतीती ने कहा—सिद्ध भगवान सात राजु का विहार करते हैं, क्योंकि सिद्ध जो बनते हैं वे यहाँ पर बनते हैं, यहीं पर अष्ट कर्म नष्ट करते हैं और फिर कर्म नष्ट होने से वे ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर अवस्थित होते हैं। क्योंकि वहाँ से आगे आकाश द्रव्य है, पर धर्मास्तिकाय नहीं।

महाराजश्री ने दूसरा प्रश्न किया—साधु कितना विहार करते हैं? उत्तर में महासती जी ने कहा—आचार्य प्रवर, साधु चौदह राजु का विहार करते हैं। केवली भगवान जिनका आयुकर्म कम होता है और वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म अधिक होता है, तब केवली समुद्घात होती है। उस समय उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोक में प्रस-

रित हो जाते हैं। केवली महाराज साधु हैं। उनके आत्मप्रदेश भी साधु के हैं। इस दृष्टि से वे चौदह राजु का विहार करते हैं।

आचार्यश्री ने तीसरा प्रश्न किया—सिद्ध भगवान कितने लम्बे हैं और कितने चौड़े हैं? महासतीजी ने उत्तर में निवेदन किया—सिद्ध भगवान तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अंगुल लम्बे हैं। क्योंकि पाँच सौ धनुष की अवगाहना वाले जो सिद्ध बनते हैं उनके आत्मप्रदेश तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अंगुल लम्बे रहते हैं और सिद्ध भगवान चौड़े हैं पैंतालीस लाख योजन। पैंतालीस लाख योजन का मनुष्य-क्षेत्र है। जहाँ पर एक सिद्ध हैं वहाँ पर अनन्त सिद्ध हैं। सभी सिद्धों के आत्म-प्रदेश परस्पर मिले हुए हैं। बीच में तनिक मात्र भी व्यवधान नहीं है। इस घनत्व की दृष्टि से सिद्ध पैंतालीस लाख योजन चौड़े हैं।

चौथा प्रश्न आचार्यश्री ने किया—चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभ-देव हैं और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। बताइये दोनों में से किसकी आत्मा हमारे से अधिक सन्निकट है? उत्तर मे महासतीजी ने कहा—भगवान ऋषभ-देव की आत्मा हमारे से अधिक सन्निकट है बनिस्बत महावीर के। क्योंकि भगवान ऋषभदेव की अवगाहना पाँच सौ धनुष की थी और महावीर की अवगाहना सात हाथ की थी। जिससे ऋषभदेव के आत्म-प्रदेश तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अंगुल हैं और महावीर की आत्मा के प्रदेश चार हाथ और सोलह अंगुल है। अतः ऋषभदेव की आत्मा महावीर की आत्मा से हमारे अधिक सन्निकट है।

पाँचवाँ प्रश्न आचार्यश्री ने किया—दो श्रावक हैं। वे दोनों एक ही स्थान पर बैठे हैं। एक देवसी, प्रतिक्रमण करता है और दूसरा राईसी प्रतिक्रमण करता है। ये दोनों पृथक-पृथक प्रतिक्रमण क्यों करते हैं? उसकी क्या अपेक्षा है? स्पष्ट कीजिए। महासतीजी ने उत्तर में कहा—दो श्रावक है, एक भरतक्षेत्र का दूसरा महाविदेह क्षेत्र का। वे दोनों श्रावक विराधक हो गये और वे वहाँ से आयु पूर्ण कर अढाई द्वीप के बाहर नन्दीश्वर द्वीप में जलचर के रूप में उत्पन्न हुए। नन्दीश्वर द्वीप में देव भगवान तीर्थंकरों के अष्टाह्निक महोत्सक मानते हैं। उन महोत्सवों में तीर्थं-कर भगवान के उत्कीर्तन को सुनकर उन जलचर जीवों को जातिस्मरणज्ञान होता है और वे उस ज्ञान से अपने पूर्वभव को निहारते हैं और उस जातिस्मरणज्ञान के आधार से वे वहाँ पर प्रतिक्रमण करते हैं। क्योंकि नन्दीश्वर द्वीप में तो रात-दिन का कोई क्रम नहीं है। अतः वे जातिस्मरणज्ञान से अपने पूर्व स्थल को देखते हैं, मन में ग्लानि होती है, अतः वे वहाँ प्रतिक्रमण करते हैं। पर जिस समय भरतक्षेत्र में दिन होता है उस समय महाविदेहक्षेत्र में रात्रि होती है, अतः एक देवसी प्रति-क्रमण करता है और दूसरा राईसी प्रतिक्रमण करता है। सन्निकट बैठे रहने पर भी वे दोनों पृथक-पृथक प्रतिक्रमण करते हैं।

आचार्यश्री ने छठा प्रश्न किया—जीव के पाँच सौ तिरसठ भेदों में से ऐसा

कौन-सा जीव है जो एकान्त मिथ्यादृष्टि है और साथ ही एकान्त शुक्ललेश्यी भी। क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं। महासतीजी ने कहा—तेरह सागर की स्थिति वाले किल्विषी देव में एकान्त मिथ्यादृष्टि होती है और साथ ही वे एकान्त शुक्ल-लेश्यी भी हैं।

इस प्रकार उन्नीस प्रश्नों के उत्तरों को सुनकर आचार्य प्रवर और सभा प्रमुदित हो गयी और उन्होंने कहा—मैंने कई सन्त-सतियाँ देखीं, पर इनके जैसी प्रतिभासम्पन्न साध्वी नहीं देखी। महासती मदनकुँवरजी जिस प्रकार प्रकृष्ट प्रतिभा की धनी थीं उसी प्रकार उत्कृष्ट आचारनिष्ठा भी थीं। गुप्त तप उन्हें पसन्द था। प्रदर्शन से वे कोसों दूर भागती थीं। वे साध्वियों के आहारादि से निवृत्त होने पर जो अवशेष आहार बच जाता और पात्र धोने के बाद जो पानी बाहर डालने का होता उसी को पीकर संतोष कर लेतीं। कई बार नन्हीं सी गुड की डेली या शक्कर लेकर मुँह में डाल लेती। यदि कोई उनसे पूछता—क्या आज आपके उपवास है, वे कहतीं—नहीं, मैंने तो मीठा खाया है।

उनमें सेवा का गुण भी गजब का था। उन्हें हजारों जैन कथाएँ और लोक कथाएँ स्मरण थीं। समय-समय पर बालक और बालिकाओं को कथा के माध्यम से संसार की असारता का प्रतिपादन करतीं। कर्म के मर्म को समझातीं। उनका मानना था कि बालकों को और सामान्य प्राणियों को कथा के माध्यम से ही उपदेश देना चाहिए जिससे वह उपदेश ग्रहण कर सके। उन्होंने मुझे बाल्यकाल में सैकड़ों कथाएँ सुनाई थीं। सन् १९४९ में तीन दिन के संथारे के साथ उदयपुर में उनका स्वर्गवास हुआ।

(६) **महासती सल्लेकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी और आपका उदयपुर में ही मेहता परिवार में पाणिग्रहण हुआ। आप को महासतीजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य-भावना जागृत हुई और अपनी पुत्री सज्जनकुँवर के साथ आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आप सेवापरायणा साध्वी थीं।

(७) **महासती सज्जनकुँवरजी**—आपकी माता का नाम सल्लेकुँवर था और आपने माँ के साथ ही महासतीजी की सेवा में दीक्षा ग्रहण की थी।

(८) **महासती तीजकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिर-पाल गाँव में थी। आपका पाणिग्रहण उसी गाँव में सेठ रोडमलजी भोगर के साथ सम्पन्न हुआ। गृहस्थाश्रम में आपका नाम गुलाबदेवी था। आपके दो पुत्र थे जिनका नाम प्यारेलाल और भैरूलाल था तथा एक पुत्री थी जिसका नाम खमाकुँवर था। आपने महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर दो पुत्र और एक पुत्री के साथ दीक्षा ग्रहण की। आपके पति का स्वर्गवास बहुत पहले हो चुका था। आपश्री ने श्रमणी-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् नौ बार मासखमण की तपस्याएँ कीं, सोलह वर्षों तक आपने एक घी के अतिरिक्त दूध, दही, तेल और मिष्ठान इन चार विगयों का त्याग

किया। एक बार आपको प्रातःकाल सपना आया—आपने देखा कि एक घड़े के समान वृहत्काय मोती चमक रहा है। अतः जागृत होते ही आपने स्वप्न-फल पर चिन्तन करते हुए विचार किया है अब मेरा एक दिन का ही आयु शेष है। अतः संथारा कर अपने जीवन को पवित्र बनाऊँ। आपने संथारा किया और एक दिन का संथारा कर स्वर्गस्थ हुईं।

(६) **परम विदुषी महासती श्री सोहनकुँवरजी**—आपश्री की जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव में थी और जन्म सं० १९४९ (सन् १८९२) में हुआ। आपके पिताश्री का नाम रोडमलजी और माता का नाम गुलाबदेवी था और आपका सांसारिक नाम खमाकुंवर था। नौ बरस की लवय्य में ही आपका वाग्दान डुंगावतों के गुडे के तकतमलजी के साथ हो गया। किन्तु परम विदुषी महासती रायकुँवरजी और कविवर्य पं० मुनि नेमीचन्दजी महाराज के त्याग-वैराग्ययुक्त उपदेश को श्रवण कर आपमें वैराग्य भावना जाग्रत हुई और जिनके साथ वाग्दान किया गया था उनका सम्बन्ध छोड़कर अपनी मातेश्वरी और अपने जेष्ठ भ्राता प्यारेलाल और भैरूलाल के साथ क्रमशः महासती राजकुंवरजी और कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के पास जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षास्थली पचभद्रा (बाडमेर) में थी और दोनों ने शिवगंज (जोधपुर) में दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपके भ्राताओं की उम्र १३ और १४ वर्ष की थी और आपकी उम्र ९ वर्ष की। दोनों भ्राता बड़े ही मेधावी थे। कुछ ही वर्षों में उन्होंने आगम साहित्य का गहरा अध्ययन किया। किन्तु दोनों ही युवावस्था में क्रमशः मदार (मेवाड़) और जयपुर में संथारा कर स्वर्गस्थ हुए।

खमाकुंवर का दीक्षा नाम महासती सोहनकुंवरजी रखा गया। आप बालब्रह्मचारिणी थीं। आपने दीक्षा ग्रहण करते ही आगम साहित्य का गहरा अध्ययन प्रारम्भ किया और साथ ही थोकड़े साहित्य का भी। आपने शताधिक रास, चौपाइयाँ तथा भजन भी कण्ठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जिस समय आप प्रवचन करती थीं विविध आगम रहस्यों के साथ रूपक, दोहे, कवित्त श्लोक और उर्दू शायरी का भी यत्र-तत्र उपयोग करती थीं। विषय के अनुसार आपकी भाषा में कभी ओज और कभी शान्तरस प्रवाहित होता था और जनता आपके प्रवचनों को सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाती थी।

अध्ययन के साथ ही तप के प्रति आपकी स्वाभाविक रुचि थी। माता के संस्कारों के साथ तप की परम्परा आपको विरासत में मिली थी। आपने अपने जीवन की पवित्रता हेतु अनेक नियम ग्रहण किये थे, उनमें से कुछ नियमों की सूची इस प्रकार है—

(१) पंच पर्व दिनों में आयंबिल, उपवास, एकासन, नीवि आदि में से कोई न कोई तप अवश्य करना।

कौन-सा जीव है जो एकान्त मिथ्यादृष्टि है और साथ ही एकान्त शुक्ललेश्यी भी। क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं। महासतीजी ने कहा—तेरह सागर की स्थिति वाले किल्विषी देव में एकान्त मिथ्यादृष्टि होती है और साथ ही वे एकान्त शुक्ल-लेश्यी भी हैं।

इस प्रकार उन्नीस प्रश्नों के उत्तरों को सुनकर आचार्य प्रवर और सभा प्रमुदित हो गयी और उन्होंने कहा—मैंने कई सन्त-सतियाँ देखीं, पर इनके जैसी प्रतिभासम्पन्न साध्वी नहीं देखी। महासती मदनकुँवरजी जिस प्रकार प्रकृष्ट प्रतिभा की धनी थीं उसी प्रकार उत्कृष्ट आचारनिष्ठा भी थीं। गुप्त तप उन्हें पसन्द था। प्रदर्शन से वे कोसों दूर भागती थीं। वे साध्वियों के आहारादि से निवृत्त होने पर जो अवशेष आहार बच जाता और पात्र धोने के बाद जो पानी बाहर डालने का होता उसी को पीकर संतोष कर लेतीं। कई बार नन्हीं सी गुड़ की डेली या शक्कर लेकर मुँह में डाल लेती। यदि कोई उनसे पूछता—क्या आज आपके उपवास है, वे कहतीं—नहीं, मैंने तो मीठा खाया है।

उनमें सेवा का गुण भी गजब का था। उन्हें हजारों जैन कथाएं और लोक कथाएँ स्मरण थीं। समय-समय पर बालक और बालिकाओं को कथा के माध्यम से संसार की असारता का प्रतिपादन करतीं। कर्म के मर्म को समझातीं। उनका मानना था कि बालकों को और सामान्य प्राणियों को कथा के माध्यम से ही उपदेश देना चाहिए जिससे वह उपदेश ग्रहण कर सके। उन्होंने मुझे बाल्यकाल में सैकड़ों कथाएँ सुनाई थीं। सन् १९४९ में तीन दिन के संथारे के साथ उदयपुर में उनका स्वर्गवास हुआ।

(६) **महासती सल्लेकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी और आपका उदयपुर में ही मेहता परिवार में पाणिग्रहण हुआ। आप को महासतीजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य-भावना जागृत हुई और अपनी पुत्री सज्जनकुँवर के साथ आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आप सेवापरायणा साध्वी थीं।

(७) **महासती सज्जनकुँवरजी**—आपकी माता का नाम सल्लेकुँवर था और आपने माँ के साथ ही महासतीजी की सेवा में दीक्षा ग्रहण की थी।

(८) **महासती तीजकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिर-पाल गाँव में थी। आपका पाणिग्रहण उसी गाँव में सेठ रोडमलजी भोगर के साथ सम्पन्न हुआ। गृहस्थाश्रम में आपका नाम गुलाबदेवी था। आपके दो पुत्र थे जिनका नाम प्यारेलाल और भैरूलाल था तथा एक पुत्री थी जिसका नाम खमाकुँवर था। आपने महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर दो पुत्र और एक पुत्री के साथ दीक्षा ग्रहण की। आपके पति का स्वर्गवास बहुत पहले हो चुका था। आपश्री ने श्रमणी-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् नौ बार मासखमण की तपस्याएँ कीं, सोलह वर्षो तक आपने एक घी के अतिरिक्त दूध, दही, तेल और मिष्ठान इन चार विगयों का त्याग

किया। एक बार आपको प्रातःकाल सपना आया—आपने देखा कि एक घड़े के समान वृहत्काय मोती चमक रहा है। अतः जागृत होते ही आपने स्वप्न-फल पर चिन्तन करते हुए विचार किया है अब मेरा एक दिन का ही आयु शेष है। अतः संथारा कर अपने जीवन को पवित्र बनाऊँ। आपने संथारा किया और एक दिन का संथारा कर स्वर्गस्थ हुई।

(६) परम विदुषी महासती श्री सोहनकुँवरजी—आपश्री की जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव में थी और जन्म सं० १६४६ (सन् १८९२) में हुआ। आपके पिताश्री का नाम रोडमलजी और माता का नाम गुलाबदेवी था और आपका सांसारिक नाम खमाकुंवर था। नौ वरस की लघवय में ही आपका वाग्दान डुलाव्रतों के गुडे के तकतमलजी के साथ हो गया। किन्तु परम विदुषी महासती राय-कुँवरजी और कविवर्य पं० मुनि नेमीचन्दजी महाराज के त्याग-वैराग्ययुक्त उपदेश को श्रवण कर आपमें वैराग्य भावना जाग्रत हुई और जिनके साथ वाग्दान किया गया था उनका सम्बन्ध छोड़कर अपनी मातेश्वरी और अपने ज्येष्ठ भ्राता प्यारेलाल और भैरूलाल के साथ क्रमशः महासती राजकुंवरजी और कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के पास जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षास्थली पचभद्रा (बाड़मेर) में थी और दोनों ने शिवगंज (जोधपुर) में दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपके भ्राताओं की उम्र १३ और १४ वर्ष की थी और आपकी उम्र ६ वर्ष की। दोनों भ्राता बड़े ही मेधावी थे। कुछ ही वर्षों में उन्होंने आगम साहित्य का गहरा अध्ययन किया। किन्तु दोनों ही युवावस्था में क्रमशः मदार (मेवाड़) और जयपुर में संथारा कर स्वर्गस्थ हुए।

खमाकुँवर का दीक्षा नाम महासती सोहनकुँवरजी रखा गया। आप बाल-ब्रह्मचारिणी थीं। आपने दीक्षा ग्रहण करते ही आगम साहित्य का गहरा अध्ययन प्रारम्भ किया और साथ ही थोकड़े साहित्य का भी। आपने शताधिक रास, चौपा-इयाँ तथा भजन भी कण्ठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जिस समय आप प्रवचन करती थीं विविध आगम रहस्यों के साथ रूपक, दोहे, कवित्त श्लोक और उर्दू शायरी का भी यत्र-तत्र उपयोग करती थीं। विषय के अनुसार आपकी भाषा में कभी ओज और कभी शान्तरस प्रवाहित होता था और जनता आपके प्रवचनों को सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाती थी।

अध्ययन के साथ ही तप के प्रति आपकी स्वाभाविक रुचि थी। माता के संस्कारों के साथ तप की परम्परा आपको विरासत में मिली थी। आपने अपने जीवन की पवित्रता हेतु अनेक नियम ग्रहण किये थे, उनमें से कुछ नियमों की सूची इस प्रकार है—

(१) पंच पर्व दिनों में आयंबिल, उपवास, एकासन, नीवि आदि में से कोई न कोई तप अवश्य करना।

(२) बारह महीने में छह महीने तक चार विगय ग्रहण नहीं करना। केवल एक विगय का ही उपयोग करना।

(३) छः महीने तक अचित्त हरी सब्जी आदि का भी उपयोग नहीं करना।

(४) चाय का परित्याग।

(५) उन्होंने महासती कुसुमवतीजी, महासती पुष्पवतीजी और महासती प्रभावतीजी[1] ये तीन शिष्याएँ बनायीं। उसके पश्चात् उन्होंने अपनी नेश्राय में शिष्याएँ बनाना त्याग दिया। यद्यपि उन्होंने पहले भी तीस-पैंतीस साध्वियों को दीक्षा प्रदान की किन्तु उन्हें अपनी शिष्याएँ नहीं बनायीं।

(६) प्लास्टिक, सेलूलाइड आदि के पात्र, पट्टी आदि कोई वस्तु अपनी नेश्राय में न रखने का निर्णय लिया।

(७) जो उनके पास पात्र थे उनके अतिरिक्त नये पात्र ग्रहण करने का भी उन्होंने त्याग कर दिया।

(८) एक दिन में पाँच द्रव्य से अधिक द्रव्य ग्रहण न करना।

(९) प्रतिदिन कम से कम पच्चीसों गाथाओं की स्वाध्याय करना।

(१०) बारह महीने में एक बार पूर्ण बत्तीस आगमों की स्वाध्याय करना।

इस प्रकार उन्होने अपने जीवन को अनेक नियम और उपनियमों से आबद्ध बनाया। उनके जीवन में वैराग्य भावना अटखेलियाँ करती थीं। यही कारण है कि अजमेर में सन् १९६३ में श्रमणी संघ ने मिलकर आपको चन्दनबाला श्रमणी संघ की अध्यक्षा नियुक्त किया और श्रमणसंघ के उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज समय-समय पर अन्य साध्वियों को प्रेरणा देते हुए कहते कि देखो, विदुषी महासती सोहनकुँवरजी कितनी पवित्र आत्मा है। उनका जीवन त्याग-वैराग्य का साक्षात् प्रतीक है। तुम्हें इनका अनुसरण करना चाहिए।

विदुषी महासती सोहनकुँवरजी जहाँ ज्ञान और ध्यान में तल्लीन थीं वहाँ उन्होंने उत्कृष्ट तप की भी अनेक बार साधनाएँ कीं। उनके तप की सूची इस प्रकार हैं—

३३	३२	३१	२४	२३	२२	२१	२०	१७
२	१	१	२	१	२	१	२	३

१६	१५	१०	९	८	६	५	४	३	२
३	१३	१०	१०	५०	४०	४०	६५	६१	८०

---

1 इन तीनों के परिचय के लिए देखिए— 'वर्तमान युग की साध्वियाँ'।
—ले० राजेन्द्रमुनि साहित्यरत्न

जब भी आप तप करतीं तब पारणे में तीन पौरसी करती थीं या पारणे के दिन आयंबिल तप करतीं जिससे पारणे में औद्देशिक और नैमित्तिक आदि दोष न लगे।

बाह्य तप के साथ आन्तरिक तप की साधना भी आपकी निरन्तर चलती रहती थी। सेवा भावना आप में कूट-कूट कर भरी हुई थी। आप स्व-सम्प्रदाय की साध्वियों की ही नहीं किन्तु अन्य सम्प्रदाय की साध्वियों की भी उसी भावना से सेवा करती थीं। आपके अन्तर्मानस में स्व और पर का भेद नहीं था।

आचार्य गणेशीलालजी महाराज की शिष्याएँ केसरकुंवरजी, जो साइकिल से अक्सिडेण्ट होकर सड़क पर गिर पड़ी थीं, सन्ध्या का समय था, आप अपनी साध्वियों के साथ शौच भूमि के लिए गयी। वहाँ पर उन्हें दयनीय स्थिति में गिरी हुई देखा। उस समय आपके दो चद्दर ओढ़ने को थीं, उनमें से आपने एक चादर की झोली बनाकर और सतियों की सहायता से स्थानक पर उठाकर लायीं और उनकी अत्यधिक सेवा-सुश्रूषा की। इसी प्रकार महासती नायकुंवरजी आदि की भी आपने अत्यधिक सेवा सुश्रूषा की और अन्तिम समय में उन्हें संथारा आदि करवाकर सहयोग दिया। आचार्य हस्तीमलजी महाराज की शिष्याएँ महासती अमरकुंवर जी, महासती धनकुंवरजी, महासती गोगाजी आदि अनेक सतियों की सुश्रूषा की और संथारा आदि करवाने में अपूर्व सहयोग दिया।

सन् १९६३ में अजमेर के प्रांगण में श्रमण संघ का शिखर सम्मेलन हुआ। उस अवसर पर वहाँ पर अनेक महासतियाँ एकत्रित हुईं। उन सभी ने चिन्तन किया कि सन्तों के साथ हमें भी एकत्रित होकर कुछ कार्य करना चाहिए। उन सभी ने वहाँ पर मिलकर अपनी स्थिति पर चिन्तन किया कि भगवान महावीर के पश्चात् आज दिन तक सन्तों के अधिक सम्मेलन हुए, किन्तु श्रमणियों का कोई भी सम्मेलन आज तक नहीं हुआ और न श्रमणियों की परम्परा का इतिहास भी सुरक्षित है। भगवान महावीर के पश्चात् साध्वी परम्परा का व्यवस्थित इतिहास न मिलना हमारे लिए लज्जास्पद है जबकि श्रमणों की तरह श्रमणियों ने भी आध्यात्मिक साधना में अत्यधिक योगदान दिया है। इसका मूल कारण है एकता व एक समाचारी का अभाव। अतः उन्होंने श्री वर्द्धमान चन्दनबाला श्रमणी संघ का निर्माण किया और श्रमणियों के ज्ञान दर्शन चारित्र के विकास हेतु इक्कीस नियमों का निर्माण किया। उसमें पच्चीस प्रमुख साध्वियों की समिति का निर्माण हुआ। चन्दनबाला श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी पद पर सर्वानुमति से आपश्री को नियुक्त किया गया जो आपकी योग्यता का स्पष्ट प्रतीक था।

राजस्थान प्रान्त में रहने के बावजूद भी आपका मस्तिष्क संकुचित विचारों से ऊपर उठा हुआ था। यही कारण है कि सर्वप्रथम राजस्थान में साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा के उच्चतम अध्ययन करने के लिए आपके अन्तर्मानस में

भावनाएँ जागृत हुईं। आपने अपनी सुशिष्या महासती कुसुमवतीजी, पुष्पावतीजी, चन्द्रावतीजी आदि को क्विंस कालेज बनारस की, संस्कृत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की साहित्यरत्न प्रभृति उच्चतम परीक्षाएँ दिलवायीं। उस समय प्राचीन विचारधारा के व्यक्तियों ने आपश्री का डटकर विरोध किया कि साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का उच्च अध्ययन न कराया जाय और न ही परीक्षा ही दिलवायी जाएँ। तब आपने स्पष्ट शब्दों में कहा—साधुओं की तरह साध्वियों के भी अध्ययन करने का अधिकार है। आगम साहित्य में साध्वियों के अध्ययन का उल्लेख है। युग के अनुसार यदि साध्वियाँ संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अध्ययन नहीं करेंगीं तो आगम और उसके साहित्य को पढ़ नहीं सकतीं और विना पढ़े आगमों के रहस्य समझ में नहीं आ सकते। इसका विरोधियों के पास कोई उत्तर नहीं था। आप विरोध को विनोद मानकर अध्ययन करवाती रहीं। उसके पश्चात् स्थानकवासी परम्परा में अनेक मूर्धन्य साध्वियाँ तैयार हुईं। आज अनेक साध्वियाँ एम. ए., पी. एच-डी भी हो गयी हैं। यह था आपका शिक्षा के प्रति अनुराग।

आपने अनेक व्यक्तियों को प्रतिबोध दिया। जब अन्य सन्त व सतीजन अपनी शिष्या बनाने के लिए उत्सुक रहती हैं तब आपकी यह विशेषता थी कि प्रतिबोध देकर दूसरों के शिष्य व शिष्याएँ बनाती थीं। आपने अपने हाथों से ३०-३५ बालिकाओं और महिलाओं को दीक्षाएँ दीं पर सभी को अन्य नामों से ही घोषित किया। अपनी ज्येष्ठ गुरु बहिन महासती मदनकुंवरजी के अत्यधिक आग्रह पर उनकी आज्ञा के पालन हेतु तीन शिष्याओं को अपनी नेश्राय में रखा। यह थी आप में अपूर्व निस्पृहता। मुझे भी (देवेन्द्र मुनि) आद्य प्रतिबोध देने वाली आप ही थीं।

आपके जीवन में अनेक सद्गुण थे जिसके कारण आप जहाँ भी गयीं, वहाँ जनता जनार्दन के हृदय को जीता। आपने अहमदाबाद, पालनपुर, इन्दौर, जयपुर अजमेर, जोधपुर, ब्यावर, पाली, उदयपुर, नाथद्वारा, प्रभृति अनेक क्षेत्रों में वर्षावास किये, सेवा भावना से प्रेरित होकर अपनी गुरु बहिनों की तथा अन्य साध्वियों की वृद्धावस्था के कारण दीर्घकाल तक आप उदयपुर में स्थानापन्न रहीं।

सन् १९६६ में आपका वर्षावास पाली में था। कुछ समय से आपको रक्तचाप की शिकायत थी, पर आपश्री का आत्मतेज अत्यधिक था जिसके कारण आप कहीं पर भी स्थिरवास नहीं विराजीं। सन् १९६६ (सं २०२३) में भाद्र शुक्ला १३ को संथारे के साथ रात्रि में आपका स्वर्गवास हुआ। आप महान प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं। आपके स्वर्गवास से एक तेजस्वी महासती की क्षति हुई। आपका तेजस्वी जीवन जन-जन को सदा प्रेरणा देता रहेगा।

विदुषी महासती श्री सोहनकुंवर महासती की प्रथम शिष्या विदुषी महासती कुसुमवतीजी हैं। उनकी चार शिष्याएँ हैं—बालब्रह्मचारिणी महासती चारित्रप्रभाजी बालब्रह्मचारिणी महासती दिव्यप्रभाजी, बालब्रह्मचारिणी दर्शनप्रभाजी और विदुषी

महासती पुष्पवतीजी द्वितीय शिष्या हैं। उनकी तीन शिष्याएँ हैं—बालब्रह्मचारिणी चन्द्रावतीजी, बालब्रह्मचारिणी, प्रियदर्शनाजी और बालब्रह्मचारिणी किरणप्रभाजी।

तृतीय सुशिष्या प्रज्ञामूर्ति महासती प्रभावतीजी थी। आप प्रबल प्रतिभा की धनी, आगम और दर्शन की गम्भीर ज्ञाता थीं। आपने आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, विपाक, सूत्रकृतांग, प्रभृति अनेक आगम कंठस्थ किये थे और साथ ही आगम के रहस्यों को समुद्‌घाटित करने वाले ४००-५०० थोकड़े भी कंठस्थ थे। जिससे आगम की गुरु गम्भीर ग्रन्थियों को अपनी प्रकृष्ट मेधा से उद्‌घाटित कर देती थी। नन्दीसूत्र के प्रति अत्यधिक अनुराग था। उसकी स्वाध्याय दिन में अनेकों बार करती थी। आपकी प्रवचन कला सहज थी। प्रवचन में आगम के रहस्यों को सहज और सुगम रूप से प्रस्तुत करती थीं। और उसके लिए आगमिक उदाहरणों के साथ लौकिक जन-जीवन में घटित होने वाली घटनाओं के माध्यम से स्पष्टीकरण करती, जिससे श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाता था। आप कवयित्री थी। आपकी कविता में शब्दाडम्बर नहीं, पर भावों की प्रमुखता थी। जब कभी भी भावों का ज्वार उठता; वह सहज ही भाषा के रूप में ढल जाता। कविता बनाने के लिए उन्हें प्रयास करने की आवश्यकता नहीं थी, वह सहज ही बन जाती। अरिहंत देव की स्तुति करते हुए उनकी हृत्‌तंत्री के तार इस प्रकार झनझनाये हैं—

"जय अरिहंताणं, अरिहंत देव भगवान्,
जय अरिहंताणं, धर अरिहंतां रो ध्यान ......
पाँच पदा में प्रथम पद, मदरहित निरापद जान।

ज्ञान का महत्व प्रतिपादित करते हुए आगम की शब्दावली को अपनी सहज भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया है मानो आगम का रस-पान ही कर लिया है। वह तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति कितनी सुबोध है—

"ज्ञान जो होगा नहीं तो, हो नहीं सकती दया।
आगमों में वीर द्वारा, वचन फरमाया गया....
ज्ञान जीवाऽजीव का पहले जरूरी चाहिए।
फिर क्रियाएँ कीजिए, रस प्राप्त हो सकता नया॥

ध्यान जीवनोत्कर्ष की मंगलमय साधना है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का सर्वोच्च उपाय है। ध्यान कहने की नहीं करने की साधना है। और वह कला वही व्यक्ति बता सकता है, जिसने स्वयं ध्यान की साधना सिद्ध की है। देखिए उन्हीं के शब्दों में—

"इस मन को स्थिर करना चाहो तो,
ध्यान साधना करना जी.......

भावनाएँ जागृत हुई। आपने अपनी सुशिष्या महासती कुसुमवतीजी, पुष्पावतीजी, चन्द्रावतीजी आदि को क्विन्स कालेज बनारस की, संस्कृत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की साहित्यरत्न प्रभृति उच्चतम परीक्षाएँ दिलवायीं। उस समय प्राचीन विचार-धारा के व्यक्तियों ने आपश्री का डटकर विरोध किया कि साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का उच्च अध्ययन न कराया जाय और न ही परीक्षा ही दिलवायी जाएँ। तब आपने स्पष्ट शब्दों में कहा—साधुओं की तरह साध्वियों के भी अध्ययन करने का अधिकार है। आगम साहित्य में साध्वियों के अध्ययन का उल्लेख है। युग के अनुसार यदि साध्वियाँ संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अध्ययन नहीं करेंगी तो आगम और उसके साहित्य को पढ़ नहीं सकतीं और बिना पढ़े आगमों के रहस्य समझ में नहीं आ सकते। इसका विरोधियों के पास कोई उत्तर नहीं था। आप विरोध को विनोद मानकर अध्ययन करवाती रहीं। उसके पश्चात् स्थानकवासी परम्परा में अनेक मूर्धन्य साध्वियाँ तैयार हुईं। आज अनेक साध्वियाँ एम. ए., पी. एच-डी भी हो गयी हैं। यह था आपका शिक्षा के प्रति अनुराग।

आपने अनेक व्यक्तियों को प्रतिबोध दिया। जब अन्य सन्त व सतीजन अपनी शिष्या बनाने के लिए उत्सुक रहती हैं तब आपकी यह विशेषता थी कि प्रतिबोध देकर दूसरों के शिष्य व शिष्याएँ बनाती थीं। आपने अपने हाथों से ३०-३५ बालिकाओं और महिलाओं को दीक्षाएँ दीं पर सभी को अन्य नामों से ही घोषित किया। अपनी ज्येष्ठ गुरु बहिन महासती मदनकुंवरजी के अत्यधिक आग्रह पर उनकी आज्ञा के पालन हेतु तीन शिष्याओं को अपनी नेश्राय में रखा। यह थी आप में अपूर्व निस्पृहता। मुझे भी (देवेन्द्र मुनि) आद्य प्रतिबोध देने वाली आप ही थीं।

आपके जीवन में अनेक सद्गुण थे जिसके कारण आप जहाँ भी गयीं, वहाँ जनता जनार्दन के हृदय को जीता। आपने अहमदाबाद, पालनपुर, इन्दौर, जयपुर अजमेर, जोधपुर, ब्यावर, पाली, उदयपुर, नाथद्वारा, प्रभृति अनेक क्षेत्रों में वर्षावास किये, सेवा भावना से प्रेरित होकर अपनी गुरु बहिनों की तथा अन्य साध्वियों की वृद्धावस्था के कारण दीर्घकाल तक आप उदयपुर में स्थानापन्न रहीं।

सन् १९६६ में आपका वर्षावास पाली में था। कुछ समय से आपको रक्तचाप की शिकायत थी, पर आपश्री का आत्मतेज अत्यधिक था जिसके कारण आप कहीं पर भी स्थिरवास नहीं विराजीं। सन् १९६६ (सं २०२३) में भाद्र शुक्ला १३ को संथारे के साथ रात्रि में आपका स्वर्गवास हुआ। आप महान प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं। आपके स्वर्गवास से एक तेजस्वी महासती की क्षति हुई। आपका तेजस्वी जीवन जन-जन को सदा प्रेरणा देता रहेगा।

विदुषी महासती श्री सोहनकुंवर महासती की प्रथम शिष्या विदुषी महासती कुसुमवतीजी हैं। उनकी चार शिष्याएँ हैं—बालब्रह्मचारिणी महासती चारित्रप्रभाजी, बालब्रह्मचारिणी महासती दिव्यप्रभाजी, बालब्रह्मचारिणी दर्शनप्रभाजी और विदुषी

महासती पुष्पवतीजी द्वितीय शिष्या हैं। उनकी तीन शिष्याएँ हैं—बालब्रह्मचारिणी चन्द्रावतीजी, बालब्रह्मचारिणी, प्रियदर्शनाजी और बालब्रह्मचारिणी किरणप्रभाजी।

तृतीय सुशिष्या प्रज्ञामूर्ति महासती प्रभावतीजी थी। आप प्रबल प्रतिभा की धनी, आगम और दर्शन की गम्भीर ज्ञाता थीं। आपने आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, विपाक, सूत्रकृतांग, प्रभृति अनेक आगम कंठस्थ किये थे और साथ ही आगम के रहस्यों को समुद्घाटित करने वाले ४००-५०० थोकड़े भी कंठस्थ थे। जिससे आगम की गुरु गम्भीर ग्रन्थियों को अपनी प्रकृष्ट मेधा से उद्घाटित कर देती थी। नन्दीसूत्र के प्रति अत्यधिक अनुराग था। उसकी स्वाध्याय दिन में अनेकों बार करती थी। आपकी प्रवचन कला सहज थी। प्रवचन में आगम के रहस्यों को सहज और सुगम रूप से प्रस्तुत करती थीं। और उसके लिए आगमिक उदाहरणों के साथ लौकिक जन-जीवन में घटित होने वाली घटनाओं के माध्यम से स्पष्टीकरण करती, जिससे श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाता था। आप कवयित्री थी। आपकी कविता में शब्दाडम्बर नहीं, पर भावों की प्रमुखता थी। जब कभी भी भावों का ज्वार उठता, वह सहज ही भाषा के रूप में ढ़ल जाता। कविता बनाने के लिए उन्हें प्रयास करने की आवश्यकता नहीं थी, वह सहज ही बन जाती। अरिहंत देव की स्तुति करते हुए उनकी हृत्तंत्री के तार इस प्रकार झनझनाये हैं—

"जय अरिहंताणं, अरिहंत देव भगवान्,
जय अरिहंताणं, धर अरिहंतां रो ध्यान ......
पाँच पदा में प्रथम पद, मदरहित निरापद जान।

ज्ञान का महत्व प्रतिपादित करते हुए आगम की शब्दावली को अपनी सहज भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया है मानो आगम का रस-पान ही कर लिया है। वह तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति कितनी सुबोध है—

"ज्ञान जो होगा नही तो, हो नहीं सकती दया।
आगमों में वीर द्वारा, वचन फरमाया गया....
ज्ञान जीवाऽजीव का पहले जरूरी चाहिए।
फिर क्रियाएँ कीजिए, रस प्राप्त हो सकता नया॥

ध्यान जीवनोत्कर्ष की मंगलमय साधना है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का सर्वोच्च उपाय है। ध्यान कहने की नहीं करने की साधना है। और वह कला वही व्यक्ति बता सकता है, जिसने स्वयं ध्यान की साधना सिद्ध की है।
शब्दों में—

"इस मन को स्थिर करना चाहो तो
ध्यान साधना करना जी

स्थिर आसन हो, स्थिर वचन और तन
चंचल वातावरण नहीं।
स्थिर योग-साधना करके को फिर, स्थिर होते क्यों करण नहीं
स्थिर ध्यान-साधना हो जाने से, मरने से क्या डरना जी ॥१॥

उनके बनाये हुए शताधिक भजन हैं और एक-दो खण्ड-काव्य भी हैं। उनके द्वारा लिखित कहानी संग्रह 'जीवन की चमकती प्रभा' के नाम से प्रकाशित हुआ है और तीन-चार कहानी-संग्रह की पुस्तकें अप्रकाशित हैं। 'आगम के अनमोल मोती-तीन भाग' भी प्रकाशन के पथ पर हैं।

आपका जन्म वि० सं० १९७० (सन् १९१३) में गोगुन्दा ग्राम में हुआ था। आपके पूज्य पिता श्री का नाम सेठ हीरालाल जी तथा मातेश्वरी का नाम प्यारी बाई था। आपके अन्तर्मानस में वैराग्य-भावना प्रारम्भ से ही थी। किन्तु पारिवारिक जनों के आग्रह से आपका पाणिग्रहण उदयपुर निवासी श्री कन्हैयालाल जी बरड़िया के सुपुत्र जीवन सिंह जी बरड़ियाँ के साथ सन् १९२८ में सम्पन्न हुआ।

श्री जीवनसिंह जी बरड़िया उदयपुर के एक लब्धप्रतिष्ठित कपड़े के व्यापारी थे। आपका बहुत ही लघुवय यानी चौदह वर्ष की उम्र में प्रथम पाणिग्रहण एडवोकेट श्रीमान् अर्जुनलाल जी भंसाली की सुपुत्री प्रेमकुमारी के साथ सम्पन्न हुआ। उनसे एक पुत्री हुई। उनका नाम सुन्दरकुमारी रखा गया। कुछ वर्षों के पश्चात् प्रेमकुमारी का देहावसान हो जाने से चौबीस वर्ष की उम्र में आपका द्वितीय विवाह हुआ। आपके दो पुत्र हुए—एक का नाम बसन्तकुमार और दूसरे का नाम धन्नालाल रखा गया। बसन्तकुमार डेढ़ माह के बाद ही संसार से चल बसा। और २७ वर्ष की उम्र में संथारे के साथ जीवनसिंह जी भी स्वर्गस्थ हो गये। पुत्र और पति के स्वर्गस्थ होने पर वैराग्यभावना जो प्रारम्भ में अन्तर्मानस में दबी हुई थी, वह साध्वी रत्न महासती श्री सोहनकुँवर जी के पावन उपदेश को सुनकर उद्बुद्ध हो उठी। जिस समय पति का स्वर्गवास हुआ, उस समय द्वितीय पुत्र धन्नालाल सिर्फ ११ दिन का ही था। अतः महासतीजी ने कर्तव्य-बोध कराते हुए कहा—अभी तुम्हारी पुत्री सुन्दरकुमारी सिर्फ 7 वर्ष की है और बालक धन्नालाल कुछ ही दिन का है। पहले इनका लालन-पालन करो, सम्भव है, ये भी जिनशासन में दीक्षित हो जायें। सद्गुरुणी जी की प्रेरणा से आप गृहस्थाश्रम में रहीं। पर पूर्ण रूप से सांसारिक भावना से उपरत ! आपने वि० सं० १९९८ (सन् १९४१ में) में अषाढ़ सुदी तृतीया को आर्हती दीक्षा ग्रहण की। वैराग्य अवस्था में ही आपको आगम व दर्शन का इतना गहरा ज्ञान था कि दीक्षा लेते ही सद्गुरुणी जी की आज्ञा से सिंघाड़ापति होकर स्वतंत्र वर्षावास किया। आपकी प्रवचन कला इतनी प्रभावोत्पादक थी कि श्रोता मंत्र-मुग्ध रह जाते। आपने दीक्षा लेने के पूर्व अपनी पुत्री सुन्दर-

कुमारी और अपने पुत्र धन्नालाल की उत्कृष्ट वैराग्य भावना देख कर दीक्षा की अनुमति प्रदान की थी। पुत्री ने वि० सं० १९९४ (सन् १९३७) में माघ शुक्ला १३ को सद्गुरुणीजी श्री सोहनकुँवर जी म० के पास दीक्षा ग्रहण की थी और संस्कृत, प्राकृत, न्याय और काव्य का उच्चतम अध्ययन किया। क्वीन्स कॉलेज-बनारस की व्याकरण, काव्य, मध्यमा, साहित्यरत्न (प्रयाग) तथा न्याय-काव्यतीर्थ आदि परीक्षायें समुत्तीर्ण कीं। और धन्नालाल ने उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० के पास दीक्षा ग्रहण की और श्रमण जीवन का नाम 'देवेन्द्रमुनि' रखा गया। आपकी चार शिष्याएँ हुईं—१. महासती श्रीमतीजी २. महासती प्रेमकुँवरजी ३. महासती चन्द्रकुँवरजी और ४. महासती बालब्रह्मचारिणी हर्षप्रभाजी।

जीवन की सांध्य वेला तक धर्म की अखण्ड ज्योति जगाती हुई राजस्थान, मध्यभारत, में आपका विचरण रहा। आपने अपने त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचनों से व्याख्यान वाचस्पति गणेश मुनि जी "शास्त्री", रमेश मुनि जी "शास्त्री", राजेन्द्र मुनि जी "शास्त्री" और दिनेश मुनि जी "विशारद" को त्याग-मार्ग की ओर उत्प्रेरित किया। दि० २७ जनवरी १९८२ को आपका 'खैरोदा' ग्राम में समाधि पूर्वक संथारे के साथ स्वर्गवास हुआ।

आपका भौतिक शरीर भले ही वर्तमान में विद्यमान नहीं है पर आप यशः शरीर से आज भी जीवित हैं और भविष्य में सदा जीवित रहेंगीं। काल की क्रूर छाया भी उनके तेजस्वी व्यक्तित्व एवं कृतित्व को धूमिल नहीं बना सकती।

इस प्रकार प्रस्तुत परम्परा वर्तमान में चल रही है। इस परम्परा में अनेक परम विदुषी साध्वियाँ है।

परम विदुषी महासती सद्दाजी की एक शिष्या फत्तूजी हुई, जिनके सम्बन्ध में हम पूर्व सूचित कर चुके हैं। महासती फत्तूजी का विहार क्षेत्र मुख्य रूप से मारवाड़ रहा। उनकी अनेक शिष्याएँ हुईं और उन शिष्याओं की परम्पराओं में भी अनेक शिष्याएँ समय-समय पर हुई। मारवाड़ के उस प्रान्त में जहाँ स्त्रीशिक्षा का पूर्ण अभाव था, वहाँ पर उन साध्वियों ने त्याग-तप के साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति की। क्योंकि कई साध्वियों के हाथों की लिखी हुई प्रतियाँ प्राप्त होती हैं, जो उनकी शिक्षा-योग्यता का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है। पर परिताप है कि उनके सम्बन्ध में प्रयास करने पर भी मुझे व्यवस्थित सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी। इस लिए अनुक्रम में उनके सम्बन्ध में लिखना बहुत ही कठिन है। जितनी भी सामग्री प्राप्त हो सकी है, उसी के आधार से मैं यहाँ लिख रहा हूँ। यदि राजस्थान के अमर जैन ज्ञान भण्डार में व्यवस्थित सामग्री मिल गयी तो बाद में इस सम्बन्ध में परिष्कार भी किया जा सकेगा।

फत्तूजी की शिष्या-परम्परा में महासती आनन्दकुँवरजी एक तेजस्वी साध्वी

थीं। उनकी बाईस शिष्याएँ थीं जिनमें से कुछ साध्वियों के नाम प्राप्त हो सके हैं। महासती आनन्दकुंवरजी ने कब दीक्षा ली यह निश्चित संवत् नहीं मिल सका। उनका स्वर्गवास सं० १९८१ पौष शुक्ला १२ को जोधपुर में संथारे के साथ हुआ। महासती आनन्दकुंवरजी के पास ही पं० नारायणचन्दजी महाराज की मातेश्वरी राजाजी ने और नारायणदासजी महाराज के शिष्य मुलतानमलजी की मातेश्वरी नेनूजी ने दीक्षा ग्रहण की थी। महासती राजाजी का स्वर्गवास वि०सं० १९७८ वैशाख सुदी पूनम को जोधपुर में हुआ था।

महासती राजाजी की एक शिष्या रूपजी हुई थीं जिन्हें थोकड़े साहित्य का अच्छा अभ्यास था। महासती आनन्दकुंवरजी की एक शिष्या महासती परतापाजी हुईं जिनका वि० सं० १९८३ मृगशिर वदी ११ को स्वर्गवास हुआ था। महासती फूलकुंवरजी भी महासती आनन्दकुंवरजी की शिष्या थीं और उनकी सुशिष्या महासती झमकूजी थीं जिन्होंने अपनी पुत्री महासती कस्तूरीजी के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। दोनों का जोधपुर में स्वर्गवास हुआ। महासती कस्तूरीजी की एक शिष्या गवराजी थीं, वे बहुत ही तपस्विनी थीं। उन्होंने अपने जीवन में पन्द्रह मासखमण किये थे, और भी अनेक छोटी-मोटी तपस्याएँ की थीं। उनका स्वर्गवास भी जोधपुर में हुआ।

महासती आनन्दकुंवरजी की बभूताजी, पन्नाजी, धापूजी, और किसनाजी अनेक शिष्याएँ थीं। महासती किसनाजी की हरकूजी शिष्या हुईं। उनकी समदाजी शिष्या हुईं और उनकी शिष्या पानाजी हैं। आपका जन्म जालोर में हुआ, पाणि-ग्रहण भी जालोर में हुआ। गढ़सिवाना में दीक्षा ग्रहण की और वर्तमान में कारण-वशात् जालोर में विराजित हैं।

इस प्रकार महासती आनन्दकुंवरजी की परम्परा में वर्तमान में केवल एक साध्वीजी विद्यमान हैं।

महासती फत्तूजी की शिष्या-परिवारों में महासती पन्नाजी हुईं। उनकी शिष्या जसाजी हुईं। उनकी शिष्या सोनाजी हुईं। उनकी भी शिष्याएँ हुईं, किन्तु उनके नाम स्मरण में नहीं हैं।

महासती जसाजी की नैनूजी एक प्रतिभासम्पन्न शिष्या थी। उनकी अनेक शिष्याएँ हुईं। महासती वीराजी, हीराजी, कंकूजी, आदि अनेक तेजस्वी साध्वियाँ हुईं। महासती कंकूजी की महासती हरकूजी, राभूजी आदि शिष्याएँ। हुईं। महासती हरकूजी की महासती उमरावकुंवरजी, बक्सूजी (प्रेमकुंवरजी) विमलवतीजी आदि अनेक शिष्याएँ हुईं। महासती उमरावकुंवरजी की शकुनकुंवरजी उनकी शिष्या सत्यप्रभा और उनकी शिष्या चन्द्रप्रभाजी आदि हैं। और महासती विमलवतीजी की दो शिष्याएँ महासती मदनकुंवरजी और महासती ज्ञानप्रभाजी है।

महासती फत्तूजी के शिष्या-परिवार में महासती चम्पाजी भी एक तेजस्वी साध्वी थीं। उनकी ऊदाजी, बायाजी आदि अनेक शिष्याएँ हुईं। वर्तमान में उनकी शिष्या-परम्परा में कोई नहीं हैं।

महासती फत्तूजी की शिष्या-परम्परा में महासती दीपाजी, वल्लभकुँवरजी आदि अनेक विदुषी व सेवा-भाविनी साध्वियाँ हुईं। उनकी परम्परा में सरलमूर्ति महासती सीताजी और श्री महासती गवराजी (उमरावकुँवरजी) आदि विद्यमान हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के समय से महासती भागाजी की जो साध्वी परम्परा चली उस परम्परा में आज तक ग्यारह सौ से भी अधिक साध्वियाँ हुई हैं। किन्तु इतिहास लेखन के प्रति उपेक्षा होने से उनके सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। इन सैकड़ों साध्वियों में बहुत-सी साध्वियाँ उत्कृष्ट तपस्विनियाँ रहीं। अनेकों साध्वियों का जीवनव्रत सेवा रहा। अनेकों साध्वियाँ बड़ी ही प्रभावशालिनी थीं। मैं चाहता था कि इन सभी के सम्बन्ध में व्यवस्थित एवं प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत ग्रन्थ में दूँ। पर राजस्थान के भण्डार जहाँ इनके सम्बन्ध में प्रशस्तियों के आधार से या उनके सम्बन्ध में रचित कविताओं के आधार से सामग्री प्राप्त हो सकती थी, पर स्वर्णभूमि के. जी. एफ. जैसे सुदूर दक्षिण प्रान्त में बैठकर सामग्री के अभाव में विशेष लिखना सम्भव नहीं था। तथापि प्रस्तुत प्रयास इतिहासप्रेमियों के लिए पथ-प्रदर्शक बनेगा इसी आशा के साथ मैं अपना लेख पूर्ण कर रहा हूँ। यदि भविष्य में विशेष प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हुई तो इस पर विस्तार से लिखने का भाव है।

५

जैन मुनियों का हित्यिक योगदान

भारतीय साहित्यरूपी सुमन-वाटिका को सजाने, संवारने का जितना कार्य जैन मनीषियों ने किया है, संभव है, उतना अन्य किसी सम्प्रदाय विशेष के विज्ञों ने नहीं किया। उन्होंने ज्ञान विज्ञान, धर्म और दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्र में जो रंग-विरंगे चटकीले फूल खिलाये हैं, वे अपने असीम सौन्दर्य और सौरभ से जन जन के मन को आकर्षित करते रहे हैं। जैन साहित्य जितना प्रचुर है, उतना ही प्राचीन भी। जितना परिमार्जित है उतना ही विषय-वैविध्यपूर्ण भी, और जितना प्रौढ़ है उतना ही विविध-शैली सम्पन्न भी। इसमें तनिक मात्र भी संशय नहीं कि जब कभी भी निष्पक्ष दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा जाएगा, उसका मूल आधार जैन साहित्य ही होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक साधन सामग्री के अभाव में यदि प्रस्तुत-साहित्य को 'धार्मिक नोट्स' मात्र कहकर उपेक्षित करते है तो वह साहित्य की कमी नहीं, पर अन्वेषण की ही कमी कही जाएगी, किन्तु वर्तमान अन्वेषण के तथ्यों के आधार से यह मानना ही पड़ेगा कि भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में जैन साहित्य का स्थान विशिष्ट है, जितना गौरव शुद्ध साहित्य का है उतना ही महत्व धर्म सम्प्रदाय के पास सुरक्षित चरित्र-साहित्य राशि का भी है।

जैन साहित्यकार अध्यात्मिक परम्परा के सृजक रहे हैं। आत्मलक्षी संस्कृति में गहरी आस्था रखने के बावजूद भी वे देश, काल एवं तज्जन्य परिस्थितियों के प्रति अनपेक्ष नहीं रहे हैं, उनकी ऐतिहासिक दृष्टि हमेशा खुली रही है। उनका अध्यात्मवाद वैयक्तिक होकर के भी जन जन के कल्याण की मंगलमय भावना से ओत-प्रोत रहा है। यही कारण है कि उनके द्वारा सम्प्रदाय मूलक साहित्य का निर्माण करने पर भी उसमें सांस्कृतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक तथ्य इतने अधिक हैं कि वैज्ञानिक पद्धति से उनका सर्वेक्षण किया जाए तो भारतीय इतिहास के कई तिमिराच्छन्न पक्ष आलोकित हो उठेंगे।

जैन लेखकों ने मौलिक साहित्य के निर्माण के साथ ही विभिन्न ग्रन्थों पर सारगर्भित एवं पांडित्यपूर्ण टीकाएँ लिखकर साहित्य की अविस्मरणीय सेवा व

संरक्षा की है, वह कभी भी विस्मृत नहीं की जा सकती। समीक्षकों ने जैन साहित्य को पिष्टपेषण से पूर्ण माना है, यह सत्य है कि औपदेशिक वृत्ति के कारण जैन साहित्य में विषयान्तर से परम्परागत बातों का विवेचन-विश्लेषण हुआ है, किन्तु सम्पूर्ण जैन साहित्य में पिष्टपेषण नहीं है। और जो पिष्टपेषण हुआ है वह केवल लोकपक्ष की दृष्टि से ही नहीं, अपितु भाषा शास्त्र की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। जैन लेखकों ने भारतीय चिन्तन के नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक मान्यताओं को जन-भाषा की समुचित शैली में ढालकर, पिरोकर, संवारकर राष्ट्र के आध्यात्मिक स्तर को उन्नत, समुन्नत, किया, उन्होंने साहित्य परम्परा को संस्कृत भाषा के कूप-जल से निकाल कर भाषा के बहते प्रवाह में अवगाहन कराया, अभिव्यक्ति के नये नये उन्मेष घोषित किये।

विभिन्न जैन परम्परा के प्रत्कृष्ट प्रतिभा सम्पन्न मुनिवरों ने जो साहित्य की अपूर्व सेवा की है, उसका सम्पूर्ण लेखा-जोखा लेने का न तो यहाँ अवसर ही है और न अवकाश ही, यहाँ तो प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध में ही संक्षेप में कुछ विचार अभिव्यक्त किये जा रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में एक ही कवि की रचनाओं का संग्रह नहीं किया गया है, अपितु विभिन्न परम्परा के मुनिवरों की रचनाओं का सुन्दर संकलन-आकलन किया गया है। प्रत्येक चरित्र में त्याग वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा है। प्रत्येक चरित्र आत्मा को असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर एवं मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने की अपूर्व क्षमता रखता है।

भगवान् नेमिनाथ के चरित्र में राजीमती के मुंह से रथनेमि को फटकारते हुए साध्वाचार का निरूपण कर रहे हैं—

अमृत भोजन छोडने हो, मुनिवर !
तुसिया को कुण खाय ।
देवलोक रा सुख देखने हो मुनिवर !
नरक न आवे दाय ॥
खीर खांड भोजन करी हो मुनिवर,
वमियो कर्दम कीच ।
वमिया री वांछा करे हो, मुनिवर
काग कुत्ता के नीच ॥

राजीमती के हृदयग्राही उपदेश से रथनेमि पुनः साधना के मार्ग में स्थिर हो जाते हैं। उनकी हृत्तंत्री के तार झनझना उठते हैं कि अयि राजमती ! तूने मुझे नरक में गिरते हुए को बचा लिया, धन्य है तुझे—

नरक पडंता राखियो हे राजुल,
इम बोल्यो रहनेम ।

मुझने थिरता कर दियो हे राजुल,
वचन-अंकुश गज जेम ।।

महारानी देवकी के चरित्रांकन में कवि ने वात्सल्य रस के संयोग के चित्र अत्यन्त तन्मयता के साथ अंकित किये हैं। महारानी देवकी के छहों पुत्र देवता के उपक्रम से मृत घोपित हो जाते हैं। श्री कृष्ण का लालन-पालन भी वह नहीं कर पाई जब उसे भगवान् नेमिनाथ के द्वारा यह सूचना मिलती है कि ये छहों मुनि तुम्हारे ही पुत्र हैं, तो उसका मातृत्व बरसाती नदी की तरह उमड पडता है। वह इन छहों मुनिवरों के पास जाती है। देखिए कवि श्री जयमल्ल जी के शब्दों में संयोग वात्सल्य का सफल चित्रण—

तडाक से तूटी कस कंचू तणी रे,
थण रे तो छूटी दूधाधार रे।
हिवडा माहे हर्ष मावे नहीं रे,

प्रस्तुत चरित्र में वियोग वात्सल्य का वर्णन भी कम सुन्दर नहीं है। माता देवकी के हृदय की थाह वही माता पा सकती है जिसने सात पुत्रों को पैदा करके भी मातृत्व का सुख नहीं लिया। उसके हृदय में शल्य की तरह यह बात चुभ रही है कि उसने अपने प्यारे लालों को हाथ पकडकर चलाया नहीं, रोते बिलखते हुओं को बहलाया नहीं। वह अपने प्यारे पुत्र श्री कृष्ण से कहती है—

हूं तुज आगल सूं कहूँ कन्हैया,
बीतक दुख री बात रे, गिरधारी लाल।
दुखणी जग में छे घणी कन्हैया,
पिण घणी दुखणी थारी मात रे.......
हालरियो देवा तणी, कन्हैया,
म्हारे हूंस रही मन मांय रे ।।
ओडणियो पहराव्यो नहीं, कन्हैया,
टोपी न दीधी माथ रे ।
काजल पिण सार्यो नहीं, कन्हैया,
फदिया न दीधा हाथ रे ।।

सच तो यह है महाकवि सूरदास जो वात्सल्य रस के सम्राट माने जाते हैं वे भी इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत नहीं कर सके हैं।

भगवान् नेमिनाथ के पावन प्रवचन को श्रवण कर गजसुकुमाल संयम के कंटकाकीर्ण महामार्ग पर बढ़ना चाहते हैं। माता देवकी ने ज्यों ही यह बात सुनी त्योंही वह मूर्च्छित होकर जमीन पर ढुलक पड़ती हैं।

वचन अपूरव एह, पुत्र ना सांभली-री माई।
घणी मूर्छा-गति खाय, धमके धरणी ढली ॥
खलकी हाथा री चूड,माथे रा केश वीखर्या री माई।
ओढण हुवो दूर, आंखें आंसू झर्या ॥

मेघ कुमार के चरित्र में माता धारणी को मेघकुमार कहते हैं कि मां, भौतिक पदार्थ के सुख सच्चे सुख नहीं हैं, ये आकाश में उमड-घुमड कर आते हुए बादलों की तरह क्षणिक हैं। कवि कहता है—

संसार ना सुख सहु काचा,
इण लोक अर्थी जाणे साचा।
भोग विषय में रह्या कलीजे,
मैं तो जाणी ए काचो माया,
बिललावे ज़िम वादल छाया,
ऐसी जाणी कहो कुण रीझे ॥

इस प्रकार चरित-कथाओं में कतिपय स्थल अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं।

भृगु पुरोहित के चरित्र में जब भृगुपुरोहित अपनी विराट् सम्पत्ति का परित्याग कर श्रमण बनने के लिए प्रस्तुत होता है तब राजा उसकी सम्पत्ति को लेने के लिए उद्यत होता है। इस प्रसंग पर महारानी कमलावती का उद्‌बोधन नितान्त मर्मस्पर्शी है। वह कहती है—राजन् ! एक ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त सम्पत्ति को आप ग्रहण न करें। राजा का भाग्य बड़ा होता है। उच्छिष्ट आहार की इच्छा तो कौवा और कुत्ता ही करता है, तुम्हें प्रवृत्त वृत्ति शोभा नहीं देती है, यह कार्य लज्जास्पद है। सारे विश्व की विभूति भी प्राप्त हो जाय तो भी तृष्णा शान्त नहीं हो सकती। एक दिन इस विराट सम्पत्ति को छोड़कर एकाकी ही प्रस्थित होना पड़ेगा अतः वीतराग धर्म को ग्रहण करो, वही त्राण और कल्याण का मार्ग है। कवि की कल्याणमयी वाणी सुनिए—

सांभल महाराजा ब्राह्मण छांडी हो;
रिध मती आदरो।
राजा का मोटा भाग।
वमिया आहार की हो।
वांछा कुण करे
करे छे कुतरो ने काग ॥
काग ने कुत्ता सरीखा
किम हुंवो, नहीं प्रसंसवा जोग ॥

भृगु पुरोहित ऋध तज नीसर्यो
थे जाणो आसी मारे भोग।
एक दिन मरणो हो राजाजी यदा तदा,
छेड़ो नी काम विशेष ॥
बीजो तो तारण जग में को नहीं,
तारे जिणजी रो धर्म एक ॥

रानी राजा से आगे चलकर कहती है कि एक तोते को रत्न-जडित पिंजडे में भले ही बन्द कर दिया जाय, पर वह उसे बंधन मानता है, वैसे ही राजमहलों को मैं बंधन मानती हूँ। यहाँ मुझे तनिक मात्र भी आनन्द की उपलब्धि नहीं हो रही है, अतः मैं संयम को ग्रहण करना चाहती हूँ। वह राजा से नम्र निवेदन करती है—

रत्न-जडित हो राजा जी पिंजरो,
सुवो तो जाणे है फंद।
इसडी पण हूँ थांरा राज में,
रति न पाँऊ आणंद ॥
स्नेहरूपिया तांतां तोडने,
और बंधन सूं रहसूं दूर।
विरक्त थई ने संजम मैं ग्रहूँ,
थे भी पण होय जाओ सूर ॥

मुनि का वेश धारण करके भी यदि मन में श्रमणत्व नहीं है, तो वह वेश भी कलंकरूप है। आषाढ भूति अनगार के चरित्र में आभूषणों से लदी हुई साध्वी को निहार कर आचार्य कहते हैं—

सुण महासती, या लखणांसु जैन धर्म अति लाजे।
गुण नहीं रती, लोकां माहे निर्ग्रन्थणी यूं वाजे।
थूं चाले छै चाला करती,
शुद्ध ईर्यासमिति नहीं धरती।
लोक लाज सुं नहीं डरती,
थूं लावे गोचरी झरझरती ॥

कपट सहित साधना, साधना नहीं, अपितु विराधना है। वह आत्म-वंचना है। अनन्त काल से आत्मा इस प्रकार साधना करता रहा, किन्तु जीवनोत्थान नहीं हुआ, अतः कवि कह रहा है—

कपट क्रिया से नहीं तरिया,
बाज आचारी पेट भरिया ।
इसा सांग तो बहु करिया,
महिमा कारण करि माया ।।
भोला नर ने भरमाया,
स्यूं कपट धरम प्रभु फरमाया ।।

इस प्रकार चन्दन की सौरभ की सभी रचनाए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं प्रत्येक पक्ष को समुन्नत बनाने की पुनीत प्रेरणा प्रदान करती हैं। काव्य के भाव-पक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से यह संग्रह मूल्यवान है। राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र में चन्दन की सौरभ अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगी, ऐसी आशा है।

—[चन्दन की सौरभ-प्रस्तावना से]

६

राजस्थान के प्राकृत श्वेताम्बर साहित्यकार

भारतीय इतिहास में राजस्थान का गौरवपूर्ण स्थान सदा से रहा है। राजस्थान की धरती के कण-कण में जहाँ वीरता और शौर्य अंगड़ाई ले रहा है, वहाँ साहित्य और संस्कृति की सुमधुर स्वर लहरियाँ भी झनझना रही हैं। राजस्थान के रण-बांकुरे वीरों ने अपनी अनूठी आन-बान और शान की रक्षा के लिए हँसते हुए जहाँ बलिदान दिया है, वहाँ वैदिक परम्परा के भावुक भक्त कवियों ने व श्रमण-संस्कृति के श्रद्धालु श्रमणों ने मौलिक व चिन्तन-प्रधान साहित्य सृजन कर अपनी प्रताप पूर्ण प्रतिभा का परिचय दिया है। रणथम्भोर, कुम्भलगढ़, चित्तौड़, भरतपुर, मांडोर, जालोर जैसे विशाल दुर्ग जहाँ उन वीर और वीराङ्गनाओं की देश-भक्ति की गौरव-गाथा को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ जैसलमेर, नागौर, बीकानेर, जोधपुर, जयपुर, अजमेर, आमेर, डूँगरपुर प्रभृति के विशाल ज्ञान-भण्डार साहित्य-प्रेमियों के साहित्यानुराग को अभिव्यञ्जित करते हैं।

राजस्थान की पावन-पुण्य भूमि अनेकानेक मूर्धन्य विद्वानों की जन्मस्थली और साहित्य-निर्माण स्थली रही है। उन प्रतिभा-मूर्ति विद्वानों ने साहित्य की विविध विधाओं में विपुल साहित्य का सृजन कर अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय दिया है। उनके सम्बन्ध में संक्षेप रूप में भी कुछ लिखा जाय, तो एक विराट्काय ग्रन्थ तैयार हो सकता है, मुझे उन सभी राजस्थानी विद्वानों का परिचय नहीं देना है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के प्राकृत साहित्यकारों का अत्यन्त संक्षेप में परिचय प्रस्तुत करना है।

श्रमण संस्कृति का श्रमण घुमक्कड़ है, हिमालय से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक पैदल घूम-घूमकर जन-जन के मन में आध्यात्मिक, धार्मिक व सांस्कृतिक जागृति उद्‌बुद्ध करता रहा है। उसके जीवन का चरम व परम लक्ष्य स्व-कल्यायण के साथ-साथ पर-कल्याण भी रहा है। स्वान्तःसुखाय एवं बहुजन हिताय साहित्य का सृजन भी करता रहा है।

श्रमणों के साहित्य को क्षेत्र विशेष की संकीर्ण सीमा में आवद्ध करना मैं उचित नहीं मानता। क्योंकि श्रमण किसी क्षेत्र विशेष की धरोहर नहीं है। कितने ही श्रमणों की जन्मस्थली राजस्थान रही है, साहित्य-स्थली गुजरात रही है। कितनों

की ही जन्म-स्थली गुजरात है, तो साहित्य-स्थली राजस्थान। कितने ही साहित्यिकों के सम्बन्ध में इतिहास वेत्ता संदिग्ध हैं, कि वे कहाँ के हैं, और कितनी ही कृतियों के सम्बन्ध में भी प्रशस्तियों के अभाव में निर्णय नहीं हो सका कि वे कहाँ पर बनाई गई हैं। प्रस्तुत निबन्ध में मैं उन साहित्यकारों का परिचय दूँगा जिनकी जन्म-स्थली अन्य होने पर भी अपने ग्रन्थ का प्रणयन जिन्होंने राजस्थान में किया है।

श्रमण-संस्कृति के श्रमणों की यह एक अपूर्व विशेषता रही है कि अध्यात्म की गहन साधना करते हुए भी उन्होंने प्रान्तवाद भाषावाद, और सम्प्रदायवाद को विस्मृत कर विस्तृत साहित्य की साधना की है। उन्होंने स्वयं एकचित्त होकर हजारों ग्रन्थ लिखे हैं, साथ ही दूसरों को भी लिखने के लिए उत्प्रेरित किया है। कितने ही ग्रन्थों के अन्त में ऐसी प्रशस्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें अध्ययन-अध्यापन की लिखने-लिखाने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की गई है। जैसे—

"जो पढ़इ पढ़ावई एक चित्तु,
सइ लिहइ लिहावइ जो णिरत्तु।
आयरण्णं भण्णइं सो पसत्थु,
परिभावइ अहिणिसु एउ सत्थु ॥[1]

आचार्य हरिभद्र

हरिभद्रसूरि राजस्थान के एक ज्योतिर्धर नक्षत्र थे। उनकी प्रबल प्रतिभा से भारतीय साहित्य जगमगा रहा है, उनके जीवन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेख कहावली में प्राप्त होता है। इतिहासवेत्ता उसे विक्रम की १२ वीं शती के आस-पास की रचना मानते हैं। उसमें हरिभद्र की जन्मस्थली के सम्बन्ध में "पिवंगुई बंभपुणी" ऐसा वाक्य मिलता है[2]। जबकि अन्य अनेक स्थलों पर चित्तौड़-चित्रकूट का स्पष्ट उल्लेख है[3]। पंडितप्रवर सुखलाल जी का अभिमत है कि 'बंभपुणी' ब्रह्म-चित्तौड़ का ही एक विभाग रहा होगा, अथवा चित्तौड़ के सन्निकट का कोई कस्बा होगा[4]। उनकी माता का नाम गंगा और पिता का नाम शंकरभट्ट था[5]। सुमति

---

1 श्रीचन्द्रकृत रत्नकाण्ड

2 पाटण संघवी के—जैन भण्डार में वि० सं० १४९७ की हस्तलिखित ताड़पत्रीय पोथी खण्ड २, पत्र-३००

3 (क) उपदेशपद मुनि श्रीचन्द्रसूरि की टीका वि० सं० ११७४
(ख) गणधर सार्धशतक श्री सुमतिगणिकृत वृत्ति
(ग) प्रभावक चरित्र ९ शृंग वि० सं० १३३४.
(घ) राजशेखर कृत प्रबन्ध कोष वि० सं० १४०५

4 समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ० ६

5 'संकरो नाम भट्टो तस्स गंगा भट्टिणी' 'तीसे हरिभद्दो नाम पंडिओ पुत्तो।'
—कहावली, पत्र ३००

गणि ने गणधरसार्धशतक में हरिभद्र की जाति ब्राह्मण बताई है।[1] प्रभावक चरित में उन्हें पुरोहित कहा गया है।[2] आचार्य हरिभद्र के समय के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत थे, किन्तु पुरातत्ववेत्ता मुनि श्री जिनविजय जी ने प्रबल प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि वीर सम्वत् ७५७ से ८२७ तक उनका जीवन काल है। अब इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं रहा है।[3] उन्होंने व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्र और दर्शन का गम्भीर अध्ययन कहाँ पर किया था, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। वे एक बार चित्तौड़ के मार्ग से जा रहे थे, उनके कानों में एक गाथा पड़ी।[4]

गाथा प्राकृत भाषा की थी। संक्षिप्त और संकेतपूर्ण अर्थ लिए हुई थी। अतः उसका मर्म उन्हें समझ में नहीं आया। अन्होंने गाथा का पाठ करने वाली साध्वी से उस गाथा के अर्थ को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की। साध्वी ने अपने गुरु जिनदत्त का परिचय कराया। प्राकृत साहित्य और जैन-परम्परा का प्रामाणिक और गम्भीर अभ्यास करने के लिए उन्होंने जैनेन्द्री दीक्षा धारण की और उस साध्वी के प्रति अपने हृदय की अनन्त श्रद्धा को, स्वयं को उनका धर्मपुत्र बताकर व्यक्त की है।[5] वे गृहस्थाश्रम में संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। श्रमण बनने पर प्राकृत भाषा का गहन अध्ययन किया। दशवैकालिक, आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, ओघनिर्युक्ति, चैत्य-वन्दन, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम और पिण्ड निर्युक्ति आदि आगमों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। आगम साहित्य के वे प्रथम टीकाकार हैं। अष्टक प्रकरण, धर्मबिन्दु, पञ्चसूत्र, व्याख्या भावना सिद्धि, लघुक्षेत्र समासवृत्ति, वर्ग केवली सूत्र वृत्ति, हिंसाष्टक, अनेकान्त जयपताका, अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकान्तसिद्धि, तत्वार्थसूत्रलघुवृत्ति, द्विज वदन-चपेटा, न्याय प्रवेश टीका, न्यायावतारवृत्ति, लोकतत्व निर्णय शास्त्रवार्ता समुच्चय, सर्वज्ञ सिद्धि, षड्दर्शन समुच्चय, स्याद्वाद कुचोद्य-परिहार, योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, षोडशक प्रकरण, वीरस्तव, संसार दावानल स्तुति, प्रभृति अनेक मौलिक ग्रन्थ उन्होंने संस्कृत भाषा में रचे हैं। प्राकृत भाषा में भी उन्होंने विपुल साहित्य का सृजन किया है। संस्कृतवत ही प्राकृत भाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। उन्होंने धर्म, दर्शन,

---

1 एवं सो पंडितगव्वमुव्वहमाणो हरिभट्टो नाम माहणो।'

2 प्रभावक चरित्र शृंग ९, श्लोक-८.

3 जैन साहित्य संशोधक वर्ष १. अंक-१.

4 'चक्किदुगं हरिपणगं, पणगं चक्कीणं केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की, केसी अ चक्की अ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-४२१.
—आवश्यकवृत्ति

5 धर्मतो याकिनी महत्तरा सूनुः,

योग, कथा, ज्योतिष और स्तुति प्रभृति सभी विषयों में ग्रन्थ लिखे हैं। जैसे—उपदेशपद, पञ्चवस्तु, पंचाशक, वीस विंशिकाएँ, श्रावक धर्मविधिप्रकरण, सम्बोधप्रकरण, धर्मसंग्रहणी, योग विंशिका, योग शतक, धूर्त्ताख्यान, समराइच्चकहा, लग्नशुद्धि, लग्न कुण्डलियाँ आदि।

समराइच्चकहा प्राकृत भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृति है। जो स्थान संस्कृत साहित्य में कादम्बरी का है, वही स्थान प्राकृत में 'समराइच्चकहा' का है। यह ग्रन्थ जैन महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है, अनेक स्थलों पर शौरसेनी भाषा का भी प्रभाव है।

'धुत्तक्खाण' हरिभद्र की दूसरी उल्लेखनीय रचना है। निशीथचूर्णि की पीठिका में धूर्त्ताख्यान की कथाएँ संक्षेप में मिलती हैं। जिनदासगणि महत्तर ने वहाँ यह सूचित किया है, कि विशेष जिज्ञासु 'धूर्त्ताख्यान' में देखें। इससे यह स्पष्ट है कि जिनदासगणि के सामने 'धुत्तक्खाण' की कोई प्राचीन रचना रही होगी, जो आज अनुपलब्ध है। आचार्य हरिभद्र ने निशीथचूर्णि के आधार से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ में पुराणों में वर्णित अतिरञ्जित कथाओं पर करारे व्यंग्य करते हुए उनकी अयथार्थता सिद्ध की है।[1]

भारतीय कथा साहित्य में शैली की दृष्टि से इसका मूर्धन्य स्थान है। लाक्षणिक शैली में इस प्रकार की अन्य कोई भी रचना उपलब्ध नहीं होती। यह साधिकार कहा जा सकता है कि व्यङ्ग्योपहास की इतनी श्रेष्ठ रचना किसी भी भाषा में नहीं है। धूर्तों का व्यंग्य प्रहार ध्वंसात्मक नहीं अपितु निर्माणात्मक है।

कहा जाता है कि आचार्य हरिभद्र ने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी। किन्तु वे सभी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। डा० हर्मन जेकोबी, लॉयमान विन्टर्नित्स, प्रो० सुवाली और शुब्रिंग प्रभृति अनेक पाश्चात्य विचारकों ने हरिभद्र के ग्रन्थों का सम्पादन और अनुवाद भी किया है।[2] उनके सम्बन्ध में प्रकाश भी डाला है। इससे भी उनकी महानता का सहज ही पता लग सकता है।

उद्योतनसूरि

उद्योतन सूरि श्वेताम्बर परम्परा के एक विशिष्ट मेधावी सन्त थे। उनका जीवनवृत्त विस्तार से नहीं मिलता। उन्होंने वीरभद्रसूरि से सिद्धान्त की शिक्षा प्राप्त की थी और हरिभद्रसूरि से युक्तिशास्त्र की। कुवलयमाला प्राकृत साहित्य

---

1 सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित।

2 देखिए—डॉ० हर्मन जेकोबी ने समराइच्चकहा का सम्पादन किया, प्रो० सुवाली ने योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, लोकतत्त्व निर्णय, एवं षड्दर्शन समुच्चय का सम्पादन किया और लोकतत्त्व निर्णय का इटालियन भाषा में अनुवाद किया।

का उनका एक अनुपम ग्रन्थ है।[1] गद्य-पद्य मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसादपूर्ण रचना चम्पू शैली में लिखी गई है। महाराष्ट्री प्राकृत के साथ इसमें पैशाची, अपभ्रंश व देशी भाषाओं के साथ कहीं-कहीं पर संस्कृत भाषा का भी प्रयोग हुआ है। प्रेम और शृंगार के साथ वैराग्य का भी प्रयोग हुआ है। सुभाषित, मार्मिक प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका आदि भी यत्र-तत्र दिखलाई देती है। जिससे लेखक के विशाल अध्ययन व सूक्ष्म दृष्टि का पता लगता है। ग्रन्थ पर बाण की कादम्बरी, त्रिविक्रम की दमयन्ती कथा और हरिभद्रसूरि के 'समराइच्चकहा' का स्पष्ट प्रभाव है। प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक ने ई० सन् ७७९ में जावालिपुर, जिसका वर्तमान में 'जालोर' नाम है, वहाँ पर पूर्ण किया है।[2]

जिनेश्वरसूरि

जिनेश्वरसूरि के नाम से जैन सम्प्रदाय में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत आचार्य का उल्लेख धनेश्वरसूरि,[3] अभयदेव,[4] और गुणचन्द्र ने[5] युगप्रधान के रूप में किया है। जिनेश्वरसूरि का विहार-स्थल मुख्य रूप से राजस्थान, गुजरात और मालवा रहा है। इन्होंने संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में रचनाएँ कीं। उसमें हरिभद्रकृत अष्टक पर वृत्ति, पंचलिंगी प्रकरण, वीर चरित्र, निर्वाण लीलावती कथा, षट्स्थानक प्रकरण, और कहाणय कोष मुख्य हैं। कहाणय कोष में ३० गाथाएँ हैं और प्राकृत में टीका है। जिसमें छत्तीस प्रमुख कथाएँ हैं। कथाओं में उस युग की समाज, राजनीति और आचार-विचार का सरस चित्रण किया गया है। समासयुक्त पदावली, अनावश्यक शब्द-आडम्बर और अलंकारों की भरमार नहीं है। कहीं-कहीं पर अपभ्रंश भाषा का प्रयोग हुआ है। उनकी निर्वाण लीलावती कथा भी प्राकृत भाषा की श्रेष्ठ रचना है। उन्होंने यह कथा सं० १०८२ और १०९५ के मध्य में बनाई है। पद-लालित्य, श्लेष और अलंकारों से यह विभूषित है। प्रस्तुत ग्रन्थ का श्लोकबद्ध संस्कृत भाषान्तर जैसलमेर के भण्डार में उपलब्ध हुआ है। मूलकृति अभी तक अनुपलब्ध है। प्राकृत भाषा में उनकी एक अन्य रचना 'गाथाकोष' भी मिलती है।

---

1 सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई वि० सं० २००५, मुनि जिनविजयजी।

2 तुणमलंघं जिण-भवण, मणहरं सावयाउलं विसमं।
जावालिउरं अट्ठावयं व अह अत्थि पुहइए॥
—कु[illegible]ला प्रशस्ति, पृ० २८२.

3 सुरसुन्दरीचरियं की अन्तिम प्रशस्ति गाथा २४० से २४८.

4 भगवती, ज्ञाता, समवायाङ्ग स्थानाङ्ग, औपपातिक की वृत्तियों में प्रशस्तियाँ।

5 महावीरचरियं प्रशस्ति।

महेश्वरसूरि

महेश्वरसूरि प्रतिभासम्पन्न कवि थे। वे संस्कृत-प्राकृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका समय ई० सन् १०५२ से पूर्व माना गया है। णाणपञ्चमीकहा[1] इनकी एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमें देशी शब्दों का अभाव है। भाषा में लालित्य है, यह प्राकृत भाषा का श्रेष्ठ काव्य है। महेश्वरसूरि सज्जन उपाध्याय के शिष्य थे।[2]

जिनदत्तसूरि

जिनदत्त जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। अपने लघु गुरुबन्धु अभयदेव की अभ्यर्थना को सम्मान देकर संवेग रंगशाला नामक ग्रन्थ की रचना की। रचना का समय वि० सं० ११२५ है। नवाङ्गी टीकाकार अभयदेव के शिष्य जिनवल्लभसूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ का संशोधन किया। संवेगभाव का प्रतिपादन करना ही ग्रन्थ का उद्देश्य रहा है। ग्रन्थ में सर्वत्र शान्तरस छलक रहा है।

जिनप्रभसूरि

जिनप्रभसूरि विलक्षण प्रतिभा के धनी आचार्य थे। इन्होंने १३२६ में जैन दीक्षा ग्रहण की और आचार्य जिनसिंह ने इन्हें योग्य समझ कर १३४१ में आचार्य पद प्रदान किया। दिल्ली का सुल्तान मुहम्मद तुगलक बादशाह इनकी विद्वत्ता और इनके चमत्कारपूर्ण कृत्यों से अत्यधिक प्रभावित था। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'कातन्त्रविभ्रमवृत्ति, श्रेणिक चरित्र, द्वयाश्रय काव्य', 'विधिमार्गप्रपा' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। विधिप्रपा प्राकृत साहित्य का एक सुन्दर ग्रन्थ है। श्रीयुत् अगरचन्दजी नाहटा का अभिमत है कि ७०० स्तोत्र भी इन्होंने बनाये। वे स्तोत्र संस्कृत, प्राकृत, देश्य भाषा के अतिरिक्त भाषा में भी लिखे हैं। वर्तमान में इनके ५५ स्तोत्र उपलब्ध होते हैं।[3]

नेमिचन्द्रसूरि

नेमिचन्द्रसूरि बृहद्गच्छीय उद्योतनसूरि के प्रशिष्य और आम्रदेव के शिष्य थे। आचार्य पद प्राप्त करने के पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणि था। 'महावीर-

---

1 सम्पादक—अमृतलाल, सवचन्द गोपाणी, प्रकाशन—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई संवत् १९४९.

2 दो पक्खुज्जोयकरो दोसासंगेणवज्जिओ अमओ।
सिरि सज्जण उज्झाओ, अउवच्चं दुव्वअक्खरथो ॥
सीसेण तस्स कहिया दस विकहाणा इमेउपंचमिए।
सूरिमहेसरएणं भवियाण बोहणट्ठाए ॥

3 विधिप्रपा—सिंघी जैन ग्रन्थमाला—बम्ब

चरियं' इनकी पद्यमयी रचना है। वि० सं० ११४१ में इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ रचना की। इसके अतिरिक्त 'अक्खाणयमणिकोस' (मूल), उत्तराध्ययन की संस्कृत टीका, आत्मबोधकुलक प्रभृति इनकी रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

गुणपालमुनि

गुणपालमुनि श्वेताम्बर परम्परा के नाइल गच्छीय वीरभद्रसूरि के शिष्य अथवा प्रशिष्य थे। 'जम्बूचरियं' इनकी श्रेष्ठ रचना है।[1] ग्रन्थ की रचना कब की, इसका संकेत ग्रन्थकार ने नहीं किया है, किन्तु ग्रन्थ के सम्पादक मुनिश्री जिनविजयजी का अभिमत है कि ग्रन्थ ग्यारहवीं शताब्दी में या उससे पूर्व लिखा गया है। जैसलमेर के भण्डार से जो प्रति उपलब्ध हुई है, वह प्रति १४वीं शताब्दी के आसपास की लिखी हुई है।

जम्बूचरियं की भाषा सरल और सुबोध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है। इस पर 'कुवलयमाला' ग्रन्थ का सीधा प्रभाव है। यह एक ऐतिहासिक सत्य तथ्य है कि कुवलयमाला के रचयिता उद्योतनसूरि ने सिद्धांतों का अध्ययन वीरभद्र नाम के आचार्य के पास किया था। उन्होंने वीरभद्र के लिए लिखा "दिन्नजहिच्छियफलओ अवरो कप्परुक्खोव्व'। गुणपाल ने अपने गुरु प्रद्युम्नसूरि को वीरभद्र का शिष्य बतलाया है। गुणपाल ने भी 'परिचिंतियदिन्नफलो आसी सो कप्परुक्खो' ऐसा लिखा है, जो उद्योतनसूरि के वाक्य प्रयोग के साथ मेल खाता है। इससे यह स्पष्ट है कि उद्योतनसूरि के सिद्धान्त गुरु वीरभद्राचार्य और गुणपालमुनि के प्रगुरु वीरभद्रसूरि ये दोनों एक ही व्यक्ति होंगे। यदि ऐसा ही है, तो गुणपालमुनि का अस्तित्व विक्रम की ९वीं शताब्दी के आसपास है।

गुणपालमुनि की दूसरी रचना 'रिसिकन्ता-चरियं' है जिसकी अपूर्ण प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर पूना में है।

समयसुन्दरगणि

ये एक वरिष्ठ मेधावी सन्त थे। तर्क, व्याकरण, साहित्य के ये गम्भीर विद्वान् थे। उनकी अद्‌भुत प्रतिभा को देखकर बड़े-बड़े विद्वानों की अंगुली भी दाँतों तले लग जाती थी। संवत् १६४९ की एक घटना है—बादशाह अकबर ने कश्मीर पर विजय वैजयन्ती फहराने के लिए प्रस्थान किया। प्रस्थान के पूर्व विशिष्ट विद्वानों की एक सभा हुई। समयसुन्दरजी ने उस समय विद्वानों के समक्ष एक अद्‌भुत ग्रन्थ उपस्थित किया। उस ग्रन्थ के सामने आज दिन तक कोई भी ग्रन्थ ठहर नहीं सका है। "राजानो ददते सौख्यम्" इस संस्कृत वाक्य के आठ अक्षर हैं, और एक-एक अक्षर के एक-एक लाख अर्थ किये गये हैं। बादशाह अकबर और अन्य सभी विद्वान् प्रतिभा के इस अनूठे चमत्कार को देखकर नत-मस्तक हो गये। अकबर

1 विधिप्रपा—सिंघी जैन ग्रन्थमाला—बम्बई से प्रकाशित।

वालटेयर,[1] एबरक्रोम्बी[2], वाल्टर पेपर[3], सी० एम० वावरा[4], डब्ल्यू० पी० केर[5], एम० डिक्सन[6], टिलयार्ड[7] प्रभृति पाश्चात्य चिन्तकों ने महाकाव्य के विविध पहलुओं पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। विस्तार भय से हम उन सब पर यहाँ चिन्तन न कर संक्षेप में यही कहना चाहेंगे कि प्रायः सभी मूर्धन्य मनीषियों ने मूल-तत्त्व एक सदृश माना है, यत्किंचित् अन्तर महाकाव्य के बाह्य रूप को लेकर ही है। मुख्य तथ्य पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों में समान हैं।

अतीतकाल से ही जैन मनीषीगण गीर्वाण गिरा में काव्यों का सृजन करते रहे हैं क्योंकि अनुयोगद्वार में[8] प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भाषाओं को समान रूप से महत्व दिया है। इसलिए जैनाचार्यों की लेखनी दोनों भाषाओं में अविराम गति से चलती रही। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में संस्कृत भाषा का अध्ययन अत्यधिक आवश्यक माना जाने लगा। विज्ञों की मान्यता है कि एकादश अंगों की भाषा अर्धमागधी थी और पूर्वों की भाषा संस्कृत थी। इस दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं को जैन साहित्य में गौरवपूर्ण पद मिला है। जैन मनीषियों ने प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में विराट साहित्य का सृजन किया तो संस्कृत भाषा में भी विपुल साहित्य सृजन कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। यह सत्य है कि जैन परम्परा अध्यात्मप्रधान रही है। उसका मुख्य लक्ष्य मोक्ष रहा है और मोक्ष को प्राप्त करने के लिए धार्मिक साधना आवश्यक है। इस दृष्टि से जैन साहित्य में त्याग, वैराग्य के स्वर अधिक मुखरित हुए हैं।

जैन काव्य साहित्य की अनेक विशेषताएँ हैं। इसकी कथावस्तु में विस्तार की अपेक्षा गहनता अधिक होती है। सूक्ष्म भावों का आख्यान और वर्णन के साथ ही विश्लेषण प्रधान होता है। कथाओं में पूर्वजन्मों की कथाएँ चमत्कार उत्पन्न करने वाली होती हैं जो किसी पक्ष का मार्मिक उद्घाटन करती हैं। श्रृंगारिक

---

1 डा० शंभुनाथसिंह कृत 'हिन्दी महाकाव्य के स्वरूप-विकास' से उद्धृत, पृ० १०४।

2 Abercrombie, The Epic, Page 40-41.

3 Appreciation, Page 36.

4 C. M. Bowara, From Virgil to Milton, Page 1.

5 W. P. Ker 'Epic & Romance' Page 17.

6 M. Dixon—'English Epic & Heroic Poetry', Page 9.

7 सरस्वती संवाद, महाकाव्य विशेषांक पृ० ३९-४०।

8 सक्कया पायया चेव भणिईओ होंति दोण्णि वा।
सरमण्डलम्मि गिज्जंते पसत्था इसिभासिया ॥

—अनुयोगद्वारसूत्र, सूत्र १२७

वाचक कल्याणतिलक

वाचक कल्याणतिलक ने छप्पन गाथाओं में कालकाचार्य की कथा लिखी।[1]

हीरकलश मुनि

हीरकलशमुनि ने संवत् १६२१ में 'जोइस-हीर' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ ज्योतिष की गहराई को प्रकट करता है।[2]

मानदेव सूरि

मानदेव सूरि का जन्म नाडोल में हुआ। उनके पिता का नाम धनेश्वर व माता का नाम धारिणी था। इन्होंने 'शांति स्तव' और 'तिजय पहुत्त' नामक स्तोत्र की रचना की।[3]

नेमिचन्दजी भण्डारी

नेमिचन्दजी भण्डारी ने प्राकृत भाषा में 'षष्टिशतक प्रकरण' जिनवल्लभ-सूरि गुण वर्णन एवं पार्श्वनाथ स्तोत्र आदि रचनाएँ बनाई हैं।[4]

स्थानकवासी मुनि

राजस्थानी स्थानकवासी मुनियों ने भी प्राकृत भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। किन्तु साधनाभाव से उन सभी ग्रन्थकारों का परिचय देना सम्भव नहीं है। श्रमण हजारीमल जिनकी जन्मस्थली मेवाड़ थी उन्होंने 'साहुगुण-माला' ग्रन्थ की रचना की थी। जयमल सम्प्रदाय के मुनि श्री चैनमल जी ने भी श्रीमद्गीता का प्राकृत में अनुवाद किया था। पण्डित मुनि श्री लालचन्द जी "श्रमणलाल" ने भी प्राकृत में अनेक स्तोत्र आदि बनाए हैं। पं० फूलचन्द्र जी म० "पुप्फ भिक्खु' ने सुत्तागमे का सम्पादन किया और अनेक लेख आदि प्राकृत में लिखे हैं। राजस्थान केसरी, पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी म० ने भी प्राकृत में स्तोत्र और निबन्ध लिखे हैं।

आचार्य श्री घासीलालजी

आचार्य घासीलाल जी महाराज एक प्रतिभासम्पन्न सन्तरत्न थे। उनका

---

1 तीर्थंकर वर्ष ४, अंक १, मई १९७४।

2 मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि, अष्ट शताब्दी स्मृति ग्रन्थ 'जोइसहीर'—महत्वपूर्ण खरतरगच्छीय ज्योतिष ग्रन्थ लेख, पृष्ठ ९५।

2 (क) प्रभावक चरित्र—भाषान्तर, पृष्ठ १८७।
—प्रकाशक—आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, वि० सं० १९८७ में प्रकाशित।
(ख) जैन परम्परा नो इतिहास भाग-१ पृ० ३५९ से ३६१।

4 मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ।

जन्म सम्वत् १९४१ में जसवन्तगढ़ (मेवाड़) में हुआ। उनकी माँ का नाम विमला बाई और पिता का नाम प्रभुदत्त था। जवाहराचार्य के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आपने बत्तीस आगमों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। और शिवकोश नानार्थ, उदय सागर कोश, श्रीलाल नाममाला कोश, आर्हत् व्याकरण, आर्हत् लघु व्याकरण, आर्हत् सिद्धान्त व्याकरण, शांति सिन्धु महाकाव्य, लोंकाशाह महाकाव्य, जैनागम तत्त्व दीपिका, वृत्त-बोध, तत्त्व प्रदीप, सूक्ति संग्रह, गृहस्थ कल्पतरु, पूज्य श्रीलाल काव्य, नागाम्बर मञ्जरी, लवजी मुनि काव्य, नव-स्मरण, कल्याण मंगल स्तोत्र, वर्धमान स्तोत्र आदि संस्कृत भाषा में मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया। तत्वार्थ सूत्र, कल्पसूत्र और प्राकृत व्याकरण आदि अनेक ग्रन्थ प्राकृतभाषा में भी लिखे हैं। अन्य अनेक सन्त प्राकृत भाषा में लिखते हैं।

आचार्य श्री आत्मारामजी

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के प्रथम आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज प्राकृत, संस्कृत के गहन विद्वान् और जैन आगमों के तलस्पर्शी अध्येता थे। आपका जन्म पंजाब में हुआ, विहार-क्षेत्र भी पंजाब रहा। प्रस्तुत लेख में विशेष प्रसंग न होने से आपकी प्राकृत रचनाओं के विषय में अधिक लिखना प्रासंगिक नहीं होगा, पर यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि आपने प्राकृत साहित्य एवं आगमों की टीकाएँ लिख कर साहित्य भण्डार की श्रीवृद्धि की है। आपके शिष्य श्री ज्ञानमुनि जी भी प्राकृत के अच्छे विद्वान् हैं।

तेरापन्थ सम्प्रदाय के अनेक आधुनिक मुनियों ने भी प्राकृत भाषा में लिखा है। 'रयणवालकहा' चन्दनमुनि जी की एक श्रेष्ठ रचना है। राजस्थानी जैन श्वेताम्बर परम्परा के सन्तों ने जितना साहित्य लिखा है, उतना आज उपलब्ध नहीं है। कुछ तो मुस्लिम युग के धर्मान्ध शासकों ने जैन शास्त्र भण्डारों को नष्ट कर दिया और कुछ हमारी लापरवाही से चूहों, दीमक एवं सीलन से नष्ट हो गये। तथापि जो कुछ अवशिष्ट है, उन ग्रन्थों को आधुनिक दृष्टि से सम्पादित करके प्रकाशित किया जाये तो अज्ञात महान् साहित्यकारों का सहज ही पता लग सकता है।

==

७

भारतीय साहित्य में काव्य-मीमांसा

गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवि और सफल समालोचक मंखक ने समालोचक के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है—किसी भी कवि के काव्य के मर्म को समझने की योग्यता समालोचक में होती है। सफल साहित्यकार ही कवि के कमनीय सद्गुणों की सौरभ दिग्दिगन्त में फैला सकता है। जैसे एक तैलविन्दु विना जल के विस्तार नहीं पाता वैसे ही समालोचक के अभाव में कवि के काव्य का रहस्य जनता समझ नहीं पाती। समालोचक कवि के काव्य की कसौटी करता है। वह सहृदयी होता है। उसका मानस उदात्त और हृदय विराट् होता है।

आचार्य राजशेखर ने "काव्य मीमांसा" में, आचार्य रुच्चक ने "साहित्य मीमांसा" में, पण्डित विश्वनाथ ने "साहित्य दर्पण" में काव्य के समस्त अंगों पर चिन्तन-मनन किया है। काव्य एक कला है। उसमें उदात्त भावानुभूति और रसानुभूति होती है। वह बुद्धि और तर्कप्रधान नहीं, अपितु अनुभूतिप्रधान होता है। उसमें कवि के अन्तःकरण का अनन्त आनन्द अठखेलियाँ करता रहता है। एतदर्थ ही महाकवि भवभूति के हृत्तन्त्री के सुकुमार तार झनझनाये हैं कि मैं उस विमल वाणी को वन्दना करता हूँ जिसमें आत्मा की दिव्य और भव्य कला अमृत रूप में विद्यमान है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी कहा है—काव्य में कलाकार अपने को अभिव्यक्त करता है।

समवायांग, नायाधम्मकहा, राजप्रश्नीय, औपपातिक, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र और उनकी वृत्तियों में कला के सम्बन्ध में गहराई से विश्लेपण किया गया है। पुरुषों के लिए वहत्तर कलाएँ और महिलाओं के लिए चौंसठ कलाओं का विधान है। उन कलाओं में 'काव्य कला' भी एक कला है। 'ललित विस्तर' ग्रन्थ में काव्य करण विधि को कला में परिगणित किया है। भर्तृहरि ने तो काव्य कला रहित व्यक्ति को पशु की संज्ञा प्रदान की है।[1] कलाओं में काव्यकला श्रेष्ठ

---

1 साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविपाणहीनः ॥

कला है। 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में आचार्य भामह ने स्पष्ट रूप से लिखा है—ऐसा कोई शब्द नहीं, ऐसा कोई वाक्य नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं और ऐसी कोई कला नहीं जो काव्य का अंग होकर न आये।

काव्य क्या है ? इस प्रश्न पर अतीत काल से ही चिन्तन चलता रहा है। विभिन्न मनीषियों ने विभिन्न दृष्टियों से उत्तर देने का प्रयास किया है। किन्तु काव्य की सर्वसम्मत परिभाषा अभी तक निश्चित नहीं हो सकी है। आचार्य भामह ने "काव्यालंकार" में शब्द और अर्थ को काव्य कहा है।[1] आचार्य दण्डी ने "काव्यादर्श" में शब्दार्थ रूपी शरीर को अलंकृत करने वाले अलंकारों को सर्वाधिक महत्व देकर उसे काव्य की संज्ञा से अभिहित किया है।[2] आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्" में साहित्य उसे माना है जिसमें शब्द और अर्थ का शोभाशाली सम्मिलन होता है—जब कवि अपनी प्रकृष्ट, प्रतिभा से उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त शब्द समाविष्ट करता है। जो कुछ भी लेखबद्ध हो जाय वह साहित्य नहीं है, अपितु साहित्य वह है जिसमें हृदय की निर्मल भावना का विस्फोट होता है। साहित्य का श्रेष्ठतम रूप काव्य है। क्योंकि काव्य सुन्दर, सरस और मधुर होता है। उसमें व्याकरणशास्त्र की तरह नीरसता नहीं होती, दर्शन और तर्कशास्त्र की तरह गम्भीरता नहीं होती, और गणितशास्त्र की तरह जटिलता नहीं होती। काव्य में लोकजीवन का मंगल और अखण्ड आनन्द का पयोधि उछालें मारता है। विदग्धता और सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यंजना शैली काव्य का प्राण है।[3] आनन्दवर्द्धन के अनुसार—काव्य वह है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो।[4] वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है।[5] आचार्य मम्मट ने दोषरहित गुण-युक्त अलंकार से समलंकृत शब्दार्थमयी रचना को काव्य की अभिधा दी है।[6] विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है।[7] पंण्डित जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्दों को काव्य कहा है।[8] इसी तरह अग्निपुराणकार[9]

---

1 शब्दार्थो सहितौ काव्यम्।

2 तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ —दण्डी, काव्यादर्श

3 वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्। —कुन्तक, वक्रोक्ति जीवितम्

4 काव्यस्यात्मा ध्वनिः। —ध्वन्यालोक

5 रीतिरात्मा काव्यस्य। —वामन, अलंकार सूत्र

6 तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वाऽपि। —मम्मट, काव्यप्रकाश

7 वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। —विश्वनाथ, साहित्यदर्पण

8 रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। —जगन्नाथ, रसगंगाधर

9 संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥ —अग्निपुराण

तथा रुद्रट,[1] भोज,[2] जयदेव,[3] आचार्य हेमचन्द्र,[4] वाग्भट,[5] आदि ने भी काव्य की परिभाषाएँ निर्माण की हैं।

आचार्य राजशेखर ने लिखा है—शास्त्र को समझने के लिए शब्द की अभिधा शक्ति पर्याप्त है, किन्तु काव्य को समझने के लिए केवल अभिधा ही पर्याप्त नहीं है, कहीं अभिधा, कहीं व्यंजना और कहीं लक्षणा आवश्यक है। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों रहते हैं। वे दोनों एक दूसरे पर आधृत हैं। शब्द बिना अर्थ के नहीं रह सकता और अर्थ की अभिव्यक्ति शब्द के बिना सम्भव नहीं है। शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव ही काव्य नहीं है। काव्य में रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष-शून्यता आवश्यक है। काव्य में रसात्मकता होती है। सांसारिक जितने भी आनन्द हैं, वे क्षणिक हैं। प्रथम क्षण में उनकी जैसी अनुभूति होती है, वैसी अनुभूति बाद में नहीं होती। पर काव्य के आनन्द को देश-काल की संकीर्ण सीमा आबद्ध नहीं कर सकते। उस आनन्द की तुलना पुत्रजन्म, धनागमन, पद-प्राप्ति, प्रतिष्ठा की उपलब्धि और प्रमदा की उपलब्धि से भी कहीं अधिक है।

आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने काव्य के मुख्य रूप से माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण माने हैं। भरत और वामन ने दस गुणों का उल्लेख किया है। पर वे सभी गुण इन तीन गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं। काव्य की आत्मा रस है। जिसके कारण रस में बाधा उपस्थित होती हो वह दोष है। मम्मट ने पद-दोष, पदांश-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष ये पाँच दोष के प्रकार बताये हैं। 'काव्य प्रकाश' के सप्तम उल्लास में उन्होंने उनका विस्तार से विवेचन भी किया है।

काव्य के प्राणतत्त्व के सम्बन्ध में काव्य-मनीषियों ने अत्यन्त गंभीरता से चिन्तन करते हुए रसवादी, अलंकारवादी, रीतिवादी, ध्वनिवादी, वक्रोक्तिवादी और औचित्यवादी इन छह सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। हम यहाँ पर सभी का विस्तार से विश्लेषण न कर संक्षेप में यही कहना चाहेंगे कि काव्य के विविध रूप, विविध अंग, विविध विधा के सम्बन्ध में हजारों वर्षों से उस पर चिन्तन किया जा रहा है।

---

1 ननु शब्दार्थौ काव्यम्। —रुद्रट, काव्यालंकार

2 निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं।
—भोज, सरस्वती कण्ठाभरण

3 निर्दोषा लक्षणावती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ —जयदेव, चन्द्रालोक

4 हेमचन्द्र, काव्यानुशासन।

5 वाग्भट, काव्यानुशासन।

भारतीय चिन्तकों ने काव्य के मुख्य दो भाग किये हैं—प्रेक्ष्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। जो काव्य रंगमंच पर अभिनय करने योग्य हो वह प्रेक्ष्यकाव्य है।[1] ऐसे काव्यों की पूर्ण आनन्द की उपलब्धि आँखों से देखने पर ही हो सकती है। श्रव्य-काव्य वह है जो कानों से सुना जाय।[2] मधुर स्वर से जो गाया जाता है और जिसे सुनकर आनन्द की अनुभूति होती है, वह श्रव्यकाव्य है। प्राचीन काल में लेखन की परम्परा कम थी। इसलिए स्मृति के सहारे ही काव्य को स्मरण रखा जाता था, इसलिए वह श्रव्यकाव्य कहलाता था। आज श्रव्यकाव्य को अधिकांश रूप में पढ़ा ही जाता है, पर उसे पाठ्यकाव्य न कहकर श्रव्यकाव्य ही कहा जाता है। प्रेक्ष्यकाव्य भी पढ़े जाते हैं, किन्तु उसका वास्तविक आनन्द देखने में आता है। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रेक्ष्यकाव्य के[3] पाठ्य और गेय ये दो भेद किये हैं—पाठ्य में नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, व्यायोग, डिम, उत्सृष्टिकांग, प्रहसन, भाण, वीथी तथा सट्टक आदि हैं।[4] और गेय में डोम्बिका, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित और राग काव्य आदि हैं।[5] यहाँ पर हम उन सभी के भेद और प्रभेदों पर चिन्तन न कर, श्रव्यकाव्य के तीन भेद हैं—गद्य, पद्य और मिश्र[6] उस पर विचार करते हुए मूल विषय पर प्रकाश डालेंगे।

गद्यकाव्य वह है जो आवश्यक काव्य गुणों से अलंकृत हो। साथ ही उसमें छन्द योजना का अभाव होता है।[7] गद्यकाव्य को कथा और आख्यायिका इन दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार आख्यायिका गद्यमय रचना होती है। जिसमें धीरोदात्त नायक अपने जीवनवृत्त को अपने मुँह से अपने मित्र आदि को बताता है। उसमें रोमांचक तत्त्व कन्यापहरण, संग्राम आदि होते हैं। संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "हर्ष चरित्र" को इसमें लिया जा सकता है।[8]

---

1 प्रेक्ष्यमभिनेयम्। —काव्यानुशासन ८-१ की वृत्ति (आ० हेमचन्द्र)

2 श्रव्यमनभिनेयम्। —वही० ८-१

3 प्रेक्ष्यं पाठ्यं गेयं च। —हेमचन्द्र, काव्यानुशासन ८-२

4 पाठ्यं नाटकप्रकरणनाटिकासमवकारेहामृगडिमव्यायोगोत्सृष्टिकांकप्रहसन भाण-वीथी सट्टकादि। —वही० अध्याय ८ सूत्र ३

5 गेयं डोम्बिकाभाणप्रस्थानशिगकभाणिकाप्रेरणरामाक्रीडहल्लीसकरासगोष्ठी श्रीगदितरागकाव्यादि। —वही० अध्याय ८, सूत्र ४

6 तच्च गद्य-पद्य मिश्रभेदैस्त्रिधा। —वाग्भट, काव्यानुशासन

7 गद्यमपाद-पदसन्तानच्छन्दो रहितो वाक्यसंदर्भः। —वाग्भट, काव्यानुशासन

8 काव्यानुशासन ८-१० वृत्ति हेमचन्द्र।

कथा वह है जहाँ कवि स्वयं नायक के जीवनवृत्त का वर्णन गद्य में करता है। जैसे दशकुमार चरित्र, पंचतंत्र, कादम्बरी आदि।[1] कथा में भी रोमांचक तत्व की प्रधानता रहती है।

छन्दोबद्ध रचना पद्य है। छन्दोबद्ध होने से उसमें संगीत की सरसता रहती है जिससे सुनने में वह बहुत मधुर लगती है। पद्य के भी दो विभाग है—प्रबन्धकाव्य और मुक्तककाव्य।[2] प्रबन्धकाव्य में एक कथा रहती है और सभी पद्य एक दूसरे से संबंधित होते हैं। उसमें वर्णन भी होता है, प्राक्कथन भी होता है; पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण प्रभाव का प्राधान्य रहता है। किन्तु मुक्तककाव्य स्वतन्त्र सत्ता लिये हुए होता है। उसके पद्य एक दूसरे से मिलते नहीं हैं। वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हैं।

प्रबन्धकाव्य के भी महाकाव्य और खण्डकाव्य ये दो प्रकार हैं। महाकाव्य में सर्वांगीण जीवन का चित्र होता है। वह सर्गबद्ध, विशाल, अलंकारयुक्त श्लिष्ट भाषा का प्रयोग, राज दरबार, दूतप्रेषण, सैन्यप्रयाण, युद्ध, जीवन के विविध रूपों व अवस्थाओं का चित्रण, महाकाव्य का नायक, कुलीन, वीर, विद्वान्, उसके उदात्त गुणों का वर्णन होता है। उसमें समस्त रसों का परिपाक होता है और लोक स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है। चार पुरुषार्थों को स्थान दिया जाता है। इस प्रकार भामह ने 'काव्यालंकार[3] में, दण्डी ने 'काव्यादर्श' में[4], रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में[5] और वाग्भट,[6] आचार्य हेमचन्द्र,[7] आचार्य अमरचन्द्र,[8] विश्वनाथ[9] प्रभृति विद्वानों ने महाकाव्य के स्वरूप पर विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया है।

भारतीय चिन्तकों ने महाकाव्य को सर्गबद्ध होना आवश्यक माना है। आचार्य हेमचन्द्र और वाग्भट के अभिमतानुसार वह आश्वासकबद्ध भी हो सकता है। सर्ग न अधिक बड़े होने चाहिए, न अत्यन्त लघु ही। विश्वनाथ ने सर्गों की संख्या के सम्बन्ध में चिन्तन किया है, पर अन्य आचार्यों ने नहीं। कथानक के सम्बन्ध में

---

1 काव्यानुशासन ८-८ वृत्ति हेमचन्द्र।

2 वही० पृ० १७।

3 काव्यालंकार, परि० १, श्लो० १९-२३।

4 काव्यादर्श, परि० १, श्लो० १४-१९।

5 काव्यालंकार, अ० १६, श्लो० २-१९।

6 काव्यानुशासन।

7 काव्यानुशासन अ० ८।

8 काव्यकल्पलता वृत्ति।

9 साहित्य दर्पण, परि० ६, श्लोक ३१५-३२८।

रुद्रट का मानना है कि वह महती घटना होनी चाहिए। उसमें पाँच नाट्य-संधियों की योजना होनी चाहिए जिससे कथानक विस्तृत हो सके। कथानक ऐतिहासिक या पुराण पर आधृत होना चाहिए। रुद्रट की दृष्टि कथानक से कल्पनाप्रधान भी हो सकता है। रुद्रट और हेमचन्द्र के मतानुसार महाकाव्य में अवान्तर कथाएँ होनी चाहिए जिससे गम्भीर और व्यापक अनुभवों का परिज्ञान हो सके। महाकाव्य में प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा का सजीव चित्रण होता है। आचार्य हेमचन्द्र का मानना है 'यदि मूलकथा में प्राकृतिक सौन्दर्य आदि पर चिन्तन न हो सके तो अवान्तर कथाओं में इसका समावेश करना चाहिए।' भोजदेव का अभिमत है 'इन सभी विषयों का समावेश करना कठिन है। किन्तु यदि कवि काल का वर्णन कर देता है तो देश का वर्णन करना उतना आवश्यक नहीं है। कालवर्णन आवश्यक है। अमरचन्द्र ने षट्ऋतुओं का वर्णन और अन्य वर्णन विस्तार से करने का सूचन किया है। रुद्रट और विश्वनाथ का मानना है अतिप्राकृतिक और अलौकिक तत्त्वों का होना आवश्यक है।

महाकाव्य का आरम्भ किस प्रकार करना चाहिए इस सम्बन्ध में भामह और भोजदेव ने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। दण्डी का मन्तव्य है—महाकाव्य में आशीर्वचन, नमस्कार, वस्तुनिर्देशन आदि होना चाहिए। वाग्भट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ इसके साथ ही खल-निन्दा और सज्जन-प्रशंसा भी आवश्यक मानते हैं। महाकाव्य के उपसंहार के सम्बन्ध में अन्य सभी आचार्य मौन रहे हैं किन्तु रुद्रट और हेमचन्द्र ने लिखा है कि कवि को अपना उद्देश्य प्रकट करना चाहिए, अपने आराध्य देव का भी स्मरण करना चाहिए तथा मंगलप्रद शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। रुद्रट का मानना है 'अन्त में नायक का अभ्युदय दिखाना चाहिए।'

सर्ग समाप्ति के सम्बन्ध में विश्वनाथ का कहना है कि अन्त में अगले सर्ग की सूचना देनी चाहिए। वाग्भट का मानना है—प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद में कवि द्वारा अभिप्रेत शब्द, 'श्री', 'लक्ष्मी' आदि का प्रयोग होना चाहिए। नामकरण के सम्बन्ध में विश्वनाथ का मानना है कि कथावस्तु या चरित्रनायक के नाम पर होना चाहिए। दण्डी, भोज, वाग्भट और हेमचन्द्र के अनुसार नायक चतुर और उदात्त होना चाहिए। भामह की दृष्टि से नायक कुलीन, वीर और विद्वान हो। विश्वनाथ की दृष्टि से नायक धीरोदात्त गुणों से युक्त, उच्च कुल में उत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए। रुद्रट का मन्तव्य है कि महाकाव्य में नायक के समान प्रतिनायक भी आवश्यक है जो नायक की क्रोधाग्नि को भड़का सके। प्रतिनायक के अतिरिक्त भामह, दण्डी, रुद्रट, वाग्भट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ का मानना है कि मन्त्री, दूत, सैनिक, कुमार, कुमारपत्नी, राजकन्या आदि भी आवश्यक हैं। महाकाव्य में नवों रसों को आवश्यक माना है। विश्वनाथ का मानना है कि शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए, अन्य गौण। सभी आचार्यों ने रस के साथ अलंकार भी

आवश्यक माने हैं। कितने ही विज्ञ अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए अलंकारों का प्रदर्शन करते थे। इसलिए रुद्रट, वाग्भट और विश्वनाथ का मन्तव्य था कि अलंकार आवश्यक तो हैं किन्तु अनिवार्य नहीं। महाकाव्य का छन्दोबद्ध होना आवश्यक है। दण्डी का मानना है—महाकाव्य का छन्द अत्यन्त श्रुतिमधुर होना चाहिए और सर्ग के अन्त में भिन्न छन्द का प्रयोग होना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र का मन्तव्य है—अर्थ के अनुकूल छन्द का प्रयोग होना चाहिए। यदि समस्त काव्य में एक छन्द भी हो तो एतराज नहीं है। विश्वनाथ और दण्डी यह भी मानते हैं कि एक ही सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग भी हो सकता है।

महाकाव्य में प्रसंग के अनुसार माधुर्य, प्रसाद और ओज गुणवाली भाषा का प्रयोग होना चाहिए। भामह का मानना है—महाकाव्य में साहित्यिक भाषा अपेक्षित है। उसमें ग्राम्य शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। दण्डी और हेमचन्द्र की दृष्टि से भाषा सरल, सरस और बोधगम्य होनी चाहिए। रति के प्रकर्ष के लिए कोमल-कान्त पदावली का प्रयोग हो। उत्साह के प्रकर्ष के लिए प्रौढ़ और क्रोध के लिए कठोर शब्दों का प्रयोग आवश्यक है। कवि को भाषा पर असाधारण अधिकार होना चाहिए जिससे वह अपने मन्तव्य को साधिकार व्यक्त कर सके।

विश्वनाथ के अतिरिक्त सभी आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की उपलब्धि महाकाव्य का उद्देश्य माना है। विश्वनाथ किसी एक पुरुषार्थ को भी महाकाव्य का उद्देश्य मानते हैं।

भारतीय मूर्धन्य मनीषियों ने जिस प्रकार महाकाव्य के बारे में चिन्तन किया है। उसी तरह पाश्चात्य विज्ञों ने भी उस पर चिन्तन किया है। लार्ड केम्स के अनुसार[1] वीरतापूर्ण कार्यों का उदात्त शैली में वर्णन महाकाव्य है। लवस्सू[2] (फ्रेंच-विद्वान्) के अनुसार महाकाव्य ऐसा रूपक है जिसमें प्राचीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन पद्यबद्ध रूप से किया जाय। हाब्स[3] की दृष्टि से वीरतापूर्ण समाख्यानात्मक कविता महाकाव्य है। लैफकैडियो हर्न[4] का मन्तव्य है कि महाकाव्य संपूर्ण जाति के आदर्शों की पद्यबद्ध अभिव्यक्ति करने वाला काव्य है। विलियम रोज बेनिट[5],

---

1 M. Dixon, English Epic & Heroic Poetry, Page 18.

2 Ibid, Page 2.

3 Ibid, Page 22.

4 हिन्दी महाकाव्य एवं महाकाव्यकार, ले० श्री रामचरण महेन्द्र पृ० १४ से उद्धृत।

5 Mr. William Rose Benit "The Reader's Encylopedia" Page 345.

कश्मीर विजय कर जब लौटा, तो अनेक आचार्यों एवं साधुओं का उसने सम्मान किया। उनमें एक समयसुन्दरजी भी थे। उन्हें वाचक पद प्रदान किया गया। इन्होंने वि० सं० १६८६ ई० सन् १६२९ में 'गाथा सहस्री' ग्रन्थ का संग्रह किया। इस ग्रन्थ पर एक टिप्पण भी है, पर उसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। इसमें आचार्य के छत्तीस गुण, साधुओं के गुण, जिनकल्पिक के उपकरण, यति दिनचर्या, साढ़े पच्चीस आर्य देश, ध्याता का स्वरूप, प्राणायाम, बत्तीस प्रकार के नाटक, सोलह शृंगार, शकुन और ज्योतिष आदि विषयों का सुन्दर संग्रह है। महानिशीथ, व्यवहारभाष्य, पुष्पमाला वृत्ति आदि के साथ ही महाभारत, मनुस्मृति, आदि संस्कृत के ग्रन्थों से भी यहाँ पर श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

ठक्कुर फेरू

ठक्कुर फेरू राजस्थान के कन्नाणा के निवासी श्वेताम्बर श्रावक थे। इनका समय विक्रम की १४वीं शती है। ये श्रीमाल वंश के धोंधिया [धंधकुल] गोत्रीय श्रेष्ठी कालिम या कलश के पुत्र थे। इनकी सर्वप्रथम रचना युगप्रधान चतुष्पादिका है, जो संवत् १३४७ में वाचनाचार्य राजशेखर के समीप अपने निवासस्थान कन्नाणा में बनाई थी। उन्होंने अपनी कृतियों के अन्त में अपने आपको 'परम जैन' और 'जिणंदपय भत्तो' लिख कर अपना कट्टर जैनत्व बताने का प्रयास किया है। 'रत्न परीक्षा' में अपने पुत्र का नाम 'हेमपाल' लिखा है। जिसके लिए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गयी है। इनके भाई का नाम ज्ञात नहीं हो सका है।

दिल्लीपति सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के राज्याधिकारी या मंत्रीमण्डल में होने से इनको बाद में अधिक समय दिल्ली रहना पड़ा। इन्होंने 'द्रव्य परीक्षा' दिल्ली की टकसाल के अनुभव के आधार पर लिखी। गणितसार में उस युग की राजनीति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। गणित प्रश्नावली से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये शाही दरबार में उच्च पदासीन व्यक्ति थे। इनकी सात रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इनका सम्पादन मुनिश्री जिनविजय जी ने 'रत्न परीक्षादि सप्त ग्रन्थ संग्रह'[1] के नाम से किया है। युगप्रधान चतुष्पादिका तत्कालीन लोकभाषा व चोपाई, छप्पय में रची गई है, और शेष सभी रचनाएँ प्राकृत में हैं। भाषा सरल व सरस है, उस पर अपभ्रंश का प्रभाव है।

जयसिंहसूरि

"धर्मोपदेशमाला विवरण"[2] जयसिंह सूरि की एक महत्वपूर्ण कृति है, जो गद्य-पद्य मिश्रित है। यह ग्रन्थ नागोर में बनाया था।[3]

---

1 प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रन्थमाला—बम्बई

2 प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रन्थमाला—बम्बई

3 नागउर—'जिणायज्जणे समाणियं विवरणं एयं'

— धर्मोपदेशमाला, प्रशस्ति २९, पृष्ठ २३०.

जीवन का वर्णन करने पर भी वासना का विरेचन, प्रशम और निर्वेद पर अधिक बल दिया गया है। भोग पर त्याग की विजय, राग पर विराग की विजय बताई गई है। चरित्र में प्रेम, विवाह, मिलन, युद्ध, सैनिक अभियान, दीक्षा, तपश्चरण, विविध उपसर्गों पर विजय वैजयन्ती फहराता हुआ नायक आध्यात्मिक उत्क्रांति की ओर आगे बढ़ता है। काव्य का मूल उद्‌गम स्रोत आगम, प्रागैतिहासिक व ऐतिहासिक महा-पुरुषों के जीवन चरित्र और ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन-वृत्त उसमें होते हैं जो जन-जीवन को निर्मल प्रेरणा प्रदान करने वाले होते हैं।

आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य मलयगिरि, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, उपाध्याय यशोविजय, समयसुन्दर गणी, आचार्य अकलंक, आचार्य समन्तभद्र, विद्यानन्द प्रभृति शताधिक जैन मनीषियों ने संस्कृत भाषा में साहित्य का निर्माण किया है। उनके द्वारा सहस्राधिक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। आधुनिक चिन्तकों ने उसके सम्बन्ध में शोध कार्य भी किया है जिससे सैकड़ों जैन महाकाव्यों का, जो अज्ञात थे, उनका पता लगा है।

आधुनिक युग में संस्कृत साहित्य का उतना प्रचार नहीं जितना अतीत काल में था। संस्कृत साहित्य का अध्ययन तो होता है, किन्तु काव्यों का प्रणयन बहुत ही कम मात्रा में हो रहा है। क्योंकि संस्कृत भाषा—भाषियों की संख्या अल्पतम होती चली जा रही है। जब जनता को संस्कृत भाषा का परिज्ञान नहीं है तो काव्य का आनन्द उन्हें किस प्रकार आ सकता है और बिना आनन्द के काव्य-सृजन को प्रोत्सा-हन नहीं मिल सकता। जब कवि के अन्तर्मानस में काव्य-निर्माण के प्रति अत्युत्कट जिज्ञासा होती है, तभी काव्य का प्रणयन होता है।

श्रद्धेय सद्‌गुरुवर्य राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज का श्रीमद्-अमरसूरि काव्यम् अपने आप में एक अनूठा काव्य है। प्रस्तुत काव्य श्रद्धेय गुरुवर्य ने अचार्यसम्राट श्री अमरसिंह जी महाराज के पवित्र चरित्र को लेकर तेरह सर्गों में लिखा। इसमें स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसन्तलिका प्रभृति विविध छन्दों का उपयोग हुआ है और साथ ही रूपक, वक्रोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि विविध अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

८

सन्तकवि आचार्यश्री जयमल्लजी

समाज के विकास के लिए, कल्याण के लिए, समय-समय पर किसी न किसी युगपुरुष का जन्म होता है जो अपने जीवन की पवित्रता, दिव्यता और महानता से जन-जीवन को सही दिशा-दर्शन देता है। वह अपने पवित्र आचार और विचार से अन्धविश्वासों को, अन्ध-परम्पराओं को एवं दृढ़तापूर्ण रूढ़िवाद को उखाड़कर फेंक देता है। जब तक उसके तन में प्राण-शक्ति है, मन में तेज है और वाणी में ओज है, वहाँ तक वह संस्कृति के नाम पर पनपने वाली विकृति से लड़ता है, धर्म के नाम पर पनपने वाले अधर्म से जूझता है। वह शूलों के कंटकाकीर्ण मार्ग को भी फूलों की शय्या समझकर आगे बढ़ता है। जग जीता है बढ़ने वालों ने—यह उसके जीवन का मूल-मंत्र है, महान आदर्श है। वह शेर की तरह गम्भीर गर्जन करता हुआ आगे बढ़ता है। विरोधी उसके मार्ग में बाधक बनते हैं; किन्तु वह अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा और सहिष्णुता के कारण उन्हें साधक बना देता है। विरोधी विरोध से विस्मृत होकर एक दिन उसके चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं और वे उसका अनुकरण व अनुगमन करने लगते हैं, क्योंकि उसके विचारों में युग के विचार झंकृत होते हैं, उसकी वाणी में युग की वाणी मुखरित होती है। उसके आचरण में युग का आचरण क्रियाशील होता है। उसका सोचना, बोलना और करना स्वहिताय के साथ ही सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय होता है। वह अपमान के जहर के प्याले को स्वयं पीकर दूसरों को सम्मान का अमृत बाँटता है। कवि दिनकर के शब्दों में युगपुरुष की परिभाषा यह है—

> सब की पीड़ा के साथ व्यथा,
> अपने मन की जो जोड़ सके।
> मुड़ सके जहाँ तक समय उसे
> निर्दिष्ट दिशा में मोड़ सके।
> युग पुरुष वही सारे समाज का
> निहित धर्म गुरु होता है।
> सब के मन का जो अंधकार
> अपने प्रकाश से धोता है॥

यह पूर्ण सत्य-तथ्य है कि युगपुरुष बनाया नहीं जाता, स्वयं ही बन जाता है। युगपुरुष अपने युग का प्रबल प्रतिनिधित्व करता है। युग की जनता को सही दिशा में गति करने की प्रेरणा देता है। भूले-भटके जीवन के राहियों को पथ प्रदर्शन करता है और उनको यह आगाह करता है कि तेरा मार्ग यह नहीं है जिस पर तू मुस्तैदी से कदम बढ़ा रहा है, अंध-श्रद्धा से प्रेरित होकर चला जा रहा है, जरा संभल, विवेक के विमल प्रकाश में चल। इस प्रकार वह अपने युग की भावुक जनता को—श्रद्धालु भक्तों को—श्रद्धा, भक्ति और अर्पण का पुनीत पाठ पढ़ाता है। सत्यं शिवं सुन्दरम् से उनके जीवन को चमकाता है।

आचार्य प्रवर परम श्रद्धेय जयमल्लजी महाराज को मैं एक निश्चित अर्थ में युगपुरुष मानता हूँ। जो युगपुरुष होता है वह युगद्रष्टा भी होता है। जीवन का व्यापक और उदार दृष्टिकोण ही युगपुरुष और युगद्रष्टा की सच्ची कसौटी है। इस कसौटी पर जब हम आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व और कृतित्व को कसते हैं तो वह पूर्ण रूप से खरा उतरता है। वे एक बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे, जिन्होंने जन-जीवन को नया विचार, नयी वाणी और नया कर्म दिया, भोग मार्ग से हटाकर योग मार्ग की ओर बढ़ने से उत्प्रेरित किया। जन-जन के मन से अज्ञान-अंधकार को हटाकर ज्ञान की दिव्य ज्योति जगायी।

आचार्य प्रवर का जन्म विक्रम संवत् १७६५ भादवा सुदी १३ को जोधपुर राज्यान्तर्गत लाम्बिया गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम मोहनदासजी और माता का नाम महिमादेवी था। ये समदड़िया महता गोत्रीय बीसा ओसवाल थे। इनके पिता कामदार थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम रीडमलजी था। इनका बाल्य-काल सुखद और शान्त था। माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह और अपने ज्येष्ठ भ्राता का प्रेम इन्हें खूब मिला। इनकी तेजस्विता, बुद्धि की विलक्षणता से ग्राम के अन्य लोग भी इनकी अत्यधिक प्रशंसा करते थे। सहृदयता, नियमबद्धता, परदुःख-कातरता, सरलता और सौजन्यता आदि ऐसे विशिष्ट गुण थे जिनके कारण ये सभी के विशेष रूप से आदर-पात्र थे। बाल्यकाल में वे अपने हमजोली संगी-साथियों के साथ खेलते-कूदते भी थे, नाचते-गाते भी थे, हँसते-हँसाते भी थे, रूठते-मचलते भी थे। इस प्रकार बाल्य-सुलभ सभी कार्य करने पर भी उनके स्वभाव की गम्भीरता, चिन्तन की महानता आदि प्रत्येक कार्य में झलक पड़ती थी। उनकी वैराग्य भावना सहज स्फूर्त थी।

बाईस वर्ष की अवस्था में माता-पिता के स्नेह भरे आग्रह को सम्मान देकर रीयां के शिवकरण जी मूथा की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ पाणिग्रहण किया और व्यापारी बनकर व्यापार क्षेत्र में उतरे, किन्तु वह उनके जीवन का लक्ष्य नहीं था। उनका मन का पंछी उसमें रम नहीं रहा था। वह तो साधना के अनन्त गगन में विचरण करना चाहता था। संयोग से अपने साथियों के साथ व्यापार हेतु, मेड़ता

गये। वहाँ पर बाजार बन्द देखा। आचार्य भूधर जी महाराज की सेवा में उपस्थित हुए। उनके वैराग्य से छलछलाते हुए पावन प्रवचन को श्रवण कर मन में वैराग्य भावना अठ-खेलियाँ करने लगी। उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर एक महान् साधक का आदर्श उपस्थित किया। ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लेने मात्र से ही उन्हें सन्तोष कहाँ था ? वे तो एक विशिष्ट अध्यात्म योगी बनना चाहते थे, परन्तु उसके लिए बाधक थी माँ की ममता, पिता का प्यार और नवपरिणीता का अपार स्नेह। किन्तु कोई भी उन्हें अपने लक्ष्य से विचलित न कर सका। क्या कभी गज-राज कमलनाल के कोमल तन्तुओं से बँधा है ? एक ओर पत्नी द्विरागमन की अपलक प्रतीक्षा कर रही थी, मन में रंग-बिरंगे सपने संजो रही थी, किन्तु दूसरी ओर आचार्यश्री के प्रवचन से पति शिव सुन्दरी को वरण करने के लिए, श्रमण बन जाता है और ऐसा आदर्श श्रमण बनता है कि जिसकी तुलना अन्य साधारण श्रमणों से नहीं की जा सकती। श्रमण बनते ही सोलह वर्ष तक निरन्तर एकान्तर तप का आचरण किया। जिसमें एक दिन का उपवास और एक दिन का आहार ग्रहण करने का क्रम चलता रहा है। यहाँ तक कि आचार्य भूधरजी के स्वर्गारोहण के दिन से लेकर पचास वर्ष तक कभी लेटकर नहीं सोये। कितनी गजब की थी उनकी आध्यात्मिक साधना। आज का साधक धुआँधार प्रचार तो करना चाहता है, पर जीवन में क्रिया का तेज नहीं है। बिना तेल की बत्ती बताइये, कब तक प्रकाश दे सकती है ? आचारहीन विचार कल्चर मोती है जिसकी चमक और दमक कृत्रिम और अस्थायी है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज क्या थे ? ज्ञान और कृति के सुन्दर समन्वय, 'विचार में आचार और आचार में विचार'। वे थे मनोविजेता अतः जगत विजेता भी थे। उन्होंने स्फटिक-सा निर्मल और समुद्र-सा अगाध ज्ञान पाया था, किन्तु कभी भी उसका अहंकार नहीं किया। उन्होंने महान् त्याग किया, किन्तु कभी भी उस त्याग का विज्ञापन नहीं किया। उन्होंने उत्कृष्ट तपस्या की, किन्तु कभी भी उसका प्रचार नहीं किया। उन्होंने वैराग्य की उत्कृष्ट साधना की किन्तु कभी भी उसका शोरगुल नहीं मचाया। कमल कब कहता है कि सुगन्ध लेने के लिए मेरे पास आओ किन्तु भंवरे तो सौरभ लेने के लिए उस पर उमड़-घुमड़ कर मंडराते ही रहते हैं। यही कारण है सम्राट से लेकर हजारों-हजार व्यक्ति उनके गुणों पर मुग्ध होते रहे और उनके अनुयायी बनते रहे। जिधर से भी निकले उधर भक्त वर्ग तैयार होता रहा। श्रद्धेय जयमल्ल जी महाराज का मुख्य विहार स्थल मरुधर प्रान्त रहा है, आज ऐतिहासिक प्रबल प्रमाणों से यह प्रमाणित हो चुका है कि मरुधर-धरा की पुण्य भूमि में स्थानकवासी जैन धर्म का सर्वप्रथम प्रचार आचार्य सम्राट श्रद्धेय श्री अमरसिंह जी महाराज ने किया था। पूज्यश्री धर्मदास जी महाराज की शाखा के प्रज्ञामूर्ति पूज्यश्री धन्नाजी महाराज ने यह सुना कि आचार्यश्री अमरसिंह

जी महाराज के प्रबल धर्म प्रचार से मरुधर प्रान्त सुलभबोधि हो चुका है तब वे अपने शिष्यों सहित वहाँ पधारे। जोधपुर, जालोर, खाण्डप, पदराड़ा, पीपाड़ प्रभृति स्थल के प्राचीन हस्तलिखित भण्डारों को देखने का अवसर इन पंक्तियों के लेखक को मिला है। उन भण्डारों से जीर्ण-शीर्ण अवस्था में अनेक प्राचीन पत्र उपलब्ध हुए हैं जिनमें स्थानकवासी समाज के इतिहास की अनमोल सामग्री बिखरी पड़ी है। परम श्रद्धेय उपाध्याय राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी गुरुदेव श्री पुष्करमुनि महाराज के पास एक प्राचीन पत्र है जिसमें आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज का और आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज का पारस्परिक अत्यन्त मधुर सम्बन्ध था, इसका उल्लेख है। वे अनेक बार अनेक स्थलों पर एक दूसरे से मिले हैं। पारस्परिक एकता के लिए उन्होंने अनेक नियमोपनियम भी बनाये हैं। उस पन्ने में दोनों महापुरुषों के हस्ताक्षर भी हैं। मैं समझता हूँ उन महापुरुषों ने जो स्नेह का, सद्भावना का बीज वपन किया वह आज भी पल्लवित, पुष्पित है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज ने सतत जागरूकता एवं उग्र साधना से न केवल अपने अखण्ड ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप का विकास ही किया, किन्तु आत्म-विकासी उपदेश एवं काव्य रचना द्वारा साहित्य की जो श्रीवृद्धि की वह अपूर्व है, अनूठी है।

हिन्दी साहित्य की दृष्टि से आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज रीतिकाल में हुए हैं जिस युग में कवि गण विलास, वैभव एवं सामाजिक जीवन को महत्व देकर पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन कर रहे थे; किन्तु आप उस रीतिकाल की बंधी बंधाई सड़क पर नहीं चले। उन्होंने रीतिकालीन उद्दाम वासनात्मक शृंगार धारा को भक्ति-कालीन प्रशान्त साधनात्मक धारा की ओर मोड़ा। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि पद्माकर भी आपके ही समकालीन थे, जो—"**नैन नचाय कह्यो मुसकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी**" का निमन्त्रण दे रहे थे। कविवर नागरदास और हितवृन्दावन लाल भी इसी प्रकार श्री कृष्ण और राधा का शृंगारिक चित्रण कर रहे थे। दूसरी ओर ठाकुर और बोधा विशुद्ध और सात्विक प्रेम का निरूपण कर रहे थे। कविवर गिरिधर भी नीति का उपदेश देने के लिए कुंडलियाँ बना रहे थे। इधर श्रमण संस्कृति के जगमगाते नक्षत्र आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज अन्तःस्थ सौन्दर्य को निखारने के लिए, तीर्थंकर, विहरमान, सतियाँ और व्रतीय श्रावकों के गुणों का उत्कीर्तन कर रहे थे।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि रीतिकाल के प्रायः सभी कवि किसी न किसी के आश्रित रहे हैं। अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने हेतु वे विकार वर्द्धक शृंगारिक चित्रण करते थे। किन्तु आचार्यश्री जयमल्ल जी किसी के भी आश्रित कवि नहीं थे। किसी को प्रसन्न करना उनकी काव्य रचना का उद्देश्य नहीं था। वे तो स्वन्तः सुखाय रचना करते थे। अतः उनके काव्य में विलास

भावनाओं का पूर्ण अभाव है। रीतिकाल का कवि काव्य रचना के साथ ही काव्यगत सिद्धान्तों का विश्लेषण कर आचार्य बनता था। किन्तु आचार्य जयमल्ल जी महाराज ने लक्षण शास्त्र का निर्माण कर आचार्यपद प्राप्त नहीं किया, अपितु आचार धर्म का पालन कर वे आचार्य बने। उनका व्यक्तित्व उस युग के कवियों से सर्वथा पृथक है। सूरदास के काव्य में सौन्दर्य की प्रधानता है। तुलसीदास के काव्य में शक्ति की प्रतिष्ठा है। बिहारी आदि के काव्य में शृंगार की प्रधानता है। भूषण आदि के काव्य में वीरत्व का निरूपण है। वहाँ आचार्य जयमल्ल जी म० के काव्य में शील का विश्लेषण है। शील का वर्णन कर उन्होंने उस युग के राष्ट्रीय चरित्र को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उनके काव्य में अध्यात्मवाद की प्रधानता है, तदपि उसमें जीवन के हर पहलुओं की व्याख्या भी बड़े रोचक ढंग से मिलती है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० की उपलब्ध कुछ रचनाओं का संकलन-आकलन जयवाणी ग्रन्थ में किया गया है। जो (1) स्तुति (2) सज्झाय (3) उपदेशीय पद (4) चरित्र-चर्चा दोहावली के रूप में चार खण्डों में विभक्त है। उनके अतिरिक्त पूज्यश्री जयमल ज्ञान भण्डार पीपाड़ और श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार जपुयर से अनेक प्रकाशित रचनाएँ प्राप्त हुई हैं और भी भण्डारों की अन्वेपणा-गवेपणा करने से बहुत सी रचनाओं के मिलने की आशा है। अतः विद्वानों को इधर प्रयास करना चाहिए। अस्तु।

जैन आगम साहित्य द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग और चरण करणानुयोग के रूप में चार भागों में विभक्त है। आचार्यश्री जयमल्ल जी म० ने द्रव्यानुयोग के सम्बन्ध में स्वतन्त्र न लिखकर कथा के माध्यम से यत्र-तत्र उसका निरूपण किया है। सम्यक्त्व, गुणस्थान, दण्डक, पाप, कर्म और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में उनकी स्फुट रचनाएँ भी मिलती हैं।

चरण करणानुयोग के सम्बन्ध में कवि ने अनेक रचनाएँ बनाई हैं। सज्झाय स्तवन, चौबीसी आदि। धर्म कथानुयोग तो आचार्यश्री को अत्यधिक प्रिय रहा है। कथाओं के माध्यम से आध्यात्मिक, सामाजिक, दार्शनिक आदि बातों का जितना सुन्दर चित्रण हो सकता है उतना अन्य माध्यम से नहीं। कहानी ही विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी है। कथा के प्रति मानव का सहज आकर्षण है। उसमें जीवन की मधुरिमा अभिव्यंजित होती है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज ने महाकाव्य की रचना नहीं की है। कथाओं की रचना में इतिवृत्त की प्रमुखता है। उन्होंने अपने कथा-काव्य को अध्याय और सर्गों में विभक्त न कर ढालों में विभक्त किया है। आगमिक कथाओं को ही उन्होंने अपने काव्य में प्रमुखता दी है। काव्य कथा के मुख्य पात्र प्रायः राजघराने के, सामन्त व श्रेष्ठीजन हैं जो मोह पाश के बन्धन को तोड़कर साधना के महामार्ग पर

जी महाराज के प्रबल धर्म प्रचार से मरुधर प्रान्त सुलभबोधि हो चुका है तब वे अपने शिष्यों सहित वहाँ पधारे। जोधपुर, जालोर, खाण्डप, पदराड़ा, पीपाड़ प्रभृति स्थल के प्राचीन हस्तलिखित भण्डारों को देखने का अवसर इन पंक्तियों के लेखक को मिला है। उन भण्डारों से जीर्ण-शीर्ण अवस्था में अनेक प्राचीन पत्र उपलब्ध हुए हैं जिनमें स्थानकवासी समाज के इतिहास की अनमोल सामग्री बिखरी पड़ी है। परम श्रद्धेय उपाध्याय राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी गुरुदेव श्री पुष्करमुनि महाराज के पास एक प्राचीन पत्र है जिसमें आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज का और आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज का पारस्परिक अत्यन्त मधुर सम्बन्ध था, इसका उल्लेख है। वे अनेक बार अनेक स्थलों पर एक दूसरे से मिले हैं। पारस्परिक एकता के लिए उन्होंने अनेक नियमोपनियम भी बनाये हैं। उस पन्ने में दोनों महापुरुषों के हस्ताक्षर भी हैं। मैं समझता हूँ उन महापुरुषों ने जो स्नेह का, सद्भावना का बीज वपन किया वह आज भी पल्लवित, पुष्पित है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज ने सतत जागरूकता एवं उग्र साधना से न केवल अपने अखण्ड ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप का विकास ही किया, किन्तु आत्म-विकासी उपदेश एवं काव्य रचना द्वारा साहित्य की जो श्रीवृद्धि की वह अपूर्व है, अनूठी है।

हिन्दी साहित्य की दृष्टि से आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज रीतिकाल मे हुए हैं जिस युग में कवि गण विलास, वैभव एवं सामाजिक जीवन को महत्व देकर पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन कर रहे थे; किन्तु आप उस रीतिकाल की बंधी बंधाई सड़क पर नहीं चले। उन्होंने रीतिकालीन उद्दाम वासनात्मक शृंगार धारा को भक्ति-कालीन प्रशान्त साधनात्मक धारा की ओर मोड़ा। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि पद्माकर भी आपके ही समकालीन थे, जो—"नैन नचाय कह्यो मुसकाय, लला फिर आइयो खेलन होली" का निमन्त्रण दे रहे थे। कविवर नागरदास और हितवृन्दावन लाल भी इसी प्रकार श्री कृष्ण और राधा का शृंगारिक चित्रण कर रहे थे। दूसरी ओर ठाकुर और बोधा विशुद्ध और सात्विक प्रेम का निरुपण कर रहे थे। कविवर गिरि-धर भी नीति का उपदेश देने के लिए कुंडलियाँ बना रहे थे। इधर श्रमण संस्कृति के जगमगाते नक्षत्र आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज अन्तःस्थ सौन्दर्य को निखारने के लिए, तीर्थंकर, विहरमान, सतियाँ और व्रतीय श्रावकों के गुणों का उत्कीर्तन कर रहे थे।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि रीतिकाल के प्रायः सभी कवि किसी न किसी के आश्रित रहे हैं। अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने हेतु वे विकार वर्द्धक शृंगारिक चित्रण करते थे। किन्तु आचार्यश्री जयमल्ल जी किसी के भी आश्रित कवि नहीं थे। किसी को प्रसन्न करना उनकी काव्य रचना का उद्देश्य नहीं था। वे तो स्वन्तः सुखाय रचना करते थे। अतः उनके काव्य में विलास

भावनाओं का पूर्ण अभाव है। रीतिकाल का कवि काव्य रचना के साथ ही काव्यगत सिद्धान्तों का विश्लेषण कर आचार्य बनता था। किन्तु आचार्य जयमल्ल जी महाराज ने लक्षण शास्त्र का निर्माण कर आचार्यपद प्राप्त नहीं किया, अपितु आचार धर्म का पालन कर वे आचार्य बने। उनका व्यक्तित्व उस युग के कवियों से सर्वथा पृथक है। सूरदास के काव्य में सौन्दर्य की प्रधानता है। तुलसीदास के काव्य में शक्ति की प्रतिष्ठा है। बिहारी आदि के काव्य में शृंगार की प्रधानता है। भूषण आदि के काव्य में वीरत्व का निरूपण है। वहाँ आचार्य जयमल्ल जी म० के काव्य में शील का विश्लेषण है। शील का वर्णन कर उन्होंने उस युग के राष्ट्रीय चरित्र को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उनके काव्य में अध्यात्मवाद की प्रधानता है, तदपि उसमें जीवन के हर पहलुओं की व्याख्या भी बड़े रोचक ढंग से मिलती है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० की उपलब्ध कुछ रचनाओं का संकलन-आकलन जयवाणी ग्रन्थ में किया गया है। जो (1) स्तुति (2) सज्झाय (3) उपदेशीय पद (4) चरित्र-चर्चा दोहावली के रूप में चार खण्डों में विभक्त है। उनके अतिरिक्त पूज्यश्री जयमल ज्ञान भण्डार पीपाड़ और श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार जपुयर से अनेक प्रकाशित रचनाएँ प्राप्त हुई हैं और भी भण्डारों की अन्वेषणा-गवेषणा करने से बहुत सी रचनाओं के मिलने की आशा है। अतः विद्वानों को इधर प्रयास करना चाहिए। अस्तु।

जैन आगम साहित्य द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग और चरण करणानुयोग के रूप में चार भागों में विभक्त है। आचार्यश्री जयमल्ल जी म० ने द्रव्यानुयोग के सम्बन्ध में स्वतन्त्र न लिखकर कथा के माध्यम से यत्र-तत्र उसका निरूपण किया है। सम्यक्त्व, गुणस्थान, दण्डक, पाप, कर्म और मोक्ष आदि के सम्बन्ध में उनकी स्फुट रचनाएँ भी मिलती हैं।

चरण करणानुयोग के सम्बन्ध में कवि ने अनेक रचनाएँ बनाई हैं। सज्झाय स्तवन, चौबीसी आदि। धर्म कथानुयोग तो आचार्यश्री को अत्यधिक प्रिय रहा है। कथाओं के माध्यम से आध्यात्मिक, सामाजिक, दार्शनिक आदि बातों का जितना सुन्दर चित्रण हो सकता है उतना अन्य माध्यम से नहीं। कहानी ही विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी है। कथा के प्रति मानव का सहज आकर्षण है। उसमें जीवन की मधुरिमा अभिव्यंजित होती है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज ने महाकाव्य की रचना नहीं की है। कथाओं की रचना में इतिवृत्त की प्रमुखता है। उन्होंने अपने कथा-काव्य को अध्याय और सर्गों में विभक्त न कर ढालों में विभक्त किया है। आगमिक कथाओं को ही उन्होंने अपने काव्य में प्रमुखता दी है। काव्य कथा के मुख्य पात्र प्रायः राजघराने के, सामन्त व श्रेष्ठीजन हैं जो मोह पाश के बन्धन को तोड़कर साधना के महामार्ग पर

बढ़ते हैं। बढ़ते समय अनेक परिषह आते हैं, पर जो परिषहों को जीतकर वीर योद्धा की तरह आगे बढ़ता है वही अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

कर्मवाद जैन दर्शन की आधारशिला है। कर्मवाद का प्ररूपण करने के लिए पूर्व जन्म का निरूपण किया गया है। वर्तमान में जो सुख-दुःख उपलब्ध होते हैं उसका मुख्य कारण कर्म ही है। कर्म के कारण ही प्रतिनायक बनकर नायक से बदला लेता है। पर नायक क्षमा का वह आदर्श उपस्थित करता है जिसके कारण भव परम्परा का अन्त हो जाता है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज श्रमण संस्कृति के सन्त हैं। अतः उनके काव्य में लौकिक सुख की प्रमुखता नहीं। किन्तु अध्यात्मिक आनन्द की प्रमुखता है। उन्होंने संसार के ऐश्वर्य का नहीं, किन्तु संसार की नश्वरता का वर्णन बड़ा ही सुन्दर किया है।

भृगु पुरोहित के चरित्र में महारानी कमलावती सम्राट से कहती है—"राजन् ! रत्नजड़ित पिंजड़े में तोते को आप भले ही बन्द कर दें, परन्तु वह उसे बन्धन ही समझता है। रहने को बढ़िया स्थान है, खाने को पकवान है और पीने को दूध है पर स्वतन्त्रता का आनन्द वहाँ कहाँ है ? यही स्थिति मेरी भी है। ये विराट राजमहल, भौतिक वैभव मेरे लिए बन्धन स्वरूप हैं, एक क्षण के लिए भी मुझे इनमें आनन्द की उपलब्धि नहीं हो रही है—

"रत्न जड़ित हो राजाजी पिंजरो, सुवो तो जाणे है फंद।
इसडी पण हूँ, थांरां राज में, रति न पाऊँ आणंद ॥"

आनन्द तभी मिलेगा जब हम कर्म बन्धन को तोड़कर संयम को ग्रहण करेंगे—

"हस्ती जिम बन्धन तोड़ने, आपणे वन में सुखे जाय।
ज्यूँ कर्म बन्धन तोड़ी संजम ग्रहाँ, होस्यां ज्यूँ सुखी मुगत मांय ॥"

संयम का मार्ग कोई सरल मार्ग नहीं है, वह कंटकाकीर्ण पथ है। उसपर चलना कितना कठिन है। देखिये आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज ने श्रमण जीवन की कठोर चर्या का कितना सजीव वर्णन किया है—

"मुनिवर मोटा, अणगार, करता उग्र विहार,
पड़ रही तावडे री भोट, तिरसा सूँ सूखा होट।
कठिन परिसो साधनो ए ॥
तालवे कोई नहीं थूक, जीभ गई ज्यांरी सूख,
होटो रे आई खरपटी ए ॥

भगवान् नेमिनाथ पाणिग्रहण के लिए जाते हैं। उस समय वन्दी पशुओं के करुण-क्रन्दन को श्रवण कर उनका हृदय करुणा से आप्लावित हो जाता है। उनके हृद्तन्त्री के सुकुमार तार झनझना उठते हैं—

'परणी जण में पापज मोटो, जीव हिंसा से सहज खोटो।
ए तो दीसे परतख तोटो, तो लेऊँ दया रो ओटो ॥''

भ० नेमीश्वर उसी क्षण वन्दी पशुओं को मुक्त कर स्वयं श्रमण बनने की तैयारी करते हैं। मुक्त पशुओं के अन्तर हृदय से आशीर्वचन निकलते हैं—

''गगन जातां जीव देवे आसीस के, पशु ने पंखिया जगदीश।
जादव हिवे चिरंजीव हो, बलिहारी तुम बाप ने माय के ॥
पुत्र रतन जिन जनमियो, स्वामी थे सारिया, अम्ह तणा काज के।
तीन भवन रो पायजो राज के, शील अखण्डित पालजो ॥''

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० के काव्य में वैराग्य-रस की प्रधानता होने पर भी शृंगार रस के संयोग-वियोग का सुन्दर चित्रण उनके काव्य में हुआ है। संयोग का चित्रण संयम लेने के पूर्व नायक सांसारिक विषयों में आसक्त होता है—उस समय का है—

''चन्द्र वदन मृग-लोयणी जी, चपल लोचनी बाल।
हरी लंकी मृदु भाषिणीजी, इन्द्राणी-सी रूप रसाल ॥
प्रीतवती मुख आगले जी, मुलकंती मोहन वेल।
चतुरांना मन मोहती जी, हँस-गमणी सूँ करता बहुकेल ॥

भगवान् अरिष्टनेमि संयम ग्रहण कर लेते हैं। राजमती उनकी अपलक प्रतीक्षा कर रही है। उनके दर्शन के लिए उसकी आँखें तरस रही हैं। वह प्रिय दर्शन के लिए आतुर है। वह अपनी प्रिय सखियों को उनका पत्र लाने और उपालंभ भेजने के लिए कहती है—

तरसत अखियाँ हुई द्रुम-पखियाँ, जाय मिलो पिवसूँ सखियाँ।
यदुनाथ जी रे हाथ री ल्यावे कोई पतियाँ, नेमनाथजी-दीनानाथ जी।''

राजमती अपने प्रियतम को उपालंभ देती है कि तुम मुझे छोड़कर साधु क्यों बन गये। वह अपनी दासियों से कहती है कि तुम यदि उनका सन्देश लाओगी तो मैं तुम्हें विविध आभूषणों से लाद दूंगी—

''जाकूँ दूंगी जरावरो गजरो, कानन कूँ चूनी मोतिया।
अंगुरी कूँ मूँदड़ी, ओढ़न कूँ फमड़ी, पेरण कूँ रेशमी धोतिया ॥''

प्रियतम के अभाव में महल भी जेल के समान है और चारु चन्द्र की चंचल किरणें भी तन को दग्ध करने वाली हैं—

"महल अटारी, भए कटारी, चंद-किरण तनूं दाझतिया ॥"

इस प्रकार जय-काव्य में विरह के रसीले चित्र हैं। राजमती अन्त में साधिका बनकर अपने जीवन को परम पवित्र बनाती है। शृंगार-रस शान्तरस की पीठिका बनकर उपस्थित हुआ है।

वात्सल्य रस का अंकन भी अत्यन्त सजीव हुआ है। माता देवकी का मातृ-हृदय अपने प्यारे पुत्रों को निहार कर किस प्रकार बरसती नदी की तरह उमड़ता है। देखिये कवि ने लिखा है—

"तडाक से तूटी कस कंचू तणी रे, भण रे तो छुटी दुधधार रे।
हिवडा माहे हर्ष मावे नहीं रे, जाणे के मिलियो मुझ करतार रे॥
रोम-रोम विकस्यां, तन-मन अलस्यां रे, नयणे तो छूटी आंसू धार रे।
बिलिया तो बाँहा माहे मावे नहीं रे, जाणे तूट्यों मोत्यां रो हार रे॥

वियोग वात्सल्य का वर्णन भी दर्शनीय है। माता देवकी के सात-सात पुत्र हुए, पर उसने किसी का भी लाड़-प्यार नहीं किया, खिलाया पिलाया नहीं, एतदर्थ उसका मातृ हृदय पश्चाताप की आग में झुलस रहा है। अपने आँखों के तारे, नयनों के सितारे श्रीकृष्ण से कहती है—

'जाया मैं तुम सरिखा कन्हैया, एकण नाले सात रे।
एकण ने हुलरायो नहीं कन्हैया, गोद न खिलायो खण मात रे॥
रोवतो मैं राख्यो नहीं कन्हैया, पालणिये पौढ़ाय रे।
हालरियो देवा तणी, कन्हैया, म्हारे हूँस रही मन मांय रे।"

वियोग वात्सल्य का ऐसा स्पष्ट चित्र महाकवि सूर के काव्य में भी नहीं आ सकता है।

माँ देवकी अपने प्यारे लाल गजसुकुमार से किस प्रकार प्यार करती है ? उसकी किलकारियों पर वह झूम उठती है। उसे किस प्रकार खिलाती-पिलाती है, वस्त्र आदि पहनाती है। कवि के शब्दों में देखिये—

"जी हो आंखडली अंजावनी, लाल भाल करावण चन्द।
जी हो गाला टीकी साँवली, लाला, आलिंगन आनन्द॥
जी हो पग मांडण ग्रही अंगुली, लाला, ठुमक-ठुमक री चाल।
जी हो बोलण भाषा तोतली, लाला, रिझावण अतिख्याल॥

जी हो दही रोटी जिमावणो, लाला अरु चवावण तंबोल।
जी हो सुख सु मुख में दिरीजंता, लाला लीला अधर अमोल॥"

इस प्रकार आपकी रचनाओं में वीर, रौद्र, करुण और शान्तरस का वर्णन भी यथास्थान आया है। हास्य और व्यंग्य के मनोरम प्रसंग भी दिल को लुभाने वाले हैं।

मानव पाप कृत्य करते समय प्रमुदित होता है, पर जिस समय पाप का फल प्राप्त होता है उस समय वह किस प्रकार करुण-क्रन्दन करता है। नारकीय जीव किस तरह कष्ट भोगते हैं, उससे वह वचना चाहता है, पर बच नहीं पाता है—

"सुंसाडा करंता रे, सुर शेप धरंता रे,
दश दिन का भूखा रे, खावण ने ढूका रे।
कूकारे पाडे कहे देव छोड़ावजो रे॥
सांभल बहु आया रे, दोड़ी ने थाया रे,
दांतों सूँ काटे रे, बेर आगला वाढे रे।
कुण काढ़े-ए नर वलवंत इसो रे॥"

पुण्य और पाप के फल संसार में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, उसके लिए आगम आदि प्रमाणों की भी आवश्यकता नहीं है। पुण्यवानी की प्रबलता से जीव सुख के सागर पर तैरता है और पाप की अधिकता से दुःखाग्नि में झुलसता है। देखिये कवि ने लिखा है—

"एक चढ़े छे पालखी रे बोहला चाले छे जी लार।
एकण रे सिर पोटली जी, पगां नहीं पेंजार रे,
रे प्राणी पाप पुण्य फल जोय॥
एक-एक मानव एहवा जी, रोग सोग नहीं थाय।
एकीकाँ का डील को जी टसको कदे न जाय॥
एक-एक वत्ती से अंग भण्या जी, कहे ठामों जी ठाम।
एकण के पूरा नहीं चढे जी, छकायाँ का नाम रे॥"

कवि सांसारिक प्राणियों को उद्बोधन देता हुआ कहता है कि तुम पाप क्यों बांधते हो। पाप का फल तुम्हें स्वयं को भोगना पड़ेगा।

'कुटुम्ब कारण कर्म बांधने, पडियो नरकां में जाय।
एकलड़ो दुःख भोगवे कुण त्यावे छुड़ाय॥"

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० प्रथम साधक और बाद में कवि हैं। यही

कारण है कि उनके काव्य में कारीगरी और कलावाजी नहीं, हृदय की निष्कपट अभिव्यक्ति है। अलंकारों का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं, भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए। साहृश्य मूलक अलंकारों का प्रयोग ही विशेप रूप से हुआ है। उनमें भी उपमा और रूपक अलंकार के प्रति कवि का विशेष आकर्पण है। उसमें उपमाओं का चुनाव बड़ी सजगता से किया है। उसमें उनकी पैनी दृष्टि निहारी जा सकती है। देखिए कतिपय उदाहरण हैं—

(१) आयु घटती जाय छे, जिम अंजली नो पाणी।'

(२) नेम कंवर रथ बैठां छाजे ग्रह नक्षत्र में जिम चन्द्र विराजे ॥

(३) अथिर ज जाणो रे थारों आउखो जियम पाको पीपल पान ॥

(४) चार गतिनां रे दुःख कह्या जीवे अनंति-अनंति वार लह्या,
पची रह्यो जिम तेल वड़ो श्री शन्ति जिनेश्वर शान्ति करो ॥

(५) काल खड़ो थारे बारणे जिम तोरण आयो वीन्द ॥

जय काव्य में रूपक का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। मुख्य रूप से कवि ने सांग रूपक का प्रयोग दिया है।

क्षमा-गढ़ में प्रविष्ट होने के लिए द्वादश भावना रूपी नाल की चढ़ाई आठ कर्म रूपी किवाड़ों को तोड़ने का वर्णन कवि इस प्रकार कर रहा है—

'म्हारे क्षमागढ़-मांय, फोजां रहसी चढ़ी री माई,
बारे भेदे तप तणी, चोको खड़ी।
वारे भावना नाल, चढ़ाऊँ कांगरे-री माई,
तोड़ूं आठे कर्म, सफल कार्य सरे ॥"

कवि आध्यात्मिक दीवाली का वर्णन करता हुआ कहता है कि काया की हवेली को तप से उज्ज्वल करना है, क्षमा के खाजे, वैराग्य के घेवर तथा उपशम के मोवण से मोतीचूर बनाने हैं—

'काया रूपी हवेलियाँ तपस्या करने रेल।
सूंस वरत कर मांडणो, विनय भाव वर वेल ॥
क्षमा रूप खाजा करो, वैराग्य घृतज पूर।
उपशम मोवण घालने, मदवो मोतीचूर ॥"

आत्मा एक बार कर्मों से मुक्त हो जाता है तो फिर वह कभी कर्मबद्ध नहीं होता। क्योंकि उस समय कर्मबन्ध के कारणों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज के जल जाने पर पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही कर्मरूपी बीज के जल जाने पर संसार रूपी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्म बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः ।।

तत्वार्थ भाष्यगत अन्तिम कारिका का आचार्यश्री जयमल जी म० ने अपनी भाषा में इस प्रकार अनुवाद किया है—

'दग्ध बीज जिम धरती व्हायां, नहिं मेले अंकुर जी ।
तिम हीज सिद्ध जी, जन्म-मरण री करदी उत्पत्ति दूर जी ।।"

छन्द विधान की दृष्टि से जैन कवि बड़े उदार रहे हैं। शास्त्रीय छन्दों की अपेक्षा लौकिक छन्दों में विविध प्रयोग उन्होंने बड़ी दक्षता के साथ किये हैं।

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० ने दोहा, सोरटा, ढाल आदि में अपनी रचनाएँ लिखी हैं। संगीत तत्व इनकी कविता की एक विशेपता है। उनकी सभी रचनाएँ गेय हैं। ढालों को भी विभिन्न राग-रागिणियों में लिखा है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० की भाषा राजस्थानी है। उस पर कवि का पूर्ण अधिकार है। भाषा भावों के अनुकूल चलती है। उसमें प्रवाह है, माधुर्य है, ओज है, सरलता व सरसता है। उसमें पारिभाषिक शब्दों की बहुलता है।

वस्तुतः आचार्य श्री जयमल्ल जी म० की रचनाएँ हिन्दी साहित्य भण्डार की अनमोल निधि है। आपकी बहुमूल्य समस्त रचनाएँ उपलब्ध होने पर निश्चय ही भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि होगी। ब्रज, भोजपुरी, अवधी, प्रभृति भाषा के साहित्य की अपेक्षा राजस्थानी साहित्य अधिक समृद्ध है। किन्तु परिताप का विषय है कि आज भी अधिकांश राजस्थानी साहित्य अभी तक अप्रकाशित है। भण्डारों की चार दीवारों में बन्द होने के कारण विज्ञों के लिए अनुपलब्ध हैं। आशा है आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज का सम्पूर्ण साहित्य उनके उत्तराधिकारी मुनिवर शीघ्र ही प्रकाश में लायेंगे तो साहित्य की महान् सेवा होगी।

संक्षेप में आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज का व्यक्तित्व जितना मधुर, आकर्षक एवं गंभीर था कृतित्व भी उतना ही तेजस्वी, बहुमुखी और गौरव पूर्ण था।

(जयध्वज की प्रस्तावना से)

९

स्थानकवासी परम्परा के एक आध्यात्मिक कवि श्री नेमीचन्द जी महाराज

सन्त साहित्य भारतीय साहित्य का जीवन-सत्व है। साधना के अमर-पथ पर निरन्तर प्रगति करते हुए आत्मवल के धनी सन्तों ने जिस सत्य के दर्शन किये उसे सहज, सरल एवं वोधगम्य वाणी द्वारा 'सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय' अभिव्यक्त किया। जीवन काव्य के रचयिता, आत्मसंगीत के उद्‌गाता, संतों ने अपनी विमल वाणी में जो अनमोल विचार रत्न प्रस्तुत किये हैं वे युग-युग तक मानवों को अन्तस्-श्रेयस की ओर प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ने की पवित्र प्रेरणा देते रहेंगे। सन्तों के विचारों की वह अमर ज्योति जो हृदयस्पर्शी पदों में व्यक्त हुई है, वह कभी भी बुझ नहीं सकती। उसका शाश्वत प्रकाश सदा जगमगाता रहेगा। उनकी काव्य सुरसरि का प्रवाह कभी सूखेगा नहीं, किन्तु बहता ही रहेगा। जिसका सेवन कर मानव अमरत्व को उपलब्ध कर सकता है।

कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज एक क्रान्तद्रष्टा, विचारक संत थे। वे विकारों व रूढ़ियों से लड़े और स्थिति पालकों के विरुद्ध उन्होंने क्रान्ति का शंख फूंका, विपरीत परिस्थितियाँ उन्हें डिगा नहीं सकीं, और विरोध उन्हें अपने लक्ष्य से हिला नहीं सका। वे मेरु और हिमाद्रि की तरह सदा स्थिर रहे, जो उनके जीवन की अद्‌भुत सहिष्णुता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का प्रतीक है। वे सत्य को कटु रूप में कहने में भी नहीं हिचके यही कारण है कि उनकी कविता में कबीर का फक्कड़पन है, और आनन्दघन की मस्ती है तथा समयसुन्दर की स्वाभाविकता है। साथ ही उनमें ओज, तेज और संवेग है।

कवि बनाये नहीं जाते किन्तु वे उत्पन्न होते हैं। यद्यपि कविवर नेमीचन्द जी महाराज ने अलंकार-शास्त्र, रीति ग्रन्थ और कवित्व का विधिवत शिक्षण प्राप्त किया हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। जब हृदय में भावों की बाढ़ आयी और वे बाहर निकलने के लिए छटपटाने लगे तब सारपूर्ण शब्दों का सम्बल पाकर कविता बन गयी। कवि पर काव्य नहीं किन्तु काव्य पर कवि छाया है उनके कवित्व में व्यक्तित्व और व्यक्तित्व में कवित्व इस तरह समाहित हो गया है, जैसे जल और तरंग! उनकी अपनी शैली है, लय है, कम्पन है और संगीत है।

उनकी कविताओं में कहीं कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है, कहीं प्रकृति नटी का सुन्दर चित्रण है तो कहीं शब्दों की सुकुमार लड़ियां और कड़ियां हैं, भक्ति व शान्तरस के साथ-साथ कहीं पर वीररस और कहीं पर करुणरस प्रवाहित हुआ है। यह सत्य है कि कवि की सूक्ष्म-कल्पना प्रकृति-चित्रण करने की अपेक्षा मानवीय भावों का आलेखन करने में अधिक सक्षम रही है। कवि के जीवन में आध्यात्म का अलौकिक तेज निखर रहा है, उसकी वाणी तपःपूत है और उसमें संगीत की मधुरता भी है।

कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज एक विलक्षण प्रतिभासम्पन्न सन्त थे। वे आशुकवि थे, प्रखर प्रवक्ता थे, आगम साहित्य, धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् थे और सरल, सरस लोकप्रिय काव्य के निर्माता थे।

नेमीचन्द जी महाराज का लम्बा कद, श्याम वर्ण, विशाल भव्य भाल, तेजस्वी नेत्र, प्रसन्न वदन, और श्वेत परिधान से ढके हुए रूप को देखकर दर्शक प्रथम दर्शन में ही प्रभावित हो जाता था। वह ज्यों-ज्यों अधिकाधिक मुनिश्री के सम्पर्क में आता, त्यों-त्यों उसे सहजता, सरलता, निष्कपटता, स्नेही स्वभाव, उदात्त चिन्तन व आत्मीयता की सहज अनुभूति होने लगती है।

आपश्री का जन्म विक्रम संवत् १९२५ में आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को उदयपुर राज्य के बगडुन्दा (मेवाड़) में हुआ। आपके पूज्य पिताश्री का नाम देवी लाल जी लोढ़ा और माता का नाम कमलादेवी था।

बचपन से ही आपका झुकाव सन्त-सतियों की ओर था। प्रकृति की उन्मुक्त गोद में खेलना जहाँ उन्हें पसन्द था, वहां उन्हें सन्त-सतियों के पावन उपदेश को सुनना भी बहुत ही पसन्द था।

आचार्य सम्राट पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज के छट्ठे पट्टधर आचार्यश्री पूनमचन्द जी म० एक बार विहार करते हुए बगडुन्दा पधारे। पूज्यश्री के त्याग-वैराग्ययुक्त प्रवचनों को सुनकर आपश्री के मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई और आपने दीक्षा लेने की उत्कट भावना अपने परिजनों के समक्ष व्यक्त की। किन्तु पुत्र-प्रेम के कारण उनकी आँखों से अश्रु छलक पड़े। उन्होंने अनेक अनुकूल और प्रतिकूल परीषह देकर उनके वैराग्य का परीक्षण किया, किन्तु जब वैराग्य का रंग धुंधला न पड़ा तब विक्रम सम्वत् १९४० में फाल्गुन शुक्ल छठ को बगडुन्दा ग्राम में आचार्य प्रवर श्री पूनमचन्दजी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

आप में असाधारण मेधा थी। अपने विद्यार्थी जीवन में इकतीस हजार पद्यों को कण्ठस्थ कर अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। आचारांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, विपाक आदि अनेक शास्त्र आपने कुछ ही दि नोंमें

९

स्थानकवासी परम्परा के एक आध्यात्मिक कवि श्री नेमीचन्द जी महाराज

सन्त साहित्य भारतीय साहित्य का जीवन-सत्व है। साधना के अमर-पथ पर निरन्तर प्रगति करते हुए आत्मबल के धनी सन्तों ने जिस सत्य के दर्शन किये उसे सहज, सरल एवं बोधगम्य वाणी द्वारा 'सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय' अभिव्यक्त किया। जीवन काव्य के रचयिता, आत्मसंगीत के उद्‌गाता, संतों ने अपनी विमल वाणी में जो अनमोल विचार रत्न प्रस्तुत किये हैं वे युग-युग तक मानवों को अन्तस्-श्रेयस की ओर प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ने की पवित्र प्रेरणा देते रहेंगे। सन्तों के विचारों की वह अमर ज्योति जो हृदयस्पर्शी पदों में व्यक्त हुई है, वह कभी भी बुझ नहीं सकती। उसका शाश्वत प्रकाश सदा जगमगाता रहेगा। उनकी काव्य सुरसरि का प्रवाह कभी सूखेगा नहीं, किन्तु बहता ही रहेगा। जिसका सेवन कर मानव अमरत्व को उपलब्ध कर सकता है।

कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज एक क्रान्तद्रष्टा, विचारक संत थे। वे विकारों व रूढ़ियों से लड़े और स्थिति पालकों के विरुद्ध उन्होंने क्रान्ति का शंख फूंका, विपरीत परिस्थितियाँ उन्हें डिगा नहीं सकीं, और विरोध उन्हें अपने लक्ष्य से हिला नहीं सका। वे मेरु और हिमाद्रि की तरह सदा स्थिर रहे, जो उनके जीवन की अद्‌भुत सहिष्णुता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का प्रतीक है। वे सत्य को कटु रूप में कहने में भी नहीं हिचके यही कारण है कि उनकी कविता में कबीर का फक्कड़पन है, और आनन्दघन की मस्ती है तथा समयसुन्दर की स्वाभाविकता है। साथ ही उनमें ओज, तेज और संवेग है।

कवि बनाये नहीं जाते किन्तु वे उत्पन्न होते हैं। यद्यपि कविवर नेमीचन्द जी महाराज ने अलंकार-शास्त्र, रीति ग्रन्थ और कवित्व का विधिवत शिक्षण प्राप्त किया हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। जब हृदय में भावों की बाढ़ आयी और वे बाहर निकलने के लिए छटपटाने लगे तब सारपूर्ण शब्दों का सम्बल पाकर कविता बन गयी। कवि पर काव्य नहीं किन्तु काव्य पर कवि छाया है उनके कवित्व में व्यक्तित्व और व्यक्तित्व में कवित्व इस तरह समाहित हो गया है, जैसे जल और तरंग! उनकी अपनी शैली है, लय है, कम्पन है और संगीत है।

उनकी कविताओं में कहीं कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है, कहीं प्रकृति नटी का सुन्दर चित्रण है तो कहीं शब्दों की सुकुमार लड़ियाँ और कड़ियाँ हैं, भक्ति व शान्तरस के साथ-साथ कहीं पर वीररस और कहीं पर करुणरस प्रवाहित हुआ है। यह सत्य है कि कवि की सूक्ष्म-कल्पना प्रकृति-चित्रण करने की अपेक्षा मानवीय भावों का आलेखन करने में अधिक सक्षम रही है। कवि के जीवन में आध्यात्म का अलौकिक तेज निखर रहा है, उसकी वाणी तपःपूत है और उसमें संगीत की मधुरता भी है।

कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज एक विलक्षण प्रतिभासम्पन्न सन्त थे। वे आशुकवि थे, प्रखर प्रवक्ता थे, आगम साहित्य, धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् थे और सरल, सरस लोकप्रिय काव्य के निर्माता थे।

नेमीचन्द जी महाराज का लम्बा कद, श्याम वर्ण, विशाल भव्य भाल, *तेजस्वी नेत्र, प्रसन्न वदन, और श्वेत* परिधान से ढके हुए रूप को देखकर दर्शक प्रथम दर्शन में ही प्रभावित हो जाता था। वह ज्यों-ज्यों अधिकाधिक मुनिश्री के सम्पर्क में आता, त्यों-त्यों उसे सहजता, सरलता, निष्कपटता, स्नेही स्वभाव, उदात्त चिन्तन व आत्मीयता की सहज अनुभूति होने लगती है।

आपश्री का जन्म विक्रम संवत् १९२५ में आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को उदयपुर राज्य के बगडुन्दा (मेवाड़) में हुआ। आपके पूज्य पिताश्री का नाम देवी लाल जी लोढ़ा और माता का नाम कमलादेवी था।

बचपन से ही आपका झुकाव सन्त-सतियों की ओर था। प्रकृति की उन्मुक्त गोद में खेलना जहाँ उन्हें पसन्द था, वहाँ उन्हें सन्त-सतियों के पावन उपदेश को सुनना भी बहुत ही पसन्द था।

आचार्य सम्राट पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज के छट्ठे पट्टधर आचार्यश्री पूनमचन्द जी म० एक बार विहार करते हुए बगडुन्दा पधारे। पूज्यश्री के त्याग-वैराग्ययुक्त प्रवचनों को सुनकर आपश्री के मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई और आपने दीक्षा लेने की उत्कट भावना अपने परिजनों के समक्ष व्यक्त की। किन्तु पुत्र-प्रेम के कारण उनकी आँखों से अश्रु छलक पड़े। उन्होंने अनेक अनुकूल और प्रति-कूल परीषह देकर उनके वैराग्य का परीक्षण किया, किन्तु जब वैराग्य का रंग धुंधला न पड़ा तब विक्रम सम्वत् १९४० में फाल्गुन शुक्ल छठ को बगडुन्दा ग्राम में आचार्य प्रवर श्री पूनमचन्दजी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

आप में असाधारण मेधा थी। अपने विद्यार्थी जीवन में इकतीस हजार पद्यों को कण्ठस्थ कर अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। आचारांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, विपाक आदि अनेक शास्त्र आपने कुछ ही दि नोंमें

कण्ठस्थ कर लिये और सैकड़ों थोकड़े (स्तोक) भी कण्ठस्थ किये। आपने अठाणु बोल का वासठिया एक मुहूर्त्त में याद कर सभी को विस्मित कर दिया।

आप आशुकवि थे, चलते-फिरते, वार्तालाप करते या प्रवचन देते समय जब भी इच्छा होती तब आप कविता बना देते थे।

एक बार आप समदड़ी गाँव में विराज रहे थे। पोष का महीना था, बहुत ही तेज सर्दी पड़ रही थी। रात्रि में सोने के लिए एक छोटा-सा कमरा मिला। छह साधु उस कमरे में सोये। असावधानी से रजोहरण की दण्डी पर पैर लग गया, जिससे वह दण्डी टूट गयी। आपने उसी समय निम्न दोहा कहा—

"ओरी मिल गयी सांकड़ी, साधू सूता खट्ट।
नेमीचन्द री डांडी भागी, बटाक देता बट्ट॥"

आपश्री ने रामायण, महाभारत, गणधर चरित्र, रुक्मिणी मंगल, भगवान् ऋषभदेव, भगवान् महावीर आदि पर अनेक खण्डकाव्य और महाकाव्य विभिन्न छन्दों में बनाये थे किन्तु आपश्री उन्हें लिखते नहीं थे, जिसके कारण आज वे अनुपलब्ध हैं। क्या ही अच्छा होता यदि वे स्वयं लिखते या अन्यों से लिखवाते तो वह बहुमूल्य साहित्य सामग्री नष्ट नहीं होती।

आप प्रत्युत्पन्न मेधावी थे। जटिल से जटिल प्रश्नों का समाधान भी शीघ्रातिशीघ्र कर देते थे। आपश्री के समाधान आगम व तर्कसम्मत होते थे। यही कारण है कि गोगुन्दा, पंचभद्रा, पारलू आदि अनेक स्थलों पर दया-दान के विरोधी सम्प्रदाय वाले आपसे शास्त्रार्थ में परास्त होते रहे।

एक बार आचार्य प्रवर श्री पूनमचन्द जी महाराज गोगुन्दा विराज रहे थे। उस समय एक अन्य जैन सम्प्रदाय के आचार्य भी यहाँ पर आये हुए थे। मार्ग में दोनों आचार्यों का मिलाप हो गया। उन आचार्य के एक शिष्य ने आचार्यश्री पूनमचन्द जी महाराज के लिए पूछा—"थांने भेख पेहरयाँ ने कितराक वरस हुआ है?" कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज ने उस साधु को भाषा समिति का परिज्ञान कराने के लिए उनके आचार्य के सम्बन्ध में पूछा। "थांने हाँग पेहर्यां ने कितराक वरस हुआ है?" यह सुनते ही वह साधु चौंक पड़ा और बोला—'यों कांई बोलो हो?" आपने कहा—'हम तो सदा दूसरों के प्रति पूज्य शब्दों का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु आपने हमारे आचार्य के लिए जिन निकृष्ट शब्दों का प्रयोग किया, उसी का आपको परिज्ञान कराने हेतु मैंने इन शब्दों का प्रयोग किया है,।" साधु का सिर लज्जा से झुक गया और 'भविष्य में इस प्रकार के शब्दों का हम प्रयोग नहीं करेंगे' कह कर उसने क्षमायाचना की।

आपश्री के बड़े गुरुभ्राता श्री ज्येष्ठमल जी महाराज थे, जो एक अध्यात्म-योगी सन्त थे। रात्रि भर खड़े रह कर ध्यान-योग की साधना करते थे, जिससे

उनकी वाचा सिद्ध हो गयी थी। और वे पंचम आरे के केवली के रूप में विश्रुत थे। उनके दिव्य प्रभाव से प्रभावित होकर आपश्री भी ध्यानयोग की साधना किया करते थे। ध्यानयोग की साधना से आपका आत्मतेज इतना अधिक वढ़ गया था कि भय-प्रद स्थान में भी आप पूर्ण निर्भय होकर साधना करते थे।

एक बार आपश्री का चातुर्मास निम्वाहेड़ा (मेवाड़) में था। वहाँ पर साहड़ों की एक छह मंजिल की भव्य विल्डिग थी। उस हवेली में कोई भी नहीं रहता था। महाराज श्री ने लोगों से पूछा—यह हवेली खाली क्यों पड़ी है इसमें लोग क्यों नहीं रहते हैं जबकि गाँव में यह सबसे बढ़िया हवेली है। लोगों ने भय से काँपते हुए कहा—महाराजश्री ! इस हवेली में भूत का निवास है जो किसी को भी शान्ति से रहने नहीं देता। महाराजश्री ने कहा—यह स्थान बहुत ही साताकारी है। हम इसी स्थान पर वर्षावास करेंगे। लोगो ने महाराजश्री को भयभीत करने के लिए अनेक वातें कहीं, किन्तु महाराज श्री ने उनकी वातों पर ध्यान न देकर वहीं चातुर्मास किया। चार माह तक किसी को कुछ भी नहीं हुआ। आध्यात्मिक साधना से भूत का भय मिट गया।

इसी तरह कम्वोल गाँव में सेठ मनरूपजी लक्ष्मीलाल जी सोलंकी का मकान भयप्रद माना जाता था। वहाँ पर भी चातुर्मास कर उस स्थान को भयमुक्त कर दिया।

वि० सं० १९५९ में नेमीचन्द जी महाराज तिरपाल पधारे, और आपश्री के उपदेश से श्री प्यारचन्द जी भैंरुलाल जी दोनों भ्राताओं ने भागवती दीक्षा ग्रहण की और माता तीजाबाई ने तथा सोहनकुँवरजी ने भी महासती रामकुँवरजी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। महासती सोहनकुँवरजी महाराज बहुत ही भाग्यशाली, प्रतिभा सम्पन्न एवं चरित्र निष्ठा सती थीं।

आपश्री की प्रवचन शैली अत्यधिक चित्ताकर्षक थी। आगम के गहन रहस्यों को जब लोक-भाषा में प्रस्तुत करते थे तब जनता झूम उठती थी। आपकी मेघ गम्भीर गर्जना को सुनकर श्रोतागण चकित हो जाते थे। रात्रि के प्रवचन की आवाज शान्त वातावरण में दो मील से अधिक दूर तक पहुँचती थी। और जब श्रीकृष्ण के पवित्र चरित्र का वर्णन करते, उस समय का दृश्य अपूर्व होता था।

कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज श्रेष्ठ कवि थे। उनका उदय हमारे साहित्या-काश में शारदीय चन्द्रमा की तरह हुआ। उन्होंने निर्मल व्यक्तित्व और कृतित्व की शारदीय स्निग्ध ज्योत्सना से साहित्य संसार को आलोकित किया तथा दिग्दिगन्त में शुभ्र शीतल प्रभाव को विकीर्ण करते रहे। वे एक ऐसे विरले रस-सिद्ध कवियों में से थे, जिन्होंने एक ही साथ अज्ञ और विज्ञ, साक्षर-निरक्षर सभी को समान रूप से प्रभावित किया। उनकी रचनाओं में जहाँ पर आत्म-जागरण की स्वर लहरी

झनझना रही है, वहाँ पर मानवता का नाद भी मुखरित है। जन-जन के मन में आध्यात्मवाद के नाम पर निराशा का संचार करना कवि को इष्ट नहीं है, किन्तु वह आशा और उल्लास से कर्मरिपु को परास्त करने की प्रवल प्रेरणा देता है। पराजितों को विजय के लिए उत्प्रेरित करता है।

मुनिश्री की उपलब्ध सभी रचनाओं का संकलन "नेमवाणी" के रूप में मैंने किया है। नेमवाणी का पारायण करते समय पाठक को ऐसा अनुभव होता कि वह एक ऐसे विद्युत ज्योतित उच्च अट्टालिका के वन्द कमरे में बैठा हुआ है, दम घुट रहा है, कि सहसा उसका द्वार खुल गया है और पुष्पोद्यान का शीतल मन्द समीर का झौंका उसमें आ रहा है, जिससे उसका दिल व दिमाग तरो-ताजा बन रहा है। कभी उसे गुलाब की महक का अनुभव होता है तो कभी चम्पा की सुगन्ध का! कभी केतकी केवड़े की सौरभ का परिज्ञान होता है तो कभी जाई जुही की मादक गन्ध का।

प्रस्तुत कृति का निर्माण काल, संवत् १९४० से १९७५ के मध्य का है। उस युग में निर्मित रचनाओं के साथ आपके पद्यों की तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि आपके पद्यों में नवीनता है, मंजुलता है, और साथ ही नया शब्द-विन्यास भी! मुख्यत: राजस्थानी भापा का प्रयोग करने पर भी यत्र-तत्र विशुद्ध हिन्दी व उर्दू शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। सन्त कवि होने के नाते भापा के गज से कविता को नापने की अपेक्षा भाव से नापना अधिक उपयुक्त है।

नेमवाणी की रचनाएँ दो खण्डों में विभक्त हैं। प्रथम खण्ड में विविध विपयों पर रचित पद हैं, तो द्वितीय खण्ड में चरित्र है। प्रथम खण्ड में जो गीतिकाएँ गई हैं उनमें कितनी ही गीतिकाएँ स्तुतिपरक हैं। कवि का भावुक भक्त हृदय प्रभु के गुणों का उत्कीर्तन करता हुआ अघाता नहीं है। वह स्वयं तो झूम-झूम कर प्रभु के गुणों को गा ही रहा है, साथ ही अन्य भक्तों को प्रेरणा दे रहा है कि तुम भी प्रभु के गुणों को गाओ।

"नवपद को भवियण ध्यान धरो।
यो पनरिया यंत्र तो शुद्ध भरो····"

कवि सन्त हैं, संसार की मोह माया में भूले-भटके प्राणियों का पथ-प्रदर्शन करना उनका कार्य है। वह जागृति का सन्देश देता है—कि क्यों सोये पड़े हो? उठो! जागो! और अपने कर्त्तव्य को पहचानो! कवि के शब्दों में ही देखिए—जागृति का सन्देश—

"कुण जाणे काल का दिन की
या दिन की, तन की, धन की रे····
एक दिन में देव निपजाई
या द्वारापुरी कंचन की रे·······

अभिमान का काला नाग जिसे डस जाता है, वह स्व-रूप को भूल जाता है और पर-रूप में रमण करने लगता है, कवि उसे फटकारता हुआ कह रहा है—

"मिजाजी ढोला, टेढ़ा क्यों चालो छकिया मान में।
मदिरा का झोला,
जैसे तू आयी रे तोफान में॥
टेढ़ी पगड़ी वंट के जकड़ी,
ढके कान एक आँख।
पटा बंक सा विच्छु डंक सा,
रहा दर्पण में मुख झांक॥

आगमिक तात्विक बातों को भी कवि ने अत्यधिक सरल भाषा में संगीत के रूप में प्रस्तुत किया है। कवि गुणस्थानों की मार्गणा के सम्बन्ध में चिन्तन करता हुआ कहता है—

"इण पर जीवड़ो रे गुणठाणे फिरे॥
प्रथम गुणस्थाने रे मारग चार कह्या,
तीन चार पंच सातो रे।
गुण ठाणे दूजे रे मारग एक छे,
पड़ता पैले मिथ्यातो रे॥"

द्रव्य-नौकरी की तरह कवि भाव-नौकरी का वर्णन करता है—सम्यग्दृष्टि जीव से लेकर जिनेश्वर देव तक नौकरी का चित्रण करते हुए कवि लिखता है—

"काल अनन्ता हो गया सरे, कर्जा बढ़ा अपार।
खर्चा को लेखो नहीं सरे, नफा न दीसे लगार रे॥
अति मेंगाई घर में तंगाई, अर्ज करूँ तुम साथ।
दरबार सूं कुण मिलण देवे, बात मुसुद्दी हाथ।"

लौकिक त्योहार, शीतला का, कवि आध्यात्मिक दृष्टि से सुन्दर विश्लेषण करता है। शीतला का शीतल पदार्थों से पूजन होता है तो कवि क्षमा रूपी माता शीतला का पूजन इस प्रकार करता है—

"सम्यक्त रंग की मेंहदी है राची, थारा रूप तणो नहीं पार।
मद्दव रूप खर की असवारी, खूब किया सिणगार है॥
म्हारी भाव भवानी क्षम्या माता ए पूजूं शीतला।
दान सीतल तप भावना सरे, देव गुरु ने धर्म॥
शील शातम ये सातों पूजियां, तूटे आठों ही कर्म है।
म्हारी भाव भवानी क्षम्या माता ए पूजूं शीतला॥

स्थानांग सूत्र में वैराग्य-उत्पत्ति के दस कारण बताये हैं। कवि ने उसी बात को कविता की भाषा में इस रूप में रखा है—

"सुणो-सुणो नर-नार, वैराग उपजे जीव ने दश परकार।
ज्यारो घणो अधिकार, शास्त्र में ज्यारो है बहु विस्तार ॥
पहले बोले साधुजी रो दर्शन होय।
मृगापुत्र नी परे.......लीजोजी जोय ॥

इसी तरह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के आधार से आपने 'भरत पच्चीसी' का निर्माण किया जिसमें संक्षेप में सम्राट भरत के षट्खण्ड के दिग्विजय का वर्णन है।

दौलत मुनि हंस मुनि की कम्बल तस्कर ले जाने पर आपश्री ने भजन निर्माण किया, जिसमें कवि की सहज प्रतिभा का चमत्कार देखा जा सकता है।

पूज्यश्री पूनमचन्द जी महाराज के जीवन का संक्षेप में परिचय भी दिया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

निह्नव सप्तढालिया का ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। कवि मानवता का पुजारी है, मानवता के लिये विरोधियों पर उसकी वाणी अंगार बनकर बरसती है, अनाचार की धुरी को तोड़ने के लिए और युग की तह में छिपी हुई बुराइयों को नष्ट करने के लिए उनका दिल क्रान्ति से उद्वेलित हो उठा है। वे विद्रोह के स्वर में बोले हैं, उनकी कमजोरियों पर तीखे बाण कसे हैं और साथ ही अहिंसा की गम्भीर मीमांसा प्रस्तुत की है।

पक्खी की चौबीसी में अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक, और आगमिक कथाएँ दी गयी हैं और क्षमा का महत्व प्रतिपादन किया गया है। लोक कथायें भी इसमें आयी हैं।

नेम-वाणी के उत्तरार्द्ध में चरित्र कथाएँ हैं। क्षमा के सम्बन्ध में गजसुकुमार, राजा प्रदेशी, स्कन्दक मुनि और आचार्य अमरसिंहजी महाराज आदि के चार उदाहरण देकर विषय का प्रतिपादन किया है। दान, शील, तप और भावना के चरित्र में एक-एक विषय पर एक-एक कथा दी गयी है। नमस्कार महामन्त्र पर तीन कथाएँ दी गई हैं। महाव्रत की सुरक्षा के लिए ज्ञाताधर्मकथा की कथा को कवि ने बड़े ही सुन्दर रूप से चित्रित किया है। लंकापति रावण की प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर महारानी मन्दोदरी सीता के सन्निकट पहुँची। उसने रावण के गुणों का उत्-कीर्तन किया, किन्तु जब सीता विचलित न हुई और वह उल्टे पैरों लौटने लगी तब सीता ने उसे फटकारते हुए कहा—

"पाछी जावण लागी बोल वचन सुण अवको।
उभी रहे मन्दोदरी नार लेती जा लवको ॥
अब सुण ले मेरी बात राज जो रूठो।
थाने लाम्बी पहरासी हाथ हियो क्यों फूटो।
थारो अल्प दिनों को सुख जाणजे खूटो।

यो सतियों केरो मुख वचन नहीं झूठो।
मो वचन जो झूठो होय जगत् होय डवको ॥"

जब लक्ष्मण ने रावण पर चक्र का प्रयोग किया, उस समय का सजीव चित्रण कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि पढ़ते ही पाठक की भुजाएँ फड़फड़ाने लगती हैं। रणभेरी की गूंज, वीर हृदय की कड़क और कायर-जन की धड़क स्पष्ट सुनायी देती है। देखिए—

"लक्ष्मण कलकल्यो कोप में परजल्यो,
कड़कड़ी भीड़ ने चक्र वावे।
आकाशे भमावियो सणण चलावियो,
जाय वैरी नो शिरच्छेद लावे ॥
हरि रे कोपावियो चक्र चलावियो ॥"

जोधपुर के राजा की लावणी में क्रूर काल की छाया का सजीव चित्रण किया गया है। मानव मन में विविध कल्पनाएँ करता है और भावी के गर्भ में क्या होने वाला है, उसका उसे पता नहीं होता। चेतन चरित्र में भावना प्रधान चित्र हुआ है। वस्तुतः इस चरित्र में कवि की प्रतिभा का पूर्णरूप से निखार हुआ है। इसमें शान्तरस की प्रधानता है। कवि की वर्णन शैली आकर्षक है।

इस प्रकार कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज की कविता का भाव और कलापक्ष अत्यन्त उज्ज्वल व उदात्त है। जैन श्रमण होने के नाते उनकी कविता में उपदेश की भी प्रधानता है। साथ ही मानव-जीवन का चरमोत्कर्ष ही उनकी कविता का संलक्ष्य है। कविवर्य का जीवन साधनामय जीवन था और १९८५ वि० सं० में छीया का अकोला गाँव में आपका चातुर्मास था। शरीर में व्याधि होने पर संल्लेखना पूर्वक संथारा कर कार्तिक शुक्ला पंचमी को आप स्वर्गस्थ हुए। आपका विहार-स्थल मेवाड़, मारवाड़, मालवा, ढूंढ़ार प्रभृति रहा है।

आपश्री अपने युग के एक तेजस्वी सन्त थे। आपने विराट् कविता साहित्य का सृजन किया। आपकी कविता स्वान्तःसुखाय होती थी। आपने अपने व्यक्तित्व के द्वारा जैनधर्म की प्रबल प्रभावना की। आप दार्शनिक थे, वक्ता थे, कवि थे, और इन सबसे बढ़कर सन्त थे। आपका व्यक्तित्व और कृतित्व दिल को लुभाने वाला और मन को मोहने वाला था।

१०

चतुर्मुखी प्रतिभा के धनी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज

परम श्रद्धेय राजस्थान केसरी पूज्य गुरुदेवश्री पुष्कर मुनिजी महाराज स्थानकवासी जैन समाज के जाने-माने और पहचाने हुए एक महान सन्त रत्न हैं। उनका वाह्य व्यक्तित्व जितना नयनाभिराम है, उससे भी अधिक अन्दर का जीवन मनोभिराम है।

सद्गुरुदेव की वाह्य आकृति को देखकर दर्शक को अजन्ता और एलोरा की भव्य मूर्तियाँ सहज ही स्मरण हो आती है। विशाल देह, लम्बा कद, दीप्तिमान, निर्मल गौर वर्ण, प्रशस्त भाल, उन्नत शीर्ष, दीप्त खल्वाट, मस्तक, नुकीली ऊँची नाक, उन्नत वक्ष, प्रवल मांसल भुजाएँ, तेजपूर्ण शान्त मुख-मण्डल प्रेम-पीयूष वर्षाते हुए उनके दिव्य नेत्र को देखकर दर्शक मुग्ध हुए विना नहीं रहता। उसमें सागर का विस्तार है, पौरुष का समुद्र ठाठें मार रहा है एवं दूसरी ओर करुणा का मेघ वर्षण भी हो रहा है। पुरुषत्व और मसृणता का ऐसा पुंजीभूत व्यक्तित्व दूसरा देखने को मिलना कठिन है।

आप कभी भी उनकी मंजुल मुखाकृति पर निखरती हुई चिन्तन की दिव्य आभा, प्रभा देख सकते हैं। उदार आँखों के भीतर से छलकती हुई सहज स्नेह-सुधा का पान कर सकते हैं। वार्तालाप में सरस शालीनता, संयमी जीवन की विवेक विम्वित क्रियाशीलता, जागृत मानस की उच्छल संवेदनशीलता, उदात्त उदारता को परख सकते हैं। प्रेम की पुनीत प्रतिमा, सरसता सरलता की सुन्दर निधि दृढ़ संकल्प और अद्भुत कार्यक्षमता से युक्त गुरुदेवश्री का वाह्य और आभ्यन्तर व्यक्तित्व वड़ा ही दिलचस्प और विलक्षण है।

सरलता की प्रतिमूर्ति

श्रमण भगवान महावीर ने कहा कि सरलता साधना का महाप्राण है, चाहे गृहस्थ साधक हो, चाहे संयमी साधक हो, दोनों के लिए सरलता, निष्कपटता, अदंभता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। घृतसिक्त पावक के समान सहज सरल साधना ही

सोही उज्जूय भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तेव पावए ॥

सद्‌गुरुदेव नख से शिख तक सरल हैं, निर्दम्भ हैं। जैसे अन्दर हैं वैसे ही बाहर हैं, उनकी वाणी सरल है, विचार सरल हैं और जीवन का प्रत्येक व्यवहार भी सरल है। कहीं पर भी छुपाव नहीं है, दुराव नहीं है। टेढ़े-मेढ़े रास्ते से चलना वे साधना के लिए घातक मानते हैं। उनका स्पष्ट विचार है—"सरल बने बिना सिद्ध गति कदापि नहीं हो सकती।"

विनय की प्रधानता

सन्त जीवन में जिन सद्‌गुणों की अनिवार्य आवश्यकता है उसमें विनय भी प्रमुख गुण है। विनय को धर्म का मूल कहा है, तो अहंकार को पाप का मूल बताया है। जिस साधक को अहंकार का काला नाग डस लेता है वह साधना की सुधा पी नहीं सकता। अहंकार और साधना में तो प्रकाश और अंधकार के समान वैर है—'तेजस्तिमिरयोरिव'।

गुरुदेव का जीवन विनम्र ही नहीं, अति विनम्र है। आप श्रमण संघ के और अपनी भूतपूर्व परम्परा के वरिष्ट सन्त हैं, तथापि गुणीजनों का उसी प्रकार आदर करते हैं जैसे एक लघु सन्त करता हो। मुझे स्मरण है, परम श्रद्धेय उपाचार्य श्री गणेशीलालाजी म० के साथ श्रमण संघ के वैधानिक प्रश्नों को लेकर आपश्री का उनसे काफी मतभेद हो गया था। उपाचार्य श्री ने श्रमण संघ से व उपाचार्य पद से त्यागपत्र दे दिया था। पर जब आपश्री उदयपुर पधारे तब श्री गणेशीलालजी म० अस्वस्थ थे। आपश्री अपनी शिष्य मण्डली सहित वहाँ पधारे और सविधि वन्दन किया। गुरुदेवश्री की विनम्रता को देखकर श्री गणेशीलालजी म० का हृदय प्रेम से गद्‌गद् हो उठा और उन्होंने गुरुदेवश्री को उठाकर अपनी छाती से लगा लिया। यह है गुरुदेवश्री के जीवन में विनम्रता।

'विनम्रता ऐसा श्रेष्ठ कवच है, जिसे आज दिन तक कभी कोई छेद नहीं सका है' यह सूक्ति सर्वथा सत्य है।

दया का देवता

दया सधना का नवनीत है। मन का माधुर्य है। दया की सरस रसधारा से साधक का हृदय उर्वर बनता है और सद्‌गुणों के कल्पवृक्ष फलते हैं, फूलते हैं। सन्त दया का देवता कहा जाता है। वह स्व और पर के भेदभाव को भुलाकर वात्सल्य और दया का अमृत प्रदान करता है। सन्त का हृदय नवनीत से भी विलक्षण है। नवनीत स्वताप से द्रवित होता है किन्तु पर-ताप से नहीं, किन्तु सन्त-हृदय पर-ताप से ही सदा द्रवित होते हैं, स्व-ताप से नहीं।

श्रद्धेय सद्‌गुरुदेव का कोमल हृदय किसी दुःखी की करुण कथा को सुनकर ही द्रवित हो जाता है और स्वयं कष्ट सहन कर उसके दुःख को दूर करना चाहते हैं। श्रमणजीवन की अपनी एक मर्यादा है। उस मर्यादा में रहकर ही वे कार्य कर सकते हैं। गुरुदेव ने साधु मर्यादा में रहकर हजारों व्यक्तियों को दुःख से मुक्त किया है।

जप-साधना

जैन साधना पद्धति में जप का गहरा महत्व रहा है। वह आभ्यन्तर तप है। स्वाध्याय का एक प्रकार है। जप आधि, व्याधि और उपाधि को नष्ट कर समाधि प्रदान करता है। नियमित रूप से नियमित समय पर सद्‌गुरुदेव से सविधि महामन्त्र नवकार को लेकर यदि जाप किया जाय तो अवश्य ही सिद्धि मिलती है ऐसा सद्‌गुरुदेव का दृढ़ विश्वास है। वे स्वयं प्रतिदिन नियमित जाप करते हैं। वे भोजन की अपेक्षा भजन को अधिक महत्व देते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के जीवन में जप की साधना साकार हो उठी है। वे खूब रसपूर्वक जप करते हैं। और जो भी उनके सम्पर्क में आता है उसे भी वे जप की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे अपने प्रवचनों में भी अनेक बार फरमाते हैं कि अन्य मंत्र-तंत्रों के पीछे पागल होकर क्यों घूम रहे हो? महामन्त्र जैसा प्रभावशाली अन्य कोई मन्त्र नहीं है। एक निष्ठा एकतानता के साथ उसका जाप करो तो तुम्हें अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होगी।

जीवन और शिक्षण

जीवन में शिक्षा का वही महत्व है जो शरीर में प्राण का है। शिक्षा के अभाव में जीवन में चमक-दमक पैदा नहीं हो सकती। गति और प्रगति नहीं हो सकती। यूनान के महान दार्शनिक प्लेटो ने शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा—शरीर और आत्मा में अधिक से अधिक जितने सौन्दर्य और जितनी सम्पूर्णता का विकास हो सकता है उसे सम्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। अरस्तू ने कहा—जिन्होंने मानव पर शासन करने की कला का अध्ययन किया है उन्हें यह विश्वास हो गया है कि युवकों की शिक्षा पर ही राज्य का भाग्य आधारित है। एडिसन ने कहा—शिक्षा मानव-जीवन के लिए वैसे ही है जैसे संगमर्मर के पत्थर के लिए शिल्पकला। सद्‌गुरुदेव का मानना है कि विश्व में जितनी भी उपलब्धियां हैं उनमें शिक्षा सबसे बढ़कर है। शिक्षा से जीवन में सदाचार की उपलब्धि होती है। सद्‌गुणों के सरस सुमन खिलते हैं। दीक्षा के साथ शिक्षा भी आवश्यक है। यही कारण है कि आपने अपने शिष्यों व शिष्याओं को शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान की। उनकी शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था की। जिस युग में सन्त-सतीवृन्द परीक्षा देने से कतराता था, उस युग में आपने उच्च परीक्षाएँ दीं और अपने अन्तेवासियों से भी उच्च परीक्षाएँ दिलवाईं।

साहित्य और कला

साहित्य और कला मानव जीवन के लिए वरदान है। साहित्य और कला का सम्बन्ध आज से नहीं आदि काल से रहा है। जो साहित्यकार होगा वह कलाकार अवश्य होगा। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भारत के महान कवि भर्तृहरि ने साहित्य, संगीत और कला से विहीन व्यक्ति को साक्षात पशु कहा है।

सद्गुरुदेवश्री के साहित्य में कविता की गंगा, कथा की यमुना और निवन्ध की सरस्वती का सुन्दर संगम हुआ है। उनकी कृतियों में वाल्मीकि का सौन्दर्य है, कालीदास की प्रेपणीयता है, भवभूति की करुणा है, तुलसीदास का प्रवाह, सूरदास की मधुरता है, दिनकर की वीरता है और गुप्तजी की सरलता।

वे स्वयं साहित्यस्रष्टा तो हैं ही, पर साहित्यकार को पैदा करने वाले भी हैं। उनके अनेक शिष्य कलम के धनी हैं, जिन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में खुलकर और जम कर लिखा है।

आलोचक से प्यार

जिस व्यक्ति के विमल विचारों में गहनता, मौलिकता होती है, उन व्यक्तियों के विचारों की आलोचना भी सहज रूप से होती है। पर महान व्यक्ति उनकी ओर ध्यान न देकर अपने सही लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते हैं। गुरुदेवश्री का दृढ़ मन्तव्य है कि व्यक्तित्व निन्दा से नहीं, निर्माण से निखरता है। जो उनकी आलोचना करते या प्रशंसा करते हैं, वे दोनों से समान प्रेम करते हैं। उनके निर्मल मानस पर आलोचना और स्तुति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रशंसा करने वाले को वे कहते हैं—तुम्हारा स्नेह है इसलिए ऐसा कहते हो; और निन्दा-आलोचना करने वाले को कहते हैं—तुमने मुझे समझा नहीं है। तुम्हारा विरोध मेरे लिए विनोद है। अनुकूल परिस्थिति में मुस्कराने वाले इस विश्व में बहुत मिलेंगे, पर प्रतिकूल परिस्थिति में भी जो गुलाव के फूल की तरह मुस्करा सके वही महान कलाकार है। गुरुदेवश्री अपनी मस्ती में झूमते हुए कभी-कभी उर्दू के शायर का एक शेर सुनाया करते हैं—

मंजिले हस्ती में दुश्मन को भी
अपना दोस्त कर।
रात हो जाय तो दिखलावे
तुझे दुश्मन चिराग॥

कितना सुन्दर, कितना मधुर और कितना सन्तुलित है उनका विचार।

वाणी के जादूगर

चीनी भाषा के सुप्रसिद्ध धर्मग्रन्थ ताओ-उपनिषद् में एक स्थान पर कहा है,

"हृदय से निकले हुए शब्द लच्छेदार नहीं होते और लच्छेदार शब्द कभी विश्वास लायक नहीं होते।"

हृदय की गहराई से जो वाणी प्रस्फुटित होती है उसमें सहज स्वाभाविकता होती है जिस प्रकार कुएँ की गहराई से निकलने वाले जल में शीतलता भी सहज होती है, ऊष्मा भी सहज होती है और निर्मलता भी। जो वाणी सहज रूप से व्यक्त होती है वह प्रभावशील होती है। जो उपदेश आत्मा से निकलता है वह आत्मा को स्पर्श करता है, जो केवल जीभ से ही निकलता है वह अधिक प्रभावशील नहीं होता, हृदय को छू नहीं सकता, चूंकि उसमें चिन्तन, मनन और आचार का बल नहीं होता।

साधारण व्यक्ति की वाणी वचन है और विशिष्ट विचारकों की वाणी प्रवचन है। क्योंकि उनकी वाणी में चिन्तन, भावना, विचार और जीवन दर्शन होता है। वे निरर्थक बकवास नहीं करते, किन्तु जो भी बोलते हैं उसमें गहरा अर्थ होता है, तीर के समान वेधकता होती है। एतदर्थ ही संघदासगणी ने बृहतकल्प भाष्य में कहा है—

गुणसुट्ठियस्स वयणं घय सरिसित्तुव्व पावओ भवइ।
गुणहीणस्स न सोहइ नेहविहूणो जह पईवो।

गुणवान व्यक्ति का वचन घृत-सिंचित अग्नि के समान तेजस्वी और पथ प्रदर्शक होता है जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित दीपक की भाँति निस्तेज और अंधकार से परिपूर्ण।

श्रद्धेय सद्गुरुदेव जब बोलना प्रारम्भ करते हैं तब समस्त सभा मंत्र-मुग्ध हो जाती है। श्रोता का मन और मस्तिष्क उनकी प्रवचनधारा में प्रवाहित होने लगता है। आपकी वाणी में हास्य रस, करुण रस, वीर रस, और शान्त रस सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज रूप से होती है। आपको किञ्चित मात्र भी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। वक्तृत्व कला आपका सहज स्वभाव है। आपकी वाणी में मधुरता, सहज सुन्दरता है, भावों की लड़ी, भाषा की झड़ी और तर्कों की कड़ी का ऐसा सुमेल होता है कि श्रोता झूम उठते हैं। आत्मा, परमात्मा, सम्यक् दर्शन, स्याद्वाद जैसे दार्शनिक विषयों को सहज रूप से प्रस्तुत करते हैं। श्रोता ऊबता नहीं, थकता नहीं। आपका प्रवचन सुलझा हुआ, अध्ययनपूर्ण और सरस होता है। इसीलिए लोग आपको वाणी का जादूगर कहते हैं। किस समय क्या बोलना, कैसे बोलना और कितना बोलना यह आपको ध्यान है। आपके प्रवचनों में नदी की धारा की भाँति गति है और अग्नि-ज्वाला की तरह उसमें आचार-विचार का तेज व प्रकाश परिपुष्ट है। आपकी मधुर व जादू भरी वाणी से सामान्य जनता ही नहीं, किन्तु साक्षर व्यक्ति भी पूर्ण रूप से प्रभावित होते हैं। आप जहाँ भी जाते हैं वहाँ

प्रवचन करते हैं। भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। आपमें विचारों को अभिव्यक्त करने की कला गजब की है। आपकी वाणी में ओज है, तेज है और शान्ति है। वस्तुतः आप वाणी के कलाकार हैं।

सद्गुरुदेव के जीवन की हजार-हजार विशेषताएँ हैं, उन सभी विशेषताओं को अंकित करना सम्भव नहीं है। क्या कभी विराट समुद्र को नन्हीं सी अंजलि में भरा जा सकता है? फिर भी वाल सुलभमन समुद्र की विशालता को हाथ फैलाकर वताने का प्रयत्न करता ही है, ऐसा ही प्रस्तुत प्रयत्न मैंने किया है।

११
राष्ट्र का मेरुदण्ड : युव

युवक राष्ट्र का मेरुदण्ड है। वह साहस की धधकती हुई ज्वाला है। धर्म की धुरा का धारक है। वह संस्कृति का सन्देशवाहक है। वह मानव प्रकृति का वसन्त है। तरुण का तन मिट्टी का नहीं, वज्र का बना हुआ होता है। उसका मन हिमालय की तरह उन्नत होता है, और सागर की तरह व्यापक होता है। उसका तन ही नहीं, मन भी उदात्त चिन्तन को लिए हुए होता है। वह धर्म, सम्प्रदाय, समाज में आबद्ध होकर के भी किसी भी संकीर्ण घेरे में बद्ध नहीं होता। उसका कर्म रूपी रथ श्री कृष्ण के रथ की भांति निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना जानता है। कोई भी शक्ति उसके रथ को रोक नहीं सकती। चाहे कैसी भी कठिन परिस्थिति हो, वह हँसता और मुस्कराता हुआ आगे बढ़ता है। स्वयं साक्षात् मौत भी उसके सामने खड़ी हो, वह मौत से भी नहीं डरता। वह स्वयं हँसता है और जो भी उसके सन्निकट आता है, उसको भी हँसाता है। उसे स्वयं के सुख और दुःख की किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं होती। वह सतत् दूसरों के ही सुख और दुःख की चिन्ता करता है। उसके अन्तर्मानस की एक ही इच्छा होती है कि संसार के सभी जीव सुख के अनन्त सागर पर तैरते रहें; उनके जीवन को दुःख की काली आंधी कभी भी प्रभावित न करे।

युवक राष्ट्र का भाग्य निर्माता है। जब शैशव की स्फूर्ति-शौर्य का संस्पर्श पाती है तो वह कमनीय कल्पना के अनुसार निर्माण-कार्य में संलग्न हो जाती है और देखते ही देखते विश्व का कायाकल्प हो जाता है। विश्व के रंगमंच पर जब भी क्रान्ति की स्वर-लहरियाँ झंकृत हुई हैं, उसका सूत्रधार युवक रहा है। जिस राष्ट्र में युवाशक्ति प्रबुद्ध होती है, वह राष्ट्र अत्यन्त भाग्यशाली होता है। युवक, समाज व राष्ट्र का सच्चा एवं अच्छा सजग प्रहरी है।

वर्तमान युग जागरण का युग है। युवक शक्ति अंगड़ाई लेकर उठ रही है। उसके जीवन के कण-कण में शक्ति और स्फूर्ति तरंगित हो रही है। उसके मन में चिन्तन की निर्मल गंगा बह रही है। वाणी में मधुरता की यमुना प्रवाहित हो रही है और उसके कर्म में कर्त्तव्यनिष्ठा की सरस्वती का वज्र आघोष है। युवक शक्ति यदि चाहे तो नरक को रंगीन स्वर्ग में बदल सकती है और कांटों को फूलों के रूप में परिवर्तित कर सकती है। उसकी शक्ति अद्भुत है, अनोखी है और निराली है। कोई भी शक्ति उसकी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकती।

युवक की जगमगाती हुई विमल विचारधाराएँ सम्प्रदायवाद, गलत परम्परा व अन्धविश्वास से सदा मुक्त रही है। वह सदा ही खल-भाग का परित्याग कर रस-भाग को ग्रहण करती रही है। वह कभी भी कष्टों से घबराता नहीं, कष्टों की आंधी आने पर भी उसका जोश कभी कम नहीं होता। चाहे कितनी भी कठिनाईयाँ आवे, वे उसके मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकतीं। वह स्वर्ण की भांति कष्टों की धधकती हुई ज्वालाओं में गिर करके अधिक चमकता है, दमकता है। वह मुर्दे की तरह पड़ा रहना पसन्द नहीं करता है, और न रुग्ण व्यक्ति की तरह आठ-आठ आँसू बहाना उसे पसन्द ही है। उसके तन में ही नहीं, मन में भी गर्मी होती है। उसका रक्त खौलता हुआ होता है। इसीलिए वह संसार का नव निर्माण कर सकता है।

अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति श्री केनेडी ने युवक की परिभाषा करते हुए कहा है—"जो व्यक्ति खतरे को मोल लेना जानता है, और ले सकता है, वह युवक है। जो खतरों से घबराता है, वह बूढ़ा है। वह कुछ भी निर्माण कार्य नहीं कर सकता"।

बालक का तन भी निर्बल होता है और मन भी! वह न गहराई से चिन्तन कर सकता है और न कार्य ही! वृद्ध की चिन्तन शक्ति प्रबुद्ध होती है, किन्तु तन जर्जरित होने के कारण वह कार्य करने में सक्षम नहीं होता। उसके अन्तर्मानस में कार्य करने की प्रबल भावना होती है तो भी वह तन की निर्बलता के कारण कार्य नहीं कर पाता। पर युवक के तन में हनुमान की तरह शक्ति होती है। जिस शक्ति से वह असम्भव कार्य भी सम्भव कर लेता है। और उसका मन भी चिन्तन करने के लिए सक्षम होता है। तन और मन का सुमेल युवक में होता है। इसलिए उसके शब्दकोश में "असम्भव" शब्द नहीं होता। उदासीनता और खिन्नता उसके आस-पास में नहीं होती।

क्रान्ति और नव निर्माण की इस प्रभात वेला में युवक शक्ति से एक खतरा पैदा हो गया है और वह—असंयम, अनास्था, उच्छृंखलता, और अनुशासनहीनता, जिसके कारण उसकी जीवन दिशाएँ धुंधली पड़ गयी हैं। और सही मार्ग पर बढ़ने के लिए उसके कदम लड़खड़ा रहे हैं, डगमगा रहे हैं। युवक शक्ति की इस विषम परिस्थिति से विश्व के सभी भाग्य विधाता चिन्तित हैं। प्रत्येक राष्ट्र का युवक इस भयंकर झंझावात से घिरा हुआ है। प्रतापपूर्ण प्रतिभा के धनी युवा-चेतना को किस प्रकार अनुशासित बनाया जाय? उनमें किस प्रकार संयम, आस्था, और कर्त्तव्य-निष्ठा जागृत की जाय? उसके अदम्य शक्ति प्रवाह को, जो निर्वाण की दिशा में बह रहा है, उसे किस प्रकार निर्माण की दिशा में मोड़ा जाय? जिससे वह राष्ट्र का सही सृजन कर सकें। धर्म, नीति और संस्कृति की ज्योति को प्रदीप्त कर सकें।

जहाँ तक मैं समझा हूँ, युवक में आस्था भी है, जिज्ञासा भी है, धर्म,

दर्शन, साहित्य और संस्कृति को समझने की उसकी भावना भी है। क्षमता भी है। अतीतकाल में एक वीर अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के मैदान में यह जिज्ञासा प्रस्तुत की थी कि क्या कर्त्तव्य हैं और क्या अकर्त्तव्य हैं ? श्रीकृष्ण ने उसकी जिज्ञासाओं का समाधान दिया। आज के युवक वीर अर्जुन की भाँति जाज्वल्यमान समस्याएँ समुपस्थित करते हैं, पर अभिभावकगण या धर्मगुरु जो श्रीकृष्ण की भाँति हैं, वे उनकी समस्याओं का सही समाधान नहीं करते। उन्हें सही स्वरूप नहीं बताते, जिससे उनमें अनास्था, जागृत होती है और वह प्रतिशोध के रूप में प्रस्फुटित होती है। आवश्यकता है—युवकों की समस्याओं का सही समाधान किया जाय। उन्हें धर्म का मर्म बताया जाय। आत्मा-परमात्मा के गुरु गम्भीर रहस्यों को बताया जाय और साथ ही कथनी और करनी में एकरूपता लायी जाय, जिससे युवक में आस्था जागृत होगी, और धर्म के सही स्वरूप को समझकर वे उसे हृदय से अपनायेंगे।

मैं युवाशक्ति से एक बात कहना चाहूँगा कि तुम गुलाब के फूल की तरह हो, तुम में मनमोहक सौरभ है, तुम अपनी सौरभ से विश्व को आकर्षित कर सकते हो। किन्तु तुम्हारे जीवन में जो दुर्गुणों के काँटे हैं, जिसके कारण तुम्हारे सद्गुण रूपी फूल आच्छादित हो चुके हैं। आवश्यकता है—उन दुर्गुणों के काटों को हटाने की ! तुम्हारे जीवन में से दुर्गुण नष्ट हो जायेंगे तो तुम्हारा जीवन जन-जन के लिए मंगलमय होगा।

मैं आस्था और विचारशील युवकों को आह्वान करता हूँ कि तुम उस पुण्य धरती में पैदा हुए हो जिसकी आन, बान और शान निराली रही हैं, जहाँ के युवक देश के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए और धर्म के लिए हँसते और मुस्कराते हुए कुर्बान होते रहे हैं। तुम्हें भी वह आदर्श उपस्थित करना है। हे भारत के भाग्य विधाता युवको ! तुम आगे बढ़ो ! तुम आगे बढ़ोगे तो सभी आगे बढ़ेंगे।

"शुभास्ते सन्तु पन्थानः। भद्रन्ते भूयात् ॥"

श्री देवेन्द्र मुनि : एक परिचय

जैन तत्वविद्या के जाने-माने लेखक, सतत अध्ययनशील, चिन्तन-मनन-लेखन में लीन **श्री देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री** के नाम से प्रायः समग्र जैन समाज सुपरिचित है।

वि० सं० १९८९ उदयपुर में आपका जन्म हुआ।

नौ वर्ष की लघुवय में पूर्व संस्कारों से प्रेरित व वैराग्योद्भूत होकर राजस्थानकेसरी ध्यानयोगी गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के चरणों में प्रव्रजित हुए।

तीक्ष्ण प्रज्ञा व व्युत्पन्न मेधा बल से अल्प समय में ही संस्कृत, प्राकृत, दर्शन, न्याय, इतिहास व आगम आदि का तलस्पर्शी अध्ययन किया।

आपश्री की प्रज्ञा विवेचनाप्रधान और दृष्टि अनुसन्धान मूलक समन्वय प्रेरित है। आप किसी भी विषय पर लिखते हैं तो उसके मूल तक पहुँच कर सप्रमाण सयुक्तिक विवेचन करते हैं।

जैन दर्शन, इतिहास, योग, आगम, संस्कृति, आदि विषयों पर जहाँ आपने शोधप्रधान ग्रन्थों की सर्जना की है, वहाँ प्रवचन, जीवन चरित्र कथा, उपन्यास, रूपक, आदि विविध साहित्य-सुमनों की सुन्दर संयोजना में भी चमत्कृति पैदा की है।

अब तक छोटी बड़ी लगभग १५० पुस्तकों से अधिक का लेखन-सम्पादन कर साहित्य क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित कर दिया है।

स्वभाव से अतिविनम्र, मधुर और सरल गुणज्ञ और गुणि-अनुरागी सदा हँसमुख श्री देवेन्द्रमुनि जी जैन साहित्य के लेखकों की अग्रिम पंक्ति को सुशोभित करते हैं।